सहजानंद शास्त्रमाला

समयसार प्रवचन पंद्रहवां भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'समयसार प्रवचन पंद्रहवां भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

समयसार **आचार्य कुन्दकुन्द** द्वारा रचित आध्यात्मिक ग्रन्थ है. इस पर पूज्य वर्णीजी द्वारा अत्यन्त सरल भाषा में प्रवचन किये गये हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में समयसार ग्रन्थ की गाथा 372 से 415 तक के प्रवचन संकलित हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे |

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **प. अमितजी शास्त्री, गांधीनगर,** इन्दौर एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्रीमती प्रीति जैन,** इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी‘‘सहजानन्द’’ महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, ’सहजानन्द’ रहूँ अभिराम।।

अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय ..... - 2 -

आत्मकीर्तन ..... - 3 -

आत् मस्मरण ..... - 4 -

गाथा 372 7

गाथा 373 12

गाथा 374 15

गाथा 375 17

गाथा 376 20

गाथा 377 23

गाथा 378 24

गाथा 379 27

गाथा 380,381 29

गाथा 382 35

गाथा 383 38

गाथा 384 42

गाथा 385 45

गाथा 386 49

गाथा 387 51

गाथा 388 55

गाथा 389 64

गाथा 390 75

गाथा 391 80

गाथा 392 85

गाथा 393 86

गाथा 394.....87
गाथा 395.....88
गाथा 396.....91
गाथा 397.....91
गाथा 398.....94
गाथा 399.....95
गाथा 400.....98
गाथा 401.....99
गाथा 402.....99
गाथा 403.....101
गाथा 404.....103
गाथा 405.....111
गाथा 406.....113
गाथा 407.....114
गाथा 408,409.....116
गाथा 410.....120
गाथा 411.....121
गाथा 412.....124
गाथा 413.....130
गाथा 414.....133
गाथा 415.....145

समयसार प्रवचन पंद्रहवां भाग

संसारी जीवों की स्थिति -- जगत के प्राणी रागद्वेष की कठिन तरंगों से ताड़ित हुए दु:खी हो रहे हैं और ऐसी स्थिति में उनके दु:ख मिटाने की कोशिश तो होती है, किन्तु बाह्यदृष्टि को रख कर कोशिश होती है कि मुझे यह पीड़ा इसने दी है, इसका मैं विनाश करूं और जिसने मुझे ये विषय सुख पहुंचाये हैं उस से मैं प्रीति करूं। इस दृष्टि को रखकर बाहर में खोज की जा रही है। यह पता नहीं है कि वास्तव में मेरा सुखदायी कौन है और मेरा दु:खदायी कौन है? यद्यपि सभी जीव एक स्वरूप हैं, मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं। प्रत्येक जीव से कल्पना में सम्बन्धित परिजन अत्यन्त जुदे हैं वहाँ उनके भावों के अनुसार परिणमन होता है। कोई किसी में कुछ अपनी कला नहीं सौंप सकते हैं, फिर भी अपनी कल्पना से जिसे अपने सुख का कारण माना उसमें राग करने लगा और जिसे अपने दु:ख का कारण माना उससे विरोध करने लगा।

गुरु द्वारा भ्रान्तिनिवारण का यत्न-- आचार्य देव यहाँ समझाते हैं कि अरे भव्य पुरुषों ! जरा तत्वदृष्टि बनावो, रागद्वेष को उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। सर्व द्रव्यों की जो अवस्था बनती है वह उस ही द्रव्य के अन्दर विलसित होती है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अन्य समस्त पदार्थों से अत्यन्त भिन्न सत्त्व रखता है। एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इस ही रहस्य को पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रकट कर रहे हैं।

गाथा 372

अण्णदवियेण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पादो।

तम्हाउ सब्बदब्बा उप्पज्जंते सहावेण ।। 372।।

सिद्धान्त और भ्रम का कारण- अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुण का न तो उत्पाद किया जाता है और न विघात किया जाता है, क्योंकि समस्त द्रव्य अपने अपने भाव से ही उत्पन्न होते हैं। लोगों को भ्रम इस कारण हो जाता है कि एक द्रव्य के विभाव परिणमन में परद्रव्य निमित्तभूत हैं, सो हुआ तो वह बहिरंग निमित्तभूत क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा उपादानरूप अन्य द्रव्य का गुण नहीं उत्पन्न किया जाता है और न मेटा जाता, किन्तु इतने मात्र सम्बन्ध से आगे बढ़कर कर्तृत्व का भ्रम कर लिया जाता है। जैसे घड़े के बनाने में कुम्हार बहिरंग कारण है, तो बहिरंग कारण कुम्हार के द्वारा व इन चाकादिक के द्वारा मिट्टी में कोई गुण पैदा नहीं किया जाता है। मिट्टी का स्वरूप, मिट्टी का गुण किसी अन्य द्रव्य के द्वारा नहीं डाला जाता है। ये बहिरंग निमित्तभूत है अर्थात् कुम्हार अपने गुण मिट्टी में डालकर मिट्टीरूप बन जाय, ऐसा तो नहीं है । फिर मात्र निमित्त सम्बन्ध से आगे बढ़कर लोग कर्तृत्व का भ्रम कर डालते हैं।

पर के द्वारा पर के घात का अभाव — चेतन का अचेतन रूप से गुणघात या गुणोत्पत्ति नहीं होती। अचेतन का चेतनरूप से गुणोत्पाद अथवा गुणविघात नहीं होता क्योकि सभी द्रव्य अपने भाव से उत्पन्न होते हैं। जैसे वहाँ कुम्हार अपने भाव से परिणमन कर रहा है, चक्र-चीवरादिक अपनी परिणति से परिणमन कर रहे हैं और उस स्थिति में मिट्टी अपने आप की परिणति से बढ़ रही है, उसमें आकार बन जाता है, घर बन जाता है। यहाँ निमित्तनैमैत्तिक भाव का निषेध नहीं है, किन्तु कर्तृकर्मभाव एक दूसरे का रंच भी नहीं है। और इस वस्तुस्वातंत्र्य की दृष्टि से देखा जाये तो प्रत्येक निमित्त उदासीन है, बाहर–बाहर ही लोटता है, कोई प्रेरक नहीं है, पर निमित्त की क्रिया की विशेषतावों पर दृष्टि दी जाती है तो कोई निमित्त प्रेरक मालूम होता है, कोई निमित्त उदासीन मालूम होता है, पर जहाँ कार्य का प्रसंग है, परिणमन को देखा जा रहा है, वहाँ प्रत्येक द्रव्य उपादान से बाहर ही रहता है, और वह चाहे कोई भी क्रिया हो, उन की क्रियावों का उपादान में स्पर्श नहीं होता। इस कारण सब निमित्त उदासी निमित्त हैं।

विघातव्य विभाव— जितने भी कार्य होते हैं वे उपादान कारण के सदृश होते हैं। मिट्टी में जो कुछ बना वह मिट्टी की तरह बना या कुम्हार की तरह बना? मिट्टी की तरह बना। इससे यह सिद्ध है कि पंचेन्द्रिय के विषय रूप से उपस्थित ये शब्द रूपादिक केवल बहिरंग निमित्तभूत हैं, उनका आश्रय पाकर, लक्ष्य कर के अज्ञान से जीव के रागादिक उत्पन्न होते हैं तो भी वे रागादिक जीवस्वरूप ही हैं शब्दादिक रूप नहीं हैं चेतनस्वरूप हैं, अचेतन नहीं हो जाते। यह बात इसलिय समझायी जा रही है कि कोई नवीन शिष्य जिस के धर्म की धुनी तो आयी कि मैं धर्म करूं किन्तु धर्म का मर्म नहीं समझा है, वह तो नहीं जानता मुख्यता से कि मेरे चित्त में ही रागादिक उत्पन्न होते हैं और ये रागादिक ही मुझे पीड़ा देते हैं, मुझे इन रागादिकों का विलय करना है ऐसा तो नहीं जानते किन्तु, यों सोचते हैं कि ये बाह्य शब्द रूपादिक, परिजन आदिक विभावों को उत्पन्न करते हैं, इसलिए उनका घात करें, उनका विग्रह करें, वियोग करें। क्यों यह चित्त में नहीं आता कि मैं अपने आत्मा में उत्पन्न हुए रागादिक का विनाश करूं ?

परमार्थविरोध की विधातव्यता — किसी पुरुष पर गुस्सा आ जाता है तो यह भावना तो बनती है कि मैं पर का विनाश कर डालूं, पर यह भावना नहीं उत्पन्न होती है कि दूसरा पुरुष मुझे अपना विरोधी चाहे मान डाले, पर मैं न विरोधी मानूं। यह जो विभाव है वह बड़ा मलिन और अहितकारी है। मैं इस विभाव का विनाश करूं, ऐसा अपने आप पर जो दयाभाव नहीं लाता है उसको यह समझाया गया है कि अन्य द्रव्य का गुण अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता है, इसी कारण अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुण का विघात अथवा उत्पाद नहीं होता है। तू बाहर संग्रह विग्रह मत कर किन्तु निर्विकल्प समाधि का अनुराग कर के भेदविज्ञान के बल से उन बाह्य पदार्थों को अपने से न्यारा जानो। अपने आप में ही रागादिक भावों को दु:ख का कारण मान कर इन को दूर करो।

व्यामोह दृष्टि— भैया-यह अज्ञानी जीव कुत्ते जैसी दृष्टि बनाए हुए है। जैसे कुत्ते को कोई लाठी मारे तो वह लाठी को मुंह से चबाता है। इसमें इतनी अकल नहीं दौड़ती कि मैं इस लाठी मारने वाले पर हमला करूं इसी तरह इस अज्ञानी जीव को ये भाव कर्म पीड़ित करते हैं ये रागादिक परिणाम इसमें कष्ट उत्पन्न करते हैं, ऐसा ये उन कष्टों के बहिरंग कारण आश्रयभूत बाह्य पदार्थों का तो संग्रह विग्रह करता

है, किन्तु यह नहीं जानता कि मेरे पर आक्रमण करने वाला तो मेरा अज्ञान भाव है। ये दूसरे मनुष्य जो मुझ से अत्यन्त पृथक् है ये मेरे में क्या करते हैं ऐसा न जानकर अपने आप में अज्ञान बुद्धि से पर का संग्रह विग्रह कर के वासना बना डालता है।

भोगव्यामोहदृष्टि — इस अज्ञानी जीव के भोग के सम्बन्ध में भी कुत्ते जैसी दृष्टि है। जैसे श्वान कहीं से सूखी हड्डी पा ले तो उस हड्डी को मुँह में दबाकर एकांत में पहुंचता है और उस हड्डी को खूब चबाता है। उस के चबाने से कुत्ते की दाढ़ में से खून निकलता है, उस खून का कुछ स्वाद भी आता है तो वह मानता हैं कि मुझे इस हड्डी से सुख मिल रहा है और लोभ से उस हड्डी को वह एकान्त में ले जाकर चबाता है, उसे सुरक्षित रखता है और कर रहा है अपने मसूड़ों पर प्रहार। कोई दूसरा कुत्ता आ जाय तो वह गुर्राता है, यह मेरी हड्डी न छीन ले। इसी तरह संसार के जीव पाते तो हैं अपने आन्नद गुण के परिणमन में सुख, चाहे वह विकार परिणमन सही, किन्तु मानते हैं कि मुझे यह सुख अमुक विषय से आया। सो विषयभूत बाह्य पदार्थों का वह संचय करता है, उन की वृद्धि करता है और परदृष्टि कर कर के हैरान होता है। यह है अज्ञानी जीव की वृत्ति। उनके संबोधन के लिए पहिले जो कुछ वर्णन किया था उस ही के समर्थन के रूप में यह कहा जा रहा है कि अन्य द्रव्यों के द्वारा अन्य द्रव्य के गुण का उत्पाद अथवा विघात नहीं होता। इसलिये क्यों तू पर के संचय और विग्रह में लगा हुआ है ?

कर्ता कर्म की अभिन्नता— भैया ! व्यवहार में तो यह भेद कर दिया जाता है कि अमुख निमित्त ने अमुक उपादान में देखो यह कार्य किया ना, यह व्यवहार से तो भेद हो जाता है, पर उसका अर्थ भी परमार्थ से अविरोध करता हुआ होना चाहिए। निश्चय से देखा जाय तो जो कर्ता है वह ही कर्म होता है। कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं हैं। जीव में जो रागादिक होते हैं उन को परद्रव्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं। जीव में रागादिकों को परद्रव्य उत्पन्न कर सकें ऐसी रंच शंका न करना, क्योंकि अन्य द्रव्यों के द्वारा अन्य द्रव्यों के गुण का उत्पाद अथवा विघात किया ही नहीं जा सकता। सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं।

निमित्त स्वभाव से उपादान का अनुवाद - अच्छा बताओ भैया ! मिट्टी का घड़ा बन गया तो क्या वह मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से घड़ारूप उत्पन्न हुई? मिट्टी के स्वभाव से ही घड़ारूप बना अर्थात् उस घड़े में मिट्टी के स्वरूप की तन्मयता है या कुम्हार के स्वरूप की तन्मयता है? यदि वह मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से घड़ा रूप बन जाय तो बतावो घड़ा किस आकार का बनना चाहिये? जैसा फैलफुट कुम्हार है, ऊटपटांग हाथ फैलाए हुए, जैसा वह कुम्हार अपने निर्माण के प्रसंग में जिस आकार का है उस आकार का घड़ा बनना चाहिये और फिर इतनी ही बात नहीं हैं, उसमें जान भी आनी चाहिये, क्योंकि कुम्हार के स्वाभाव से घड़ा बना है ना । फिर तो खेल के बिच्छू न बनेगें, बिच्छु बनेंगे और दौड़ने लगेंगे, क्योंकि बनाने वाले आदमी के स्वभाव से वे सब उत्पन्न हो गए, किन्तु ऐसा तो नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से अन्य द्रव्य के परिणमन का उत्पाद नहीं देखा जाता है। ऐसी बात है ना। ध्यान में आया ना? हां। तब ऐसा मानो कि घड़ा कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होता, वह घड़ा मिट्टी के स्वभाव से ही

उत्पन्न होता है, क्योंकि अपने ही स्वभाव से द्रव्य के परिणमन का उत्पाद देखा जाता है। कोई भी पदार्थ अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर सकता।

भैया ! बहुत से लोग तो बड़ी अवस्था में और वृद्धावस्था में यह सोच कर दु:खी होते हैं कि मैंने तो इतना परिश्रम कर के पढाया लिखाया इस बेटे को और इतना धन सौंपा है, धनी बनाया है और आज यह हमारी बात नहीं मानता। इसका दु:ख ज्यादा है, बेटों का दु:ख कम है। तो यह दु:ख उन को मूढ़ता से होता है। यह पक्की बात है कि नहीं? पक्की बात है, क्योंकि बाप ने उस बेटे को नहीं पढ़ाया और न ही धनी बनाया, किन्तु पुत्र के पुण्य का उदय था जिस से यह बाप चाकर बनकर निमित्त बना था। अब कोई चाकर जो राजा का सेवक हो और वह अभिमान करे कि मैंने देखो राजा को इतनी तो सुविधाए दीं, इतनी तो राजा की मैं सेवा करता हूँ और यह मेरी ओर निहारता तक भी नहीं है तो वह सब अज्ञानता है। यदि वह यह बुद्धि रखे कि मैं तो एक अर्मूत ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ। यह तो केवल अपने भाव कर सकता है। इसने सारी जिंदगी भर केवल अपना परिणाम ही किया। इसके अतिरिक्त किसी अन्य चीज में उसका कुछ कर्तत्व नहीं होता, ऐसी बुद्धि रहे तो वृद्धावस्था में क्लेश नहीं रह सकते हैं।

प्राकृतिक व्यवस्था और ज्ञानभावना का फल— लोग सोचेंगे कि बड़ा उल्टा काम हो गया, यह आदमी पैदा होते ही बूढ़ा बनता, इसके बाद बनता बच्चा और मरते समय रहता जवान, तो क्योंजी, यह प्रस्ताव आप को मंजुर है ना? मंजूर होगा, पर ऐसा नहीं होता कि पहिले पैदा हो तो बूढ़ा हो, फिर मरते समय जवान रहे, ऐसा नहीं होता। यह तो बूढ़ा होकर मरता है। अब बूढ़ा होकर मरते समय वे बातें ज्यादा उपभोग में आती हैं जिन बातों में अपनी सारी जिन्दगी बितायी। तो यदि ज्ञानभावना में जिन्दगी व्यतीत हुई है तो वृद्धावस्था में ज्ञान भावना बढ़ेगी और मोहवासना में जिन्दगी बितायी है तो वृद्धावस्था में मोहवासना बढ़ेगी। अब बताओ मोहवासना में ही मरकर कौनसा वैभव लूट लोगे? और ज्ञानभावना सहित मरण हो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि अगला भव सम्पन्न और धार्मिक मिलेगा।

निजस्वभाव की अनुल्लंघनीयता — भैया ! अपने अपने स्वभाव का कोई द्रव्य उल्लंघन नहीं करता है। इस कारण जैसे कुम्हार घड़े को उत्पन्न करने वाला नहीं है इसी प्रकार बाह्य पदार्थ शब्दादिक जीव के रागादिकों को नहीं उत्पन्न करते, किन्तु जैसे मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से घड़ा रूप नहीं बनी है, अपने ही स्वभाव से घड़ा रूप बनी है, इसी प्रकार यह जीव विषयों के स्वभाव को छूता हुआ अपनी ही विभाव प्रकृति से रागादिक रूप बनता है, किसी दूसरे पर सुधार बिगाड़ का ऐहसान देना कोरा व्यामोह है। प्रत्येक दु:ख में अपने अपराध की दृष्टि जानी चाहिए । दूसरे के अपराध से कोई दूसरा दु:खी नहीं होता, परन्तु जैसे अपनी आंख का टेंट अपने को नहीं दिखता दूसरे के आँख की छोटी सी फूली भी खूब दिखती है, इसही प्रकार इस मोही जीव को अपने आप का अपराध नहीं दिखता है और दूसरे का अपराध हो अथवा न हो, अपनी भावना के अनुसार वे दूसरे के दोष दिखा करते हैं। पर यह निर्णय रखना कि मुझे जो भी क्लेश होता है वह मेरे ही अपराध से होता है। दूसरे के अपराध से नहीं होता है।

निमित्त से पृथक् उपादान का परिणमन— जब मैं दु:खी होता हूँ तब यह मैं आत्मपदार्थ अन्य द्रव्य के स्वभाव को न छूता हुआ केवल अपने ही परिणमन में तन्मय होता हुआ दु:खी हुआ करता हूँ। इसी

प्रकार समस्त द्रव्य अपने ही परिणमन पर्याय से उत्पन्न होते हैं, उनके विषय में जरा विचार तो करिये। क्या ये पदार्थ निमित्तभूत परद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं या अपने ही स्वभाव से उत्पन्न होते हैं? किसी मनुष्यने मान लो इस अंगुली को टेढ़ी कर दिया तो यह अंगुली अपने परिणमन से टेढ़ी हुई है या दूसरे के परिणमन से टेढ़ी हुई है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही भावों से अपना परिणमन किया करता है। तो जब निमित्तभूत उस द्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होता है तो अब यह दृष्टि लावो कि यह मैं आत्मा परद्रव्य का निमित्त मात्र पाकर अपनी ही अज्ञान कल्पना से अपने आप में अपने को दु:खी किया करता हूँ। दूसरा कोई दु:खी नहीं करता।

अज्ञानवृत्ति, निर्णय और शिक्षा— भैया ! जरा बच्चों के रिसाने को तो देखा करो,वे किसी मूल मुददे पर नहीं रिसाया करते हैं, वे तो जो मन में अटपट आया उसी में रिसाया करते है। इसी तरह ये अज्ञानी मोही अटपट जिस का कोई आत्मा से सम्बन्ध नहीं, ऐसी परवस्तुवों की घटनावों में रूसा करते हैं, राग किया करते हैं। परवस्तु के स्वभाव में देखो, उन की स्वतंत्रता निरखो। किसी द्रव्य के द्वारा किसी अन्य द्रव्य के गुण का न उत्पाद होता है न विघात होता है। यदि निमित्तभूत परद्रव्य में स्वभाव से यह उपादान उत्पन्न होने लगे तो निमित्तभूत परद्रव्य के आकार में ही इसका परिणमन होगा किन्तु ऐसा देखा ही नहीं जा रहा है। इससे यह मानना कि प्रत्येक पदार्थ निमित्तभूत परद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु अपने ही स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। इससे यह शिक्षा लेनी है कि मेरा मैं ही निर्माता हूँ ज्ञान भावना में रहूं तो ज्ञानमय सृष्टि होगी और अज्ञान भावना में रहूं तो अज्ञानमय सृष्टि होगी। अपना कुछ ध्यान न जाना, दूसरों के पीछे अपना विघात करना, आकुलता करना- ये सब अज्ञानमय सृष्टियां है। पर का तो कुछ किया नहीं जा सकता। यह तो मात्र अपने आप की सृष्टि रचता हुआ चला जाता है। अब कुछ विराम लें, इन झगड़ों को कम कर के अपनी ओर तृष्टि दें और अपने स्वरूप में विश्राम पायें।

वस्तुगत निर्णय— लोक में जितने भी पदार्थ हैं वे परिपूर्ण सत् हैं। सत्का लक्षण बताया है— उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत् । जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य से सहित हो उसे सत् कहते हैं। पदार्थ में स्वयं ऐसी प्रकृति पड़ी है कि वह प्रति समय उत्पन्न होते हैं और पूर्व पर्यायों का उनमें विलय होता है फिर भी वह शाश्वत ध्रुव रहा करते हैं। जब पदार्थ का ही इस प्रकार का स्वभाव है तो उसमें कोई दूसरा क्या करे? प्रत्येक पदार्थ जो विभावरूप परिणत हो रहे हैं वह निमित्तभूत परद्रव्य को छूते नहीं, उनका निमित्त मात्र पाकर अपने आप के परिणमन से परिणमते हैं। इससे यह निर्णय करना कि परद्रव्य जीव के रागादिक भावों का उत्पादक नहीं है। जब कोई परद्रव्य मेरे रागादिक भावों का उत्पादक नहीं है फिर मैं किस के लिये क्रोध करूं? जितने जो कुछ भी रागद्वेष उत्पन्न होते हैं उनमें दूसरों का रंच दूषण नहीं है। यह स्वयं ही वहाँ अपराधी है इस कारण दु:खी होता है।

मिथ्या आशय की क्लेशोत्पादकता— जिसकी ऐसी दृष्टि है कि दूसरे मुझे दु:खी करते हैं उसकी दृष्टि मिथ्या है। परद्रव्य परजीव को किसी भी प्रकार से दु:खी नहीं करता। हां दु:खी होने का आश्रयभूत हो सकता है, परन्तु जीव तो मेरे दु:खादिक में निमित्त भी नहीं होते। मेरे दु:ख आदिक परिणमनों में कर्मों का उदय निमित्त है और यह बाह्यविषय कल्पना के आश्रयभूत हैं, ज्ञेय हैं। परपदार्थ तो सदा ज्ञेय ही रह

पाते हैं किन्तु उनमें जब यह जीव कल्पना कर के अपने में इष्ट और अनिष्ट भाव बनाता है तो यह दु:खी होता है। तो यह जीव स्वयं ही अपराधी होता है और वहाँ अज्ञान का प्रसार होता है। सो कहते हैं कि अज्ञानभाव अस्त को प्राप्त हो और यह मैं तो बोध मात्र हूँ। जो जीव राग की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही निमित्त मानता है उस के शुद्ध ज्ञान विधुर हो गया है, जुदा हो गया है। अतएव उन की बुद्धि अंध हैं, वे मोहवाहिनी को कभी नहीं तैर सकते।

विकल्पों की अपनायत— भैया ! यह बात निश्चित हो चुकी है कि आत्मा का दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण अचेतन विषय कर्म और शरीर में नहीं हैं, बाह्य वस्तुवों की ओर दृष्टि देकर केवल अपना घात ही किया जा रहा है। जो लोग पर की ओर ही दृष्टि रखकर धर्मबुद्धि से पर का त्याग करते हैं वे भी अपना बचाव नहीं कर पाते हैं। उनका वहाँ भी घात हो रहा है। कोई परद्रव्य को अपनाने का विकल्प करता है और उस विकल्प को अपनाता है तो कोई परद्रव्य की तैयारी करने का विकल्प करता है और उस विकल्प को अपनाता है। परवस्तु तो आत्मा में थी ही नहीं, फिर दूर ही क्या होगी? केवल अपनाने का भाव करता था। सो पहिले परवस्तु को अपना मानने के विकल्प को अपनाता था, अब परवस्तु के त्याग के विकल्प को अपनाता व चीज जहाँ की तहां रही। थोड़ा बाहरी क्षेत्र का अन्तर पड़ा है।

उक्त कथन से शिक्षण— यहाँ उन मुग्ध पुरुष को समझाया जा रहा है कि मर्म की बात तो समझो बाह्य वस्तुवों का घात नहीं करना है, किन्तु अपने चित्त में रहने वाले रागादिक विकल्प दूर करने हैं। इन शब्दादिक विषयों में तेरा गुण या अवगुण नहीं है। तू उन विषयों की ओर क्यों आसक्त होता है या परवस्तु के संचय और विघात का विकल्प करता है? इस शिक्षा को विशेष वर्णन के साथ समझाने के लिए आचार्यदेव कहते हैं।

गाथा 373

णिंदिपसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति विविहाणि।

ताणि सुणिऊण तूसदि रूसदि अहं पुणो भणिदो।। 373।।

पौद्गलिक वचनों में रोष तोष क्यों – निन्दा के और स्तवन के वचन ये पुद्गलरूप हैं, ये नाना प्रकार के पुद्गल परिणमते हैं, उन को सुनकर तू ऐसा मानता है कि यह बात मुझ को कही गयी है और ऐसा मानकर तू रुष्ट होता हैं या तुष्ट होता है। बात तो बात की जगह है, अन्य पुरुष अन्य पुरुष की जगह है, यह सुनने वाला अपनी जगह है, किसी का किसी से मेल नहीं है, फिर भी यह अज्ञानी जीव ऐसा विकल्प बनाता है कि यह मुझ को कहा गया है अत: इन विकल्पों के कारण रुष्ट होता है, तुष्ट होता है। यह ऐब प्राय: सब मनुष्यों के घर कर गया हैं, विशेष क्लेश और है ही किस बात का? अमुकने यो बोल दिया, अमुकने यों कह दिया।

मलिनाशय व वचनविवाद— भैया ! पडौसियों में क्यों बात नहीं बनती है, उनका कुछ धन पैसे के लेने देने का हिसाब तो है नहीं किन्तु एक वचनों का झगड़ा है और हो भी और बातों का झगड़ा तो वे गौण

हैं। न कुछ हैं और बातों का झगड़ा मुख्य हो जाता है, इसने ऐसा कह क्यों लिया? हम तो तब गम खायेंगे जब इसका खपरा भी बिकवा लेंगे, ऐसी हठ बन जाती है। वह केवल बात बात का ही विवाद है। यह मूढ़ जीव समझता है कि मुझ को कहा गया है। क्यों समझता है ऐसा कि इसके अन्दर चोर पड़ा हुआ है, अपराध पड़ा है, इस कारण मानता है कि इसने मेरी प्रशंसा कर दी और इसने मेरी निन्दा कर दी।

भीतर का चोर— एक छोटी सी कथानक है कि दो चोर कहीं चोरी करने जा रहे थे। एक नये आदमी ने रास्ते में पूछा कि कहाँ जा रहे हो? कहा चोरी करने। इससे क्या होगा? दो मिनट में ही पराया माल अपना हो जायेगा। मुझे भी संग में ले लो। अब तीसरा भी साथ हो गया, पर उसे चोरी करने की कला मालूम न थी। सो तीनों घुस गये एक बुड्ढे के घर के बीचमें। उस बुड्ढे की आवाज सुनकर दो चोर तुरन्त भाग गए। इस तीसरे ने भागने की जगह न देखी तो ऊपर एक म्यारी पड़ी थी उस पर जाकर बैठ गया। बुड्ढे ने हल्ला मार दिया। पड़ौस के लोग इकट्ठे हो गए। पूछते हैं लोग कि वे चोर कहाँ से आए, कोई पूछता कि क्या गया? कोई पूछता कि कब मालूम पड़ा कि चोर आए हैं, कोई पूछता कि कहाँ से निकल गए? तो जैसे किसी त्यागी पुरुष से कम अकल वाले लोग पूछा करते हैं कहाँ से आये महाराज, आप का घर कहाँ है, आप की शादी हुई कि नहीं, कितने दिन रहेंगे कब जायेंगे, व्यर्थ की बातें पूछते हैं। अरे त्यागी से तो इतनी बात पूछो कि जितनी बात दूसरों से पूछने में न मालूम पड़े। अगर किसी और भाई से पूछने पर मालूम पड़ जाय कि महाराज कहाँ से आये तो महाराज से पूछने की क्या जरूरत है? तो जैसे अटपट बहुत से प्रश्नों का तांता लग जाता है इसी प्रकार उस बूढ़े से लोग व्यर्थ की बातें पूछें। सो वह खीझ गया और बोला कि हम क्या जाने, इसको ऊपर वाला जाने। उसका मतलब था ऊपर वाला याने भगवान। अब वह म्यारी पर बैठा हुआ तीसरा नया चोर कहता है कि हूं? ऊपर वाला ही क्यों जाने और जो दो साथ में आए थे वे क्यों न जाने? वह पकड़ा गया।

प्रवृति में निजवासना की प्रेरणा — तो जैसे उस बुढ़े ने कहा और उसने माना कि मुझे कहा, इसी तरह यह मनुष्य प्रशंसा करता है तो वह कहता है और कुछ, और यह मानता है कि मेरी प्रशंसा की, सो खुश होता है अथवा ऐसा सोचता है कि मेरी निन्दा की सो दु:खी होता है। लोग किसी को कुछ नहीं कहते, वे तो अपने कषाय की बात कहते हैं। जैसे विवाहमें छटांक भर बताशों के खातिर स्त्रियां सारी रात बड़ी तेजी से गीत गाती हैं, इतना परिश्रम करती है कि पसीने से लथपथ हो जाती हैं, मेरा दूल्हा बना जैसे राम, ऐसा गाती हैं। कोई बुद्धु दूल्हा हो तो कहो वह समझ जाय कि मेरी प्रशंसा स्त्रियां कर रही हैं तो कहो वह गले का गुञ्ज उतार कर दे दे। पर वे स्त्रियां कुछ नहीं कर रही हैं। वे तो छटांक आध पाव बताशों के खातिर इतना परिश्रम कर रही है। कहीं दूल्हा घोड़े से गिर जाय और उसकी टांग टूट जाय तो उन स्त्रियों की बलासे। सो यहाँ कोई किसी की प्रशंसा निन्दा नहीं करता है, पर सभी अपनी अपनी कल्पना से अपना भाव लगाते फिरते हैं। क्या कहा इसने, उसको समझता कोई नहीं है। जिसने प्रशंसा की उसमें कषाय है, स्वार्थ है, कृतज्ञता है, कुछ बात है इसलिए अपनी कषाय प्रकट की है। मुझे कुछ

नहीं कहा, ऐसा यथार्थ कोई नहीं समझता है। लोग तो अपने-अपने भावों के अनुसार उसका मतलब लगा बैठते हैं।

बहिरों का मनमाना अर्थ — एक बकरी चराने वाला गड़रिया छोटी-छोटी पहाड़ियों पर बकरी चरा रहा था। दोपहर के 12 बजे उसे घर रोटी खाने जाना था। एक मुसाफिर आता हुआ उसे मिला। सो बकरी वाला उस मुसाफिर से बोला कि ऐ मुसाफिर, तू दो घंटे के लिए हमारी बकरियां देखे रह, मैं घर से रोटी खा आऊं। मुसाफिर था बहिरा और भाग्य से वह बकरी चराने वाला भी बहिरा था। सो वह कुछ सेंस समझ गया कि घर रोटी खाने जाने को कहता है, सो वह बकरी ताकने बैठ गया। दो घंटे के बाद में वह आ गया। सोचता है कि मुसाफिरने मेरी बड़ी खिदमत की। अब इसे एवज में हमें क्या देना चाहिये? कोई ज्यादा सेवा तो की नहीं, दो घंटे बैठा ही रहा सो एक टांग टूटी बकरी थी कहा कि इसे दे दें। टूटी टांग वाली बकरी का कान पकड़ कर मुसाफिर को देने लगा कि यह ले लो, तो मुसाफिरने जाना कि यह बकरी वाला कह रहा कि तुमने हमारी बकरी की टांग क्यों तोड़ी? तो मुसाफिर बोला कि वाहरे वाह, हमने दो घंटे तुम्हारी बकरियां ताकीं और फिर भी हम से कहते हो कि बकरी की टांग क्यों तोड़ी। बकरी वाला भी बहिरा था, सो उसने समझा कि यह कह रहा हैं कि मैं टूटी टांग वाली बकरी क्यों लूं मैं तो अच्छी बकरी लूँगा तो बकरी वाला बोला कि वाह अच्छी बकरी देने लायक श्रम तुमने नहीं किया हम तो लूली ही बकरी देंगे। दोंनो में झगड़ा होने लगा। तो कहा अच्छा चलो दूसरे के पास न्याय करा ला। सो दोनों चले।

उन दोनों को याने गड़रिया व पथिक को रास्ते में एक मिला घुड़सवार। भाग्य से घुड़सवार भी बहिरा था। सो दोनों ने अपनी-अपनी फरियाद की। मुसाफिर बोला कि दो घंटे तो हमने इसकी बकरी तांकी और यह कहता है कि तुमने हमारी बकरी की टांग तोड़ दी। तो बकरी वाला कहता है कि आखिर दो घंटे बैठा ही तो रहा, इसे मैं अच्छी बकरी कैसे दे दूं? तो घुड़सावरने यह समझा कि वे कहते हैं कि तुम यह घोड़ा चुरा लाये हो। तो वह कहता है कि भगवान की कसम ! घोड़ा हमारा खरीदा हुवा भी नहीं है, मेरी घर की घोड़ी से ही पैदा हुआ यह बछेड़ा है, मैने नहीं चुराया है। भगवान की कसम तो सस्ती होती है, जल्दी में हर एक कोई बोल देता है। अब तीनों में लड़ाई होने लगी। तो तीनों बोले कि चलो चौथे के यहाँ निपटारा करें।

अब वे तीनों गये गांव । सो एक पटेल के पास पहुंचे। क्योंकि गाँव का मुखिया पटेल होता है। तीनोंने अपनी अपनी फरियाद शुरू की। भाग्य से वह पटेल भी बहिरा था, उसी दिन उस के घर लड़ाई हो गयी थी। सो तीनोंने अपनी-अपनी बात कही। पटेलने यह जाना कि हमारे घर में लड़ाई हो गई है सो ये सुलह करा रहे हैं। सो पटेल डंडा उठाकर बोला कि यह तो हमारे घर का मामला है, तुम लोग फैसला करने वाले कौन होते हो? सो जैसे बहिरे लोग दूसरे की बात तो ठीक-ठीक सुन नहीं सकते और कल्पनावों से अर्थ लगाकर अपनी चेष्टा करते हैं, इसी प्रकार यह अज्ञानी जीव दूसरे की बात सही तो सुन नहीं पाते कि ये क्या कह रहे हैं? यह बात ठीक तौर से अज्ञानियों को सुनाई नहीं देती है और

अपनी कल्पना के अनुसार वे अर्थ लगा बैठते हैं। की तो दूसरे ने है निन्दा और मान बैठते हैं प्रशंसा की है।

प्रशंसा के भेष में निन्दा की अगवानी — जैसे कोई कहता है कि फलां सेठ साहब का क्या कहना है, उनके चार लड़के हैं—एक मास्टर है, एक डाक्टर है, एक कलेक्टर है और एक मिनिस्टर है। ऐसा सुनकर सेठजी खुश होते हैं कि इसने मेरी प्रशंसा की और की गई है इसमें सेठजी कि निन्दा कि सेठजी के लड़के तो इतने ओहदों पर हैं और सेठजी कोरे बुद्धू हैं। इसी तरह किसी ने कहा कि देखो फलाँ सेठजी की हवेली कितनी सुन्दर है। इसको सुनकर सेठ प्रसन्न होता है कि इसने हमारी प्रशंसा की और हो गई इसमें निन्दा याने ये जनाब ऐसे तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं कि इन के मकान की कर्तृत्वबुद्धि लगी है, ये यह मानते हैं कि मैने मकान बनवाया, सो वे तो बेवकूफी का समर्थन करने आए हैं लेकिन मानते हैं कि इन्होनें मेरी स्तुति की है अथवा कोई किसी प्रकार स्तुति करे, उसमें दूसरोंने केवल अपने आप में बसी हुई कषाय को ही प्रकट किया है और कुछ नहीं किया। इसी तरह ये अज्ञानी जीव मानते हैं कि इसने मेरी निन्दा की है। अरे दूसरेने निन्दा नहीं की है, या तो प्रशंसा की है या ठीक रास्ते पर लाने के लिए शिक्षा दिया है, किन्तु यह अज्ञानी जीव अपनी कल्पना के अनुसार अर्थ लगाकर रुष्ट होते हैं।

संसार के अयोग्य — किसी ने अगर कह दिया कि तू नालायक है तो इसे सुनकर तो उसे धन्यवाद देना चाहिए। क्योंकि वह तो कह रहा है कि हम जैसे बेवकूफों की गोष्ठी के लायक तू नहीं है। तू तो तपस्वी, मोक्षमार्गी है, तू हम जैसे मोही लोगों के बीच में रहने लायक नहीं। ऐसे नालायक तो मोक्षमार्गी जीव होते हैं वे यहाँ रहने लायक नहीं हैं। यहाँ से चलकर मोक्ष में बिराजते हैं। पर यहाँ तो उसका अर्थ यह लगाते हैं कि मेरी निन्दा की अथवा किसी बात को बोलकर कुछ अपराध भी बताता हो कोई, तो वहाँ केवल वह शिक्षा दे रहा है, तुम्हारा छीन क्या लिया ?

निन्दक की उपकारशीलता— भैया ! दूसरे की निन्दा करने वाले ने दूसरे की तो की नरक से रक्षा और खुद उसके एवज में वह नरक में चला जानेको, अपने को दुर्गति में भेजने को तैयार हो गया, सो यह उसका कितना बड़ा उपकार है, पर उसको सुनकर ये अज्ञानी व्यामोही जीव ऐसा अर्थ लगाते हैं कि यह मुझ को कहा गया है और ऐसा जानकर किसी बात पर रुष्ट होते हैं और किसी बात पर संतुष्ट हो जाते हैं, किन्तु ऐसा करना अज्ञान का ही विपाक है। अरे उन परद्रव्योंमें, उन शब्दादिक के विषयों में तेरा कुछ भी नहीं है। उन विषयों के खातिर तू अपना घात क्यों कर रहा है? तू अपने स्वरूप को देख और स्वरूप में ही रमने का यत्न कर के अपने अमूल्य समय को सफल कर।

गाथा 374

पोग्गलदव्वं सद्दत्त परिणयं तस्स जइ गुणो अणण्णो।

तम्हाण तुमं भणिदो किंचिवि किं रूससि अबुद्धो।। 374।।

भाषावर्गणा के स्कन्ध— जबकि शब्दरूप से परिणत हुए पुद्गल द्रव्य व उस के गुण भिन्न ही हैं तो उस शब्द द्वारा तुम नहीं कहे गये, फिर अज्ञानी बनकर क्यों रोष करते हो? लोक में भाषावर्गणा जाति के पुद्गल द्रव्य हैं, उनका अनुकूल संयोग वियोग होने पर वे शब्दरूप परिणत हो जाते हैं। यदि मुँह, कंठ, ओंठ, जीभ जैसे लचकदार हैं उस तरह के कार्य कर सकने वाले कोई अंग बनाए जा सकते होते तो उस के प्रयोग से भी ये शब्द निकाले जा सकते हैं। जैसे कि ये कण्ठ, तालु, ओठ आदि के सम्बंध से और श्वास के सम्बन्ध से शब्द निकलते हैं, वे भाषावर्गणा जाति के शब्द हैं। जो पुद्गल स्कन्ध हैं, वे अपने आप में हैं, अपने में परिणत होते हैं, उनमें तुम कुछ भी नहीं कहे गए, फिर क्यों कल्पना करते हो कि मुझे अमुकने यों कह दिया । अरे तुम्हें तो यहाँ कोई जानने वाला भी नहीं हैं, फिर तुम्हारे लिए कोई क्या कहे और ये शब्द तो अचेतन हैं, ये तो किसी को कहेंगे ही क्या? ये तो शब्द हैं।

शब्दों का आशयवश अर्थ – जैसे इंजन चलता है तो उस से आवाज आती है, अभी यहीं से सुबह गाड़ी जाती है तो चलते हुए में हमें ऐसी आवाज लगती है कि यह कहती है कि ''हम का कत खुद को देखो'' ऐसी आवाज निकलती हुई मालूम होती है। हम उस इंजन से कोई और कुछ अर्थ लगाते हैं। बड़े इंजिन की आवाज का अर्थ जबलपुर के लोग लगाते हैं कि जबलपुर के छै छै पैसे। तो जिसकी जैसी भावना है वैसा ही वह अर्थ निकाल लेता है। तो गाली देने वाले ने तो अपने भीतर की पोल जाहिर की है। उसने तुम्हें कुछ नहीं कहा। उसमें जो वासना भरी है, कषाय भरी है उसको उगला है। तो तुम क्यों उन शब्दों को सुनकर रोष करते हो? नाम का संस्कार इन जीवों में घना पड़ा हुआ है कि यद्यपि नाम में कुछ धरा नहीं है, वे अक्षर ही हैं, यहाँ के वहाँ जोड़ दिये गए हैं पर उसमें तो लोगों को अपनी मूर्ति दिखाई देती है कि यह मैं हूँ। मुझ को अमुकने यों कह दिया। अरे वह बेचारा स्वयं संसार में रुलने वाला अज्ञानी है, वह तो मुझ आत्मतत्त्व को जानता ही नहीं है। वह मुझे क्या कहे?

स्वरूप की संभाल बिना सर्वत्र विपत्तियां – भैया ! अपने स्वरूप की जब संभाल नहीं है तो चारों ओर से संकट घिर जाते हैं, और अपने स्वरूप की संभाल है तो कोई संकट नहीं है। जिसे आप कठिन से कठिन परिस्थिति कहते हो, टोटा पड़ जाय, घर बिक जाय, घर का कोई इष्ट गुजर जाय, मित्रजन विपरीत हो जाए, रिश्तेदार मुँह न तकें, और और भी बातें लगा लें, जो भी खराब से खराब परिस्थिति यहाँ मानी जाती है तो सब को लगालो। उस समय भी यदि इस जीव को सबसे निराले ज्ञानमात्र अपने स्वरूप की खबर है तो वहाँ उड़द की सफेदी बराबर भी संकट नहीं है और बहुत अच्छी से अच्छी स्थिति लगा लो, आमदनी भी है, लोगों में इज्जत भी है, मकान भी है, मित्र भी आते हैं, बन्धु भी लाला लाला कह अपनी जीभ सुखाते हैं और अच्छी से अच्छी परिस्थिति मान लो, उसमें भी यदि ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व की संभाल नहीं है तो बाहर में कुछ भी सोचने से संकट न टल जायेंगे। इतना तो सोचते ही हैं कि अभी तो इतना ही है, इतना और होना चाहिए था। बस इतना ख्याल आया कि संकटों में पड़ गया। तो यह बाह्य पदार्थ, बाह्य शब्द, बाह्य परिणमन ये कुछ भी नहीं कहते हैं तुमको। तुम स्वयं अज्ञानी बनकर व्यर्थ में रोष करते हो और भी देखो—

गाथा 375

असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव।

ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्दं।।375।।

शब्द व आत्मा का परस्पर अनाग्रह — लोक के मंतव्य में माने जाने वाले ये शुभ और अशुभ शब्द तुम को कुछ प्रेरणा नहीं करते कि तुम हम को सुनो, खाली क्यों बैठे हो? और न यह आत्मा अपने स्वरूप से चिगकर उन शब्दों को सुनने के लिए उन को ग्रहण करता है या उनके पास पहुंचता है। शब्द शब्द में परिणत होते हैं, जीव जीवपरिणाम में परिणत होता है, फिर क्यों यह अज्ञानता की जा रही है कि यह मान लिया कि इसने मुझे यों कहा। किसी से विरोध हो और वह भली भी बात कहे तो इसे ऐसा लगता है कि हम से मजाक किया। तो यह तो जैसा अपना उपादान है उस के अनुसार इन बाह्य विषयों में कल्पना करता है और दु:खी होता है। जैसे यहाँ कमरे में रहने वाली चीजें मान लो रात्रि के समय टेबुल, कुर्सी, मेज आदि ये सब पड़े हुए हैं तो क्या ये बिजली के बल्ब के साथ कभी लड़ाई करते हैं कि हम तो अंधेरे में पड़े हैं तुम क्यों बेकार बैठे हो? जलते क्यों नहीं हो? किसी ने यदि ऐसी लड़ाई देखी हो तो बतलावो।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञेय ज्ञाता का परस्पर अनाग्रह— ये बाह्यपदार्थ इस दीपक को प्रकाशित करने के लिए कभी प्रेरणा नहीं करते और यह दीपक भी अपने स्थान से च्युत होकर इन मेज, कुर्सी आदिक को प्रकाशित करने के लिए नहीं आता है। क्या कभी देखा है कि यह बल्ब कभी किसी पदार्थ से कहता हो कि अब उठो, अब मैं जल गया हूँ, अंधेरा अब नहीं रह गया है? लोक व्यवहार में जैसे कि कुछ दिखता है कि अमुक पुरुषने अमुक पुरुष को हाथ पकड़कर झंकोर कर कहा कि तुम यह काम करो। जैसे यहाँ दूसरे को कोई प्रेरणा करता है इसी प्रकार मेज, कुर्सी आदिक दीपक को कभी प्रेरणा करता है क्या कि उठो अब उजेला हो गया है? और जैसे व्यवहार में ऐसा मालूम होता है कि चुम्बक पत्थर के कारण खिंची हुई लोहे की सूइयां जैसे अपना स्थान छोड़कर चुम्बक के पास पहुंच जाती हैं इस तरह दीपक अपना स्थान छोडकर प्रकाश्य पदार्थों की तरफ नहीं पहुँचता है। क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा दृढ़तम है कि किसी पदार्थ का स्वभाव किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। कोई किसी दूसरे को उत्पन्न नहीं कर सकता।

ज्ञेयज्ञातृत्व सम्बन्ध में विकार का अनवकाश — तब फिर भैया ! जैसे यहाँ यह बात है कि चाहे मेज कुर्सी पड़े हों, तो जब दीपक या बिजली जलती है तो वे अपने स्वरूप से प्रकाशमान् होते रहते हैं। और चाहे बहुत सी चीजें पड़ी हों तो यह दीपक अपने ही स्वरूप से प्रकाशमान् होता है। अब यह एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की बात है कि अपने ही स्वरूप से प्रकाशमान् इस दीपक का निमित्त पाकर ये मेज कुर्सी आदिक पदार्थ प्रकाश में आ गए। जो आज अच्छे बने हैं जिन की शकल सूरत ठीक है, सुहावने हैं या असुहावने हैं यह सब उन पदार्थों की परिणति से उनका आकार है। कहीं प्रकाश में आ

जाने से ये प्रकाश्य पदार्थ उस दीपक में कोई विकार नहीं उत्पन्न करते। गोल घड़े को दीपक ने प्रकाशित कर दिया तो क्या दीपक भी उसकी तरह गोल बन गया या काली मेज को प्रकाशित करदें तो क्या बल्ब काला बन गया? ये प्रकाश्य पदार्थ प्रकाशक में रंच भी विकार नहीं कर सकते। इस ही प्रकार ये कर्ण में आए हुए शब्द इस आत्मा के द्वारा ज्ञेय ही तो हुए, आत्मा में ये विकार कैसे कर देंगे ?

विकारों का कारण अज्ञानभाव— यह आत्मा की स्वयं की कला की ओर से कहा जा रहा है। इन शब्दोंने इस आत्मा से यह जबरदस्ती नहीं की कि तू हमें सुन और सुन कर के गड़बड़ बन जा, ऐसी प्रेरणा नहीं की, और यह आत्मा भी अपने ज्ञानस्वरूप को छोड़कर शब्द में घुलमिल नहीं गया, किन्तु ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि आत्मा में ज्ञानप्रकाश का निमित्त पाकर ये विषय ज्ञेय बन गए। अब ज्ञेय बनते हुए ये विषय इस ज्ञान के विकार के लिए कल्पित नहीं हैं, विकार नहीं कर सकते, फिर भी जो विकार हो रहे है वे इस जीव के अज्ञानभाव के कारण हो रहे हैं। कोई दूसरा पदार्थ हमारी समझ में आया इसलिए विकार बन गया ऐसा नहीं है।

आशय के अनुसार गुणदोषग्राहिता —एक बार एक राजाने मंत्री से कहा कि मंत्री यह तो बतावो कि मेरे राज्य में गुणग्राही कितने हैं और दोषग्राही कितने हैं? मंत्री बोला कि महाराज आप के राज्य में सभी तो गुणग्राही हैं और सभी दोषग्राही हैं। राजा बोला यह कैसे? जो गुणग्राही है वह दोषग्राही कैसे हो सकता है और जो दोषग्राही है वह गुणग्राही कैसे हो सकता है। मंत्रीने कहा अच्छा हम आप को एक हफ्ते में इस बात को समझा देंगे। मंत्री ने एक से ही 2 चित्र बनवाये, मान लो किसी पुरुष के वे दोनों चित्र बड़े सुन्दर सुडौल, सुहावने थे। पहिले दिन एक चित्र को घंटाघर के पास रख दिया और एक सूचना लिख दी कि जिस मनुष्य को इसमें जो दोष दिखता हो उसपर निशान लगा दे और नीचे अपने हस्ताक्षर कर दे। देखने वाले पहुंचे, सूचना पढ़ी। देखने लगे कि इसमें क्या दोष है? किसी ने देखा कि इसकी नाक ठीक नहीं बनी, निशान लगा दिया और अपने हस्ताक्षर कर दिये। इसकी आंख ठीक नहीं बनी है, निशान लगा दिया और हस्ताक्षर कर दिये। इसकी एड़ी ठीक नहीं बनी है, निशान लगा दिया और अपने हस्ताक्षर कर दिये। इस तरह से वह पूरा चित्र भर गया।

अभाव के बाद गुणग्रहिता की प्राकृतिकता— तीन दिन के बाद दूसरा चित्र टांग दिया, सूचना लिख दी कि इस चित्र में जिस को जहाँ पर जो भाग अच्छा लगता हो वह उस जगह निशान लगादे और अपने हस्ताक्षर कर दे। देखो कि ये आँखें इसकी बड़ी सुन्दर हैं, निशान लगा दिया और हस्ताक्षर कर दिये। नाक इसकी बड़ी सुन्दर है, ऐडियां इसकी बड़ी सुन्दर हैं, निशान लगा दिया और अपने हस्ताक्षर कर दिये। इस तरह से वह भी सारा चित्र भर गया। 7वें दिन कहा महाराज देखो यह ही पुरुष इस अंग का दोषग्राही है और यही पुरुष इस अंग का गुणग्राही है। राजाने सोचा कि यह मामला क्या है? मंत्री ने कहा कि महाराज जिस का दोष देखने का आशय होता है उसे गुण भी दोष दिखा करते हैं और जिस का गुण देखने का आशय होता है उसे गुण ही गुण दिखते हैं।

कषाय में हैरानी — भैया ! जगत में यही तो हैरानी है। जब तक कोई अपने बीच में है तब तक उस के गुण देखने की ओर किसी की दृष्टि ही नहीं जाती है और जब वह गुजर जाता है तब उस के गुण

समझ में आते हैं। देखलो जब गांधी जी जिन्दा थे तब उनके जीवन काल में लोग कितनी ही बातें कहा करते थे, यह ऐसा करते हैं तो यह नुकसान होता है, इससे यह नुकसान होता है, यह यों गलती करते हैं। ऐसी ही बातें नेहरू के प्रति भी हैं। जब तक जिन्दा थे लोग दसों ही बाते कहते थे—यह ये गलती कर रहे हैं। पर जब वह गुजर गए तब लोगों को पता चला कि ओह विश्वभर में नेतृत्व था नेहरू का, विश्व भर में नेतृत्व था गांधी का। नेहरू भारत के ही नहीं बल्कि अन्य देशों के भी मार्गदर्शक थे। तो जब दोष ग्रहण करने का उदय होता है तो दोष देखने में आते हैं और जब गुण ग्रहण करने का उदय होता है तो गुण देखने में आते हैं।

बेमेल सगाई— ये शब्द हमें प्रेरणा नहीं करते कि तुम क्यों खाली बैठे हो, और यह आत्मा भी उन शब्दों को सुनने के लिए नहीं जाता, किन्तु आत्मा के साथ ज्ञान ज्ञेय का सम्बन्ध है, फिर क्यों यह जीव अज्ञानी बन कर उन शब्दों के खातिर रोष व तोष करता है। देखो यह अध्यात्म का चरुणानुयोग ही भरा हुआ है। क्यों उन विषयों में अपना घात करते हो? इस विषय को बहुत लम्बे समय से बताया जा रहा है कि तुम्हार कोई सम्बन्ध ही जब इन विषयों से नहीं है तो क्यों उन से सगाई करते हो? सगाई मायने स्वकीयता, स्व मान लेना। सगाई स्व शब्द से बनी है। अपना मान लिया। अभी शादी नहीं हुई। सगाई का अर्थ है कि परवस्तु को अपनी मान लेना और शादी का अर्थ है खुश होना। शादी शब्द विषाद से निकला है। शादी मायने दु:ख, विशाद मायने दु:ख। शादी का नाम विषाद है। तो यह मोही जीव सभी वस्तुवों के साथ सगाई भी किए है और शादी भी किए है अर्थात् इन्हें अपना भी मानता है और दु:खी भी होता जाता है।

धर्मपालन के सही ढंग की हितकारिता—ये पदार्थ तुम पर कुछ जबरदस्ती नहीं कर रहे हैं कि तुम मुझ को सुनो ही और न यह आत्मा उन विषयों में दौड़ता है। यह तो अपने ज्ञानस्वभाव के कारण जाननहार रहा करता है। लेकिन कितने खेद की बात है कि यह अज्ञानी जीव विषयों को भूलता नहीं है। विषयों की यह करतूत नहीं है, यह अज्ञान की करतूत है। जितनी कलह है, विवाद है, खेद है वह सब अज्ञान की करतूत है। ज्ञान की कला तो शांति है। दिन रात के 24 घंटो में यह गृहस्थ पुरुष कैसा विकल्पों में ही पड़ा रहता है, अपने स्वरूप की दृष्टि छोड़कर बाह्य अर्थो में कितना लगा रहता है? यदि यह 2 मिनट भी यथार्थ ढंग से धर्म करे तो इसको शेष समय में भी मूल में निराकुलता बनी रह सकती है। पर जिस दो मिनट में धर्मपालन करे, पूरी ईमानदारी से करे केवलज्ञान स्वभाव के लिए ही लट्टू होकर, उस के ही रुचिया बनकर उसमें झुके। कुछ समय के लिए सभी बाह्य पदार्थ एक समान बाह्य बन जायें, वहाँ फिर यह वासना न रखें कि मेरे फलाने अमुक हैं। ऐसी दृढ़ भावना से यदि ज्ञान की उपासना की जा सकती है तो समझ लीजिए कि मुझे शांति का मार्ग मिल गया और आगे भी शांति रह सकेगी।

शब्दविषयविरक्ति के उपदेश की प्राथमिकता का कारण — भैया ! यहाँ पांच विषयों में सबसे पहिले शब्द को क्यों लिया? ये शब्द सबसे अधिक विषयों में ले जाया करते हैं। अभी यहाँ बैठे हैं और सड़क पर अगल बगल जो गड़बड़ी मच रही है लो वह सुनने में आ गयी। नाक की बात तो तब है कि जब नाक सांस लेवें तो विषय आयेगा सूँघनेमें। पलक खोलकर देखने की मन में आये तो रूप दिखने में

आयेगा। कोई चीज मुँह से खावे तो उसका रस मालूम होगा, किसी वस्तु को छूवें स्पर्श करें तो वह ठंडा या गरम मालूम होगी। पर ये शब्द तो चारों ओर से कानों में घुस पड़ते हैं। उन शब्दों को अपने से अलग बनाए रहना, उनके बहकावे में न आना इसके लिए बड़ा उद्यम करना पड़ता है। बड़ी एकाग्रता हो तब शब्द सुनाई न दे, थोड़ीसी एकाग्रता में यह संयम नहीं बन पाता है, इसलिए सबसे पहिले शब्द की खबर ली है और ये जितने विवाद और कलह बनते हैं, उनमें ये शब्द अगवानी के लिए पहिले तैयार रहते हैं। झगड़ा बनता हो, मनमोटाव होता हो तो सबसे पहिले ये शब्द स्वागताध्यक्ष का काम करते हैं विवाद करनें में , हम को दु:खी करने में ये शब्द पहिले स्वागत करने वाले हैं। हे आत्मन् ! ये शब्द शब्द की जगह हैं, इन को सुनकर तू क्यों अपने में रोष व तोष करता है ?

शब्दों से आत्मा में अकिञ्चित्करता — यहाँ विषयों से अलग हो जाने के उपदेश में वस्तुस्वरूप के ज्ञान के माध्यम को यहाँ बताया जा रहा है कि निन्दा और स्तुति के वचन ये तो भाषावर्गणा योग्य पुद्गल नाना प्रकार से परिणमे जा रहे हैं। ज्ञानी तो ध्रुव कारणसमयसार और पर्यायरूप कारणसमयसार—इन दोनों को जानकर निश्चय मोक्षमार्ग को व निश्चयमोक्षमार्ग के कारणभूत व्यवहार मोक्षमार्ग को जानकर निश्चय तत्त्व की रुचि से इष्ट अनिष्ट विषयों में रागद्वेष नहीं करता है। अज्ञानी जीव ही गाली सुनकर मन में खेद लाते हैं और स्तवन सुनकर फूले नहीं समाते हैं, अपने स्वरूप से भ्रष्ट होते हैं, वे तो शब्द पुद्गल के गुण हैं अर्थात् परिणमन हैं, उन से जीव में क्या जाता है ?

शब्दानाकर्षण के उपदेश का उपसंहार— उस अज्ञानी जीवको, जो कि कारणसमयसार के बोध से शून्य हैं, समझाया गया है कि यह तो पर का परिणमन है, उन को सुनकर तू रोष क्यों करता हैं? वे तुम्हें कुछ नहीं कहते हैं। ये शब्द तुम्हें प्रेरणा नहीं करते कि मुझ को सुनो। तो कोई पूछता है कि कान में तो ये आ पड़ते हैं करें क्या? ..... पर भी आत्मा अपने ही स्वरूप में है, वे पौद्गलिक शब्द अपने ही स्वरूप में हैं। यदि ज्ञानस्वभाव का उपयोग दृढ़तर हो जाय तो वह तो मालूम ही नहीं पड़ सकता। यह आत्मा उन शब्दों में लगने के लिए अपने स्वरूप से नहीं चिगता है, इसलिए शब्दादिक विषयों में आसक्ति करना, हर्ष विषाद करना यह ज्ञानी का कर्तव्य नहीं है।

इसी प्रकार रूप के सम्बन्ध में भी अब कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं।

गाथा 376

असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव।

ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं।।376।।

रूप और ज्ञाता का परस्पर अनाग्रह — ये अशुभ और शुभरूप तुम को यह नहीं कहते कि मुझ को देखो और न यह आत्मा ही चक्षु के विषय को प्राप्त रूप को देखने के लिए, ग्रहण करने के लिए अपने स्वरूप से निकलकर बाहर जाता है। यह रूप पुद्ल द्रव्य के रूप शक्ति का परिणमन है। वह अपने में अवश होकर किसी न किसी रूप में प्रकट बना ही रहा करता है और यह आत्मा अपने ही स्वरूप में

रहता हुआ अपनी ही ज्ञानशक्ति से अपना परिणमन कर रहा है। उस समय उस के इस परिणमन में जो विषय है वह आश्रय मात्र है, सम्बन्ध कुछ नहीं है। पुद्‌ल का जब यह गुणरूप पर्याय इस आत्मा से भिन्न ही है तो इस रूप में तो इसका कुछ भी आग्रह नहीं किया, हैरान नहीं किया। यह ही ज्ञानभाव से हटकर अपनी अटपट कल्पनावों से हैरान हुआ करता है।

दुर्लभ अवसर के लाभ की ओर— देखो भैया ! इस अनन्त काल में हम आप इन एकेन्द्रिय विकलत्रय आदि अनेक कुयोनियों में रहे। अनन्तकाल तो बिना आँख के ही व्यतीत हुआ। निगोद एकेन्द्रिय जीव है, पृथ्वी जल आदिक एकेन्द्रिय जीव हैं, कीड़े-मकोड़े दो इन्द्रिय तीनइन्द्रिय हैं, इन के भी आंखे नहीं और चारइन्द्रिय अंसज्ञी पंचेन्द्रिय के भी आंखे हुई तो केवल अपने विषय मात्र में ही उसका उपयोग रहा। इन आंखों का मिलना कितना दुष्कर है और संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य होकर इन आंखो का तो मूल्य और अधिक बढ़ गया। चाहे इन से अशुभदर्शन करें, चाहे शुभदर्शन करें । इन इन्द्रियों का सदुपयोग करते हुए अपने आत्महित की दृष्टि से विषय कषाय आदिक विभावपरिणामों के अधीन न होकर यदि निर्मोहता की वृत्ति बनाएँ तो इन का यह जन्म सफल है।

पशु और मनुष्यों में अन्तर्दिग्दर्शन —भैया ! विषय ही जिस का उद्देश्य है, ऐसे मनुष्य में और पशुपक्षियो में कोई अन्तर नहीं रहता है। हां इतनी बात अवश्य है कि इसकी गांठ में लाल बँधा है पर पता नहीं है, सो उपयोग नहीं कर सकता। जैसे कंजूस धनी पुरुष अपने धन का कुछ आराम नहीं पा सकता और न उसकी लोक में प्रतिष्ठा रहती है पर चूंकि वह कंजूस भले ही हो, पर है तो धनी। कदाचित् उसका भाव बदल जाय तो उस धन का पूर्ण सदुपयोग कर सकता है। इस ही प्रकार यह मनुष्य भव एक अमूल्य मन का भव है। यद्यपि यह जीव अभी विषय कषायों में व्यग्र है, कंजूस है, आत्मनिधि का सदुपयोग नहीं कर सकता, पर है तो निधि। कभी इसका भाव बदले, विषयकषायों से मोड़ खाये, अपने हित की भावना आए तो सदुपयोग हो सकता है। भावी काल की सम्भावना की अपेक्षा पशुवों से मनुष्य कुछ श्रेष्ठ हैं पर वर्तमान में जो इसकी करतूत है उसको देखकर समानता सोची जाय तो पशुवों से और मनुष्यों में कोई खास विशेषता नहीं है।

अध्रुव चीज के सदुपयोग का विवेक —विवेकी वह है कि अध्रुव चीज का ऐसा उपयोग करे कि जिस से ध्रुव तत्त्व के मिलने में बाधाएँ न आएँ। तन, मन, धन और वचन ये चारों अध्रुव हैं। जो पुरुष इन चारों के कंजूस होते हैं, अपना तन भी पर की सेवा में लगाना नहीं चाहते, अपना मन भी परकेगुण चिंतन में लगाना नहीं चाहते, अपना अध्रुव धन भी परसेवा में लगाने का भाव नहीं करते, अपने वचनों का भी दूसरे जीवों को सुख देने लायक प्रयोग नहीं करते, ऐसे अध्रुव समागम भी कंजूसजन न तो अपने में शांति लाभ ले पाते हैं और न पर के लिए कुछ इष्ट बन पाते हैं। ये सब इन्द्रियां अध्रुव हैं। पाया है इन्हें तो इन का सदुपयोग करो।

मात्र रूपज्ञातृत्व में विकार का अनवकाश — यह रूप न तो आत्मा को प्रेरित करता है कि मुझे देखो और न यह आत्मा रूप की ओर जाता है, किन्तु यह तो अपने ज्ञानबल से जानने का कार्य किया करता है। इस प्रकार स्वरूप को जानते हुए इस आत्मा के ज्ञानविषय में यह नानापरिणत रूप आ जाये तो आ

जाये, इन रूपों के आने से ये विकार तो नहीं होने चाहिये। जैसे दीपक कमरे में रखी हुई सभी वस्तुवों के प्रति उदासीन है तो अपने परिणाम से परिणमता हैं, अब चाहे परपदार्थ प्रकाशित हो जायें तो हो जायें। ये वस्तुवें सभी अपने-अपने में ही जलती है। मात्र उनमें निमिलैमित्तिक सम्बन्ध है, इतने पर भी यदि रागद्वेष होता है तो यह सब अज्ञान का प्रताप है। ज्ञानमात्र निज स्वरूप के ज्ञान में कोई विडम्बना नहीं है। इस अज्ञानभाव का परिहार कर के सर्वविशुद्ध सहज स्वरूप को निहारें तो यही अंत:पुरुषार्थ दृढ़तम होकर मोक्ष के रूप में परिणत होगा।

प्रकट भिन्नता में भी अनुराग की मूढ़ता— भैया ! रूप के प्रसंग में शिक्षा की बात तो कुछ सुगम हो रही है। शब्द तो इन कानों में ठोकर लगाते हैं, पर यह कोई रूप इन आंखों में ठोकर मारता है क्या? नहीं। जैसे कोई जोर से बोले तो कान भर जाते हैं, कानों पर आक्रमण होता है पर इस रूपने कभी आंखों पर आक्रमण किया क्या कि दौड़ कर आए और आंखो में घुस जायें। ये तो जहाँ के तहां पड़े हुए हैं और यहाँ शब्दों के अनुराग से कुछ कम अनुराग नहीं है रूप के देखनेमें। अपना काम कर रहे हैं और कोई सामने से निकले, प्रयोजन देखने का कुछ नहीं है, मगर देखने ही लगते हैं। कुछ देखने की प्रकृति ऐसी पड़ी है कि परवस्तु को देखे बिना नहीं रहा जाता। कोई घर का बाबा मानलो इटावा से आया, अपनी पीठ की गठरी उतारकर आराम से बैठ गया, तो बच्चे नहीं मानते, बतावो बाबा इसमें क्या है? है कुछ नहीं उनके काम की चीज, पर देख लिया तो उन्हें शान्ति हो गयी। तो देखने का भी शौक रहता है। यहाँ से रेलगाड़ी रोज निकलती है और आप घूमते जा रहे हो रेल की पटरी के नीचे से तो आप उस रेलगाड़ी को देखने लगेंगे कि देखें तो इसमें कितने मालगाड़ी के डिब्बे लगे हैं। है प्रयोजन कुछ नहीं, पर देखने की ऐसी प्रकृति बनी है कि कुछ प्रयोजन न होने पर भी देखे बिना नहीं रहा जाता।

रूप में इष्टानिष्टबुद्धि का कारण अज्ञानभाव — यहाँ रूप कोई आत्मा को प्रेरणा नहीं करता और न यह आत्मा भी अपने स्वरूप से भागकर उन रूपों में प्रवेश करता। एक ज्ञान ज्ञेय का सम्बन्ध है, निमित्तनैमित्तिक भाव है आ गए ज्ञानमें, पर इतने मात्र से विकार तो नहीं आने चाहिए। जैसे दीपकने मेज कुर्सी घड़े इत्यादि को प्रकाशित कर दिया तो क्या दीपक मेज, कुर्सी, घड़े रूप परिणम गया? नहीं, तो फिर इस अपने आत्मा को क्यों तुम विकाररूप परिणमाते हो? मकान में से एक ईंट खिसक जाय तो यहाँ आप के चित्त से भी कुछ खिसक जाता है। जैसे किसी जगह घर में आग लग जाय तो चित्त के एक कोने में भी आग लग जाती है। अरे भैया ! जैसे दीपक नाना प्रकार के पदार्थों को प्रकाशित करता है तो भी वह दीपक अपने ही रूप रहता है अन्य नाना द्रव्योंरूप नहीं परिणम जाता है, यों ही तुम ज्ञाता को भी विकृत नहीं होना चाहिये । होते हो तो इसमें अज्ञान ही कारण है।

अब यह बताते हैं कि जैसे रूप के विषय में अज्ञान भाव से यह आत्मा लगता है इसी प्रकार घ्राण के विषय में भी यह आत्मा अज्ञान से लगता है।

गाथा 377

असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मंति सोचेव।

ण य एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं।। 377।।

गन्ध और ज्ञाता की स्वतंत्रता— ये अशुभ शुभ गंध इस आत्मा को यह प्रेरणा नहीं करते कि तुम मुझ को सूँघो और न यह आत्मा अपने प्रदेश से चिगकर घ्राण के विषय में आए हुए गंधों को सूँघने के लिए निकलता है। अपने ही प्रदेश में रहकर विषय विषयी परिणमन हो रहा है, लेकिन यह जीव अज्ञानवश कल्पना बनाकर अपने में रागद्वेष रूप विकार उत्पन्न करता है कितने प्रकार के गंध हैं, कितनी सुगंधों के लिए यह जीव आसक्त रहता है? अरे भाई चाहे कैसा ही गंध हो, है तो वह अजीव का ही परिणमन। उसमें तेरे आत्मा का क्या जाता है? तेरा दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण किसी परपदार्थ में नहीं है। इन विषयों में तेरा गुण परिणमन नहीं है, फिर उन विषयों के निमित्त तू अपना घात क्यों करता है ?

गन्ध का कुछ विवरण— गंध पुद्लद्रव्य की गंध शक्ति का परिणमन है। इन 5 विषयों में रूप विषय अप्राप्य है अर्थात् वह आंख के पास चिपटता नहीं है और कदाचित् कोई रूप आंख से चिपट जाय तो उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता है। अपनी आंख में लगे हुए अंजन को ये आंखे खुद नहीं देख सकतीं। दर्पण लेते हैं, दर्पण आंख की छायारूप परिणमता है। उसे देखकर जानते हैं कि अंजन ज्यादा लगा, यह कारोंच लगी। और जब आंखे इतनी दूर की चीज को देख लेती हैं तो आखों से चिपटी हुई बात को ये आंखे क्यों नहीं देख पाती हैं? नेत्र अप्राप्य अर्थ को विषय करते हैं और बा की चारइन्द्रिय प्राप्य अर्थ को विषय करती हैं। शब्द कान में आ पड़े तो चट जान जाते हैं। शब्द न आऐं तो उसका ज्ञान नहीं होता। यह गंध भी नाक में प्रवेश कर जाती है तब ज्ञान में आता है।

गंध का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश विस्तार— आप कहेंगे वाह फूल तो लगा है गुलाब के पेड़ में, वह तो नाक में नहीं आता। और उसका जो गंध परिणमन है वह उसमें ही है फिर यह जाना कैसे जाता है?तो ऐसा होता है कि फूल गंध का निमित्त पाकर पास के पुद्गल स्कन्ध गंधरूप बन जाते हैं और उन पुद्गल स्कंधों का निमित्त पाकर पास के स्कन्ध गंधरूप परिणम जाते हैं। इस तरह से निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध में नाक के पास के परमाणु में गंध हो जाता है। किसी चीज की गति से अधिक गति है निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी। बिजली का बल्ब जिस का बटन दो मील पर लगा है बटन खोलते ही एक सेकेण्ड बाद जलने लगता है। तो बिजली वहाँ दौड कर नहीं जाती,किन्तु निमित्तनैमित्तिक परिणमन से वहाँ का तार बिजली रूप परिणमन कर उजेले में आ गया।

शब्द का भी निमिलैमित्तिक सम्बन्धवश विस्तार— भैया ! शब्दों की भी ऐसी ही बात है। कोई मुख से शब्द बोलता है तो ये ही शब्द आप के कान में नहीं पहुंचते। जैसे हम यहाँ बोल रहे हैं तो ये ही शब्द यदि कान में पहुंच गए तो ये एक पुरुष के कान में शब्द जाएँ और बा की 100, 200, 500 आदमी तो सुनने से वंचित रह जाएँ, उन्हें कुछ भी सुनाई न पड़े। यह शब्द ही स्वयं आप के कान में नहीं जाते,

पर इस शब्दपरिणमन का निमित्त पाकर पास में जितनी भाषावर्गाणावों का मेंटर है वह शब्दरूप परिणम जाता है और आप के कान के निकट जो पुद्गल स्कंध है, भाषा वर्गणा वह शब्दरूप परिणम कर आप के विषय में आ रहा है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश जो गति है वह अति तीव्र होती है।

अज्ञानज विकार— यह गंध विषय न तो आत्मा को प्रेरित करता है कि मुझे सूँघों, बेकार क्यों बैठे हो, और न यह आत्मा अपने स्वरूप से चिगकर उन गंधों को ग्रहण करने के लिए डोलता फिरता है। किन्तु विषयविषयी का सम्बन्ध है, इसका ज्ञान में गंधविषय आता है, पर इतने मात्र से इस आत्मा में विकाररूप परिणति नहीं हो जाती। यह तो अपने आप के परिणमन की कला है। फिर भी यह जीव उन सब शुभ अशुभ गंधों को सूँघकर अपने में इष्ट अनिष्ट भाव लगाता है, रागद्वेष करता है, यह सब अज्ञान का प्रसाद है। ज्ञानी जीव तो अपने आप के सहज स्वरूप की प्रतीति के बल से अपने स्वरूप के दर्शन में उत्सुक रहता है।

शुभाशुभसहिष्णुता का अभ्यास—ये विभाव यद्यपि इष्ट अनिष्ट भाव को उत्पन्न करते हुए आते हैं तो भी मूल में रुचि विषयों में नहीं है, आत्मस्वरूप में है। सो जिस के मूल में रुचि होती है उस के ही अनुराग समझा जाता है। यह व्यवहारमोक्षमार्ग के माध्यम से निश्चय मोक्ष मार्ग को आत्मसात् करने का उद्यम बनाए रहता है। केवल यह अज्ञानी जीव ही अशुभ शुभ गंधों को पाकर रोष और तोष करता है। अच्छी बास आए तो हाथ में छातीमें, मुँहमें सब में फर्क आ जायेगा और बुरी गंध आ जाय तो नाक मरोड़ेंगे। कम से कम अपने व्यवहार में तो यह आदत बनावो कि जितनी दुर्गन्ध आप सह सकते हों सह लो और मुँह न बनावो जितना बन सके। यह भी एक विषयों में समभाव की प्रक्रिया है। यहाँ कुछ थोड़ी सी मलिन चीजों को देखकर बार-बार नाक सिकोड़ना अपने आप की मलिनता को व्यक्त करने वाली बात है। गंधों में भी रागद्वेष मत करो, ऐसा यहाँ आचार्य देव का उपदेश है।

गाथा 378

असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मंति सो चेव।

ठः य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं।। 378।।

रस और ज्ञाता का परस्पर अनाग्रह — अशुभ और शुभ रस इस आत्मा को ऐसा आग्रह नहीं करता है कि तुम मेरे रस को ले लो और न यह आत्मा अपने स्वरूप से चिगकर रस के ग्रहण करने के लिए जाता है, किन्तु यह आत्मा अपने आप के प्रदेश में ठहरा हुआ मात्र जानता है और विकार भाव में अपने आप के विकल्प का स्वाद लेता है, किन्तु इस विषय को तो कुछ भी नहीं करता। जब तेरा दर्शन ज्ञान और चारित्र इन इन्द्रिय-विषयों में नहीं है तो फिर इन विषयों के खातिर तू अपना घात क्यों कर रहा है ?

रसादि गुणों का विवरण — रस पुद्गल द्रव्य के रसशक्ति का परिणमन है, जितने भी दृश्य दृष्ट होते हैं, परिणमन विदित होते हैं वे सब किसी न किसी शक्ति के होते हैं, कोई भी दशा दिखे तो वहाँ यह

जानना चाहिये कि इस अवस्था का स्रोतभूत आधार क्या है? प्रत्येक परिणमन का आधार गुण होता है। पुद्गल में व्यक्तरूप से विदित होने वाले परिणमन रूप के परिणमन हैं, रस के गंध के और स्पर्श के परिणमन हैं। रूप नामक शक्ति के मूल में 5 परिणमन हैं काला, पीला, नीला, लाल और सफेद । इन 5 के अलावा और जितने विभिन्न रंग दिखाई देते हैं वे सब इन रंगों के मेल से बने हुए परिणमन हैं और इन रंगों की हीनाधिकता के तारतम्यरूप परिणमन हैं। रसशक्ति के मूल में 5 परिणमन हैं- खट्टा, मीठा,कड़वा, चरपरा और कषायला। जितने भी स्वाद हैं और नाना प्रकार के विदित होते हैं वे इन स्वादों के मेल के परिणमन हैं अथवा इन स्वादों की हीनाधिकता के तारतम्य से परिणत हैं। गंधशक्ति के दो परिणमन होते हैं - सुगंध और दुर्गन्ध। स्पर्शशक्ति के मूल में चार परिणमन हैं- चिकना, रूखा, गरम और ठंडा। पर पुद्गल परमाणुवों के पुंजरूप पुद्गल स्कंधों में व्यावहारिकता बन गयी है इसलिए चार परिणमन और प्रकट हो जाते हैं हल्का, भारी, कड़ा और नरम। एक ही अणु है, वह न तो कड़ा है, न नरम है, न वह हल्का है, न भारी है। हल्का, भारी, कड़ा और नरम तब प्रकट होते हैं जब बहुत से अणुवों का पिंड पुद्गल स्कंधरूप होता है।

रस के लक्ष्य में अज्ञानज विडम्बना — प्रकरण में रस की बात कही जा रही है कि यह रस आत्मा को प्रेरित नहीं करता है कि तुम हमारा स्वाद लो –जैसे कि कोई देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त का हाथ पकड़ कर प्रेरणा किया करता दिखता है कि तुम अमुक काम करो, तुम्हें मेरी सिफारिस लिखना पड़ेगा, इस पर तुम हस्ताक्षर कर ही दो। जैसे अनेक कार्यों के लिए प्रेरणा करते हो, इस प्रकार इस आत्मा को रसादिक प्रेरणा नहीं करते और जैसे कोई लोहे की सुई चुम्बक पत्थर के पास खिंचती फिरती है इस तरह से यह आत्मा इन विषयों के निकट खिंचा-खिंचा फिरे, ऐसा भी नहीं है, उन को ग्रहण करने के लिए जाय सो भी बात नहीं है, फिर भी ये अज्ञानी जन इन स्वादों में कैसा रोष व तोष करते हैं? साग में नमक ज्यादा गिर जाय तो थाली पटक देते हैं और यदि अच्छे स्वादिष्ट व्यंजन बनें तो सारे संकट और विपत्ति भूलकर एक इसके स्वाद में ही मग्न हो जाते हैं। ऐसे रस के स्वाद में रोष और तोष इन जीवों को क्यों आता है? इस कारण कि यह प्राणी निश्चय कारणसमयसार से परिचित नहीं है। ज्ञानान्दमय आत्मस्वभाव की इसे श्रद्धा नहीं है, सो अपने आनन्द को प्रकट करने के लिए बाह्य विषयों में ही दृष्टि डालते हैं और उनमें अनुकूल प्रतिकूल कल्पनाएँ बनाकर संतोष और रोष करते हैं।

रस का मायाजाल— कहते हैं ना कि कोई अगर क्रोध में है, तो भाई अभी न बोलो, अभी इसे खूब बढ़िया खिला दो रसीला, तो क्रोध करना तो दूर रहो और उसकी सेवा करने का विचार बना लेगा। शांत हो गया क्रोध । भेया ! यह पता नहीं चलता है कि कहाँ से मीठा लग बैठता है। इस मुँहमें मिठास किस ओर से आती है और कहाँ से बढ़िया लगता है, अभी तक इसकी अच्छी तरह खोज नहीं कर पाये। कहते हैं कि इस जीभ की जो टुनक है आगे की बस वह किसी से छू जाय सो ही स्वाद आता है। जीभ निकाल कर कोई भी चीज बीच में धर दें तो स्वाद रंच भी नहीं आता । कैसा सम्बन्ध है, क्या मतलब पड़ा है? यह अमूर्तिक ज्ञानानन्दमय आत्मा उस रस के विकल्प में ऐसा मिठास का अनुभव करता है कि जैसे मानो आत्मा में मिठास किया गया हो।

आत्मा द्वारा रस की अग्राह्यता— अच्छा बताओ कोई आम का स्वाद ले सकता है क्या? कोई नहीं ले पाता है क्योंकि आम का स्वाद आम में है और आत्मा तो आकाश की तरह अमूर्तिक है। तो जैसे आकाश में आम बिखेर दिये तो आकाश में रस चिपकेगा क्या? नहीं। इसी तरह आकाश के मानिन्द यह आत्मा अमूर्त है। खूब रस मुँह से चाटो पर आत्मा में रस चिपक सकता है क्या? तो रस को आत्मा ग्रहण नहीं करता किन्तु द्रव्येन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध बनता है और ये द्रव्येन्द्रिय ज्ञान कराने के साधन हैं। सो इस रसना इन्द्रिय से तो खाली यह ज्ञान करता है, कि इसमें मीठा रस है, इसमें अमुक रस है, पर आत्मा में जो मोह भरा है, राग पड़ा है उस राग मोह के कारण यह आत्मा उसमें भला मानता है, यह बहुत उत्तम स्वाद है।

कारणसमयसारसुधाररसस्वाद का विलास — भैया ! किसी की आदत पड़ जाय किसी वस्तु के स्वाद लेने की तो बुढ़ापे तक भी नहीं छूटती, ऐसे भी बहुत लोग मिलेंगे। किसी को रबड़ी खाने का शौक है तो वह बुढ़ापे तक रबड़ी खाना नहीं छोड़ता है ऐसे भी लोग देखे जाते हैं। तो रस का स्वाद लेने में जो अनुरक्ति है वह केवल अपने ज्ञानानन्द स्वाभाव के रस के परिचय के बिना है। कैसा है यह कारणसमयसार ज्ञानानन्दस्वभाव कारणस्वभाव ज्ञान कि जिस का आश्रय लेने से कार्यसमयसार प्रकट होता है, शुद्धपर्याय व्यक्त होती है, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख अनन्तशक्ति प्रकट होती है, उसका उपाय है शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्व का श्रद्धान होना। ज्ञान हो और उस ही रूप उपयोग में ग्रहण हो तो इस समाधि के बल से अनन्त चतुष्टय प्रकट होता है जो कि अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है।

आत्मस्वभाव के परिचयरूप वैभव की उत्कृष्टता — अपने आप के अन्तर में अनादिनिधान अन्त:प्रकाशमान इस स्वभाव का परिचय पा लेना, अत्यन्त दुर्लभ है। तीन लोक के समस्त वैभव भी इसके निकट आ जायें वे तुच्छ चीजें हैं। ज्ञान का आदर करो, वैभव का आदर न करो, क्योंकि वैभव से तो वर्तमान में इतना ही फायदा है कि भूखे प्या से न रहें जिस से संतोषपूर्वक हमें आत्माहित का मौ का मिले। इतने प्रयोजन के अलावा और जो प्रयोजन बना डालना है- मेरी पोजीशन बढ़े, लोगों में मेरी इज्जत हो, तो यह सब उसकी उद्दण्डता हैं। वैभव अधिक होने से इसको अशान्ति ही तो मिलने का अवसर है, पर शान्ति प्रकट होना कठिन है। जिस के पास कम धन है वह इस हालत में बड़ा प्रसन्न है और कुछ धन बढ़ जाने पर फिर उसकी खेदजनक स्थिति हो जाती है, और जो आज संसार में माने हुए करोड़पति, अरबपति हैं उन की तो विचित्र हालत है आज के समयमें। चारों ओर से चिंताएँ घेरे हैं। टेक्स, सरकारी मुकद में अन्य घटनाऐं, धन बढ़ाने सम्बन्धी कल्पनाएँ- ये सदा चिंताएँ उनके बनी रहती हैं।

कल्पित रोष तोष का कारण — ऐसी इन बाह्य व्यासक्तियों से इस ज्ञानानन्दस्वाभावी अंतस्तत्त्व की दृष्टि ऐसे लोगों को अत्यंत दुर्लभ है। सो यह निश्चय कारणसमयसार के बिना यह जीव रसों में तोष और रोष करता है। यह रोष और तोष आत्मा के विकार है। इन रोष और तोषों को इन बाह्य विषयोंने उत्पन्न नहीं किया । ये तो अपने आप के स्थान में अपनी परिणति से परिणमते हैं, किन्तु उनका निमित्त पाकर ज्ञान कर के कल्पना बनाकर ये जीव खुद रोष व तोष करता है।

जैसे रसविषयक ज्ञान का इस ज्ञेय के साथ अज्ञान के कारण प्रसंग बन जाता है, इसी प्रकार स्पर्श परिणमन के साथ इस ज्ञाता ज्ञानरूप परिणमन के कारण एक प्रसंग बन जाता है।

गाथा 379

असुहो सुहो व फासो ण तंभणइ फुससुमंति सो चेव।

ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं।। 379।।

मात्र स्पर्शज्ञातृत्व आत्मविकार का अकारण — ये सुहावने और असुहावने स्पर्श, कभी ठंडे अच्छे लगते हैं, कभी गरम अच्छे लगते हैं, ये सभी स्पर्श इस आत्मा को यह प्रेरणा नहीं करते हैं कि तुम मेरा स्पर्श करो ही करो, और न काय के विषय भाव को प्राप्त स्पर्श का ग्रहण करने के लिए यह आत्मा अपने स्वरूप दुर्ग से निकलकर उन्हें ग्रहण करने जाता है किन्तु वस्तु का स्वभाव ऐसा है कि किसी पर के द्वारा किसी पर को उत्पन्न नहीं किया जा सकता । प्रत्येक पदार्थ अपनी ही स्वरूप कला के कारण अपने में प्रकाशमान् रहता है। बाह्यपदार्थ हो तो क्या, न हो तो क्या? जैसे यह दीपक अपने स्वरूप से प्रकाशमान् रहता है, इसी प्रकार यह ज्ञान अपने स्वरूप से जाननहार रहा करता है। अब ज्ञेय पदार्थ में विचित्र परिणमन उन ज्ञेयों के कारण ही है, वे ज्ञेय इस ज्ञान में रंच भी विक्रिया करने में समर्थ नहीं हैं, फिर भी अज्ञान का प्रसाद है कि विकार ही विकार अनादि काल से चला आ रहा है।

आश्रयभूत वस्तु क्लेश का अकारण —भैया ! सम्यग्दर्शन होने से उस वस्तुस्वरूप की महिमा अपने आप में समाए तो ये विकार समाप्त हो सकेंगे। दु:ख है तो केवल विकारभाव का ही दु:ख है। देखो नैमित्तिक चीज कोई इसकी नहीं है। धन कम हो गया, इसका कुछ दु:ख नहीं है किन्तु तत्सम्बंधी ममता का विकल्प बन रहा है। यही दु:ख है । बड़े तीर्थंकर चक्री 6-6 खण्ड की विभूति को त्यागकर निर्ग्रन्थ अवस्था में रहते हैं, उनके क्या कोई दु:ख है? यदि दु:ख होता तो काहे को त्यागते अथवा भूल से त्याग भी देते तो फिर घर चले जाते, उनके तो बड़े स्वागत की तैयारियां होतीं। घर से निकला हुआ बेटा अब घर आ रहा है।

आत्मस्वरूप के अवलम्बन की महिमा—इस वैभव में आनन्द नहीं है। आन्नद तो अपने आप के स्वरूप में है। यह आत्मा तो दीपक की तरह उदासीन है । जैसे दिया जलता है तो जलता है, उसे यह फिकर नहीं है कि मैं इन पदार्थों को प्रकाशित कर दूं, ऐसी उस दीपक को अपेक्षा नहीं है, इसी प्रकार इस ज्ञाता आत्मा को कोई अपेक्षा नहीं है कि मैं दुनिया भर के पदार्थ जानूँ। इसका सहज ऐसा ही सम्बन्ध है कि सारा विश्व जानने में आ जाता है जब यह जीव जानने के लिए फिरा करता है तब इसे ज्ञान होता नहीं और जब यह जीव जानने की तृष्णा छोड़ देता है तब इसके सारा विश्व ज्ञान में आ जाता है । यह आत्मा स्वभाव से आनन्दनिधान है, पर निधि इसके तब प्रकट होती है जब निधि की चाह न हो।

इच्छा की अर्थकारिता का अभाव — संसार में भी मनमानी नहीं चलती है। जब हम चाहते हैं तब चीज नहीं है, जब हम नहीं चाहते तो चीज सामने है। सबकी ऐसी हालत है। हम चाहे कि बड़े विश्व के ज्ञाता बन जायें तो नहीं बन सकते। आज देश की बागडोर संभालने वालों में परस्पर में कलह है, वह इसही से कलह है कि वे चाहते हैं कि मैं नेता कहलाऊँ, मैं उच्च कहलाऊँ। ऐसी भावना होने के कारण उनका बल क्षीण हो जाता है और उस से ऐसे कारना में नहीं बन सकते हैं जो नेता कहलाने लायक बन सकें। जि से अपनी सुध नहीं, अपनी पोजीशन नहीं चाही, केवल काम चाहा है और उन्नति की धुनि रखता है, अन्य किसी दूसरी चीज की कुछ परवाह नहीं है, न धन संचय करता है, न यश फैलाने का भाव रखता है किन्तु एक धुनि लग गयी है कि मैं देश की उन्नति करूँ, मैं अमुक कार्य को अच्छी तरह सम्पन्न करूँ, एक धुनि केवल लग गयी है उस के ही प्रताप से वह नेता बन सकता है, पर शुरू से ही और कुछ सोच ले तो नहीं बन सकता है।

सदाशय से त्याग किये जाने का महत्त्व —धर्म की लाइन में त्यागी साधु बन जाने में भी जिस के मूल में आशय रहे कि हमारा सत्कार होगा, कमायी धमाई की किल्लत से छुट्टी मिलेगी ऐसा भीतर में आशय रखकर कोई धर्ममार्ग में प्रवृति करता है तो उसमें प्रगति के लक्षण और भाव नहीं आ पाते हैं। जो पुरुष सम्पन्न होकर भी, किसी प्रकार का क्लेश नहीं है, सब व्यवस्था है, सम्पन्न होकर भी उसका त्याग करे, समर्थ होकर भी वैभव का त्याग करे तो उस के चित्त में यह बात बनी रहती है कि जब हमने हजारों लाखों की सम्पदा का त्याग किया और धर्ममार्ग में कदम रखा है तो मुझे इन छोटी बातों की चाह से क्या फायदा है? यह उसमें विशद् ज्ञान बना रहता है। त्याग कहते ही इसको है कि अपने लिए लौकिक बातें कुछ न चाहियें, न यश, न धन, न आराम, न भोग और इतनी उत्सुकता बनी रहे कि मुझ में आत्मस्वभाव का दर्शन बना रहे यही तत्त्वभूत है, यही मैं हूँ, इसके अतिरिक्त और कुछ आकांक्षा नहीं है—इतनी लगन के साथ जो पुरुष त्यागमार्ग में बढ़ता है उसको सफलता मिलती है। इसी तरह जो देश में उन्नति करने की धुनि रखकर देश में बढ़ते हैं वे प्रगति के पात्र होते हैं।

निष्कामकर्मयोग की विशेषता — भैया ! निष्कामकर्मयोग का बड़ा महत्व है। निष्काम कर्मयोग क्या है? कामनारहित कार्य करना, उस के फल में कुछ न चाहना। निष्काम कर्मयोग को और लोग भी कहते हैं और जैन सिद्धान्त भी कहता है पर फरक इतना आया कि जब अन्यत्र निष्काम कर्मयोग की प्रधानता दी गयी, इससे ही मुक्ति है तो जैन सिद्धान्त में निष्काम कर्मयोग को ढाल बतायी गयी। मुख्यता दी गयी है ज्ञानानुभूति की। दूसरी जगह कुछ काम करना, एक ईश्वर के नाम पर करना, ईश्वर के लिए सौंपना वह काम, यह उद्देश्य बताया गया है। तो जैन सिद्धान्त में विषय कषाय से बचने के लिए निष्कामकर्मयोग करना यह बताया गया है तो निष्कामकर्मयोग में जब कि अन्यत्र कर्मयोग की प्रधानता है। निष्काम को धीरे बोलते हैं तो यहाँ कर्मयोग की गौणता है और निष्काम को तेजी से बोलते हैं। कामनारहित वृत्ति होनी चाहिए।

ज्ञाता की उदासीनता —यह आत्मा समस्त परपदार्थों के प्रति उदासीन है। जो विषयों के प्रति राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं वे सब अज्ञान हैं। हे आत्मन् ! तेरे कोई गुण अचेतन विषयों में नहीं हैं, फिर उन

अचेतन विषयों में तू क्या ढूँढ़ता है और उनके निमित्त क्या घात करता है? अपने आप को संभाल, अपने आप के गुणों की दृष्टि से इन गुणों की रक्षा है और बाह्यपदार्थों में ऐसा करने के द्वार से इस आत्मा का घात है। विषयकषायों से विराम लो और निर्विकल्प, निष्कषाय ज्ञानमात्र अहेतुक इसकारणसमयसार की उपासना करो। जैसे किसी को क्रोध आता हो, दूसरे पर क्रोध करे, और अपना अपराध न विचार सके तो कोई तीसरा दृष्टसाक्षी पुरुष ही जानता है कि यह व्यर्थ ही क्रोध कर रहा है। इसी प्रकार विषयों के लोलुपी पुरुष अपने आप के अपराध को नहीं पहिचान सकते हैं। यह ज्ञानी संतों की वाणी ही कही जा रही है कि ये विषयकषाय के लोलुपी अपने आप को भूलकर संसारगर्त में गिर रहे हैं। अपने को भूलकर यह जीव आप ही विकल्प करता है।

पर में आत्मभ्रम का कुफल —एक छोटा कथानक है कि एक जंगल में एक शेर रहता था। वह प्रतिदिन बहुत से जानवारों को मार डालता था। सभी जानवरोंने सलाह की कि अपन लोग बारी-बारी से उस सिंह के पास पहुंच जाया करेंगे जिस से सभी जीव निशंक होकर तो रहेंगे। सो सभी जीव बारी-बारी से उस सिंह के पास पहुंच जाते थे। इस तरह बहुत जानवर मारे गए। एक दिन एक लोमड़ी की बारी आयी। सोचा कि अब तो मरना ही है सो कुछ अपनी कला खेलें, सो मान लो पहुंचना था 8 बजे और पहुंची 10 बजे। सिंह गुस्से से भरा हुआ बैठा था। लोमड़ी से गुस्से में आकर पूछा कि तू इतनी देर कर के क्यों आयी? सो वह कहने लगी कि महाराज रास्ते में एक बहुत बड़ा मुकाबला करना पड़ा दूसरे सिंह से। मैने बड़ी मिन्नत की कि अपने मालिक के पास हाजिरी दे आऊँ, फिर लौटकर आऊंगी तब खा लेना। इस तरह से उस सिंह से बचकर आयी हूँ। दूसरे सिंह की बात सुनकर उस सिंह को और क्रोध आ गया। बोला, कहाँ है वह दूसरा सिंह? वह लोमड़ी तो चाहती ही थी कि किसी तरह चले। सो लोमड़ी उसे एक कुवें के पास ले गयी और बोली महाराज ! यह देखो दूसरा सिंह आप के भय से कुवें में घुस गया है। सिंहने झांककर देखा तो उसी की परछाई उसे दिख गई । सिंहने दहाड़ मारी तो प्रतिध्वनि हुई अब तो गुस्से में आकर वह सिंह उस कुवें में फांद गया और मर गया। लोमड़ी चली आयी। इतना ही तो काम उसे करना था। तो जैसे भ्रम कर के शेरने जान दे डाली, इसी प्रकार भ्रम कर के ये जगत के जीव इन विषयों में अपना घात किया करते हैं।

गाथा 380,381

असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव।

ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविषयमागयं तु गुणं।।380।।

असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव।

ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसय मागयं दव्वं।।381।।

पूर्वोक्त विषयों के असम्बन्ध का उपसंहार —पहिले कथन में पंचेन्द्रिय के सम्बन्ध में वर्णन किया था कि ये विषय अत्यन्त भिन्न परिणमन हैं। विषय आत्मा को आग्रह नहीं करते कि तुम हमें सुनो, देखो,

सूँघो, चखो या छुवो। और न यह आत्मा ही अपने प्रदेश से चिगकर अपनी अंत:प्रक्रिया छोड़कर इन विषयों को ग्रहण करने के लिए जाता है क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि किसी पर के द्वारा कोई परपदार्थ उत्पन्न नहीं किया जा सकता। वे विषय तो अपने परिणमन से परिणमते हैं और यह आत्मा अपने स्वरूप से परिणमता है और अपने-अपने स्वरूप से परिणमती हुई स्थिति में ये विषय ज्ञेय बनते हैं, यह ज्ञाता ज्ञाता बनता है, यहाँ तक तो कोई बात न थी पर जो रागद्वेष की वृत्ति जग जाती है इससे बरबादी है, उसमें अज्ञान कारण है। इस प्रकार विषयों के सम्बन्ध में निर्देश किया।

द्रव्य गुण का व ज्ञाता का परस्पर अनाग्रह — अब गुण और द्रव्य के सम्बन्ध में बताते हैं। यह जीव परगुणों को परद्रव्यों को जानता है और वहाँ गुण या द्रव्य कोई इस आत्मा से प्रेरणा नहीं करते--जैसे कोई किसी पुरुष का हाथ पकड़ कर कहे कि अमुक काम करो, इस तरह ये गुण और द्रव्य आत्मा से आग्रह नहीं करते कि तुम मुझ को जानो। जैसे ये घटपट आदिक दीपक को आग्रह नहीं करते कि मुझे प्रकाशित करो। और ऐसा भी नहीं है कि यह दीपक अपने स्वरूप से आगे बढ़कर बाह्यपदार्थों को प्रकाशित करने चला जाय। इसी तरह यह भी नहीं है कि यह आत्मा अपने स्वरूप को छोड़कर अपनी स्वरूपवृत्ति को छोड़कर अपने ही इस विकल्पात्मक ही सही परिणमन को तजकर बाह्यपदार्थ ग्रहण करने के लिए जाय, ऐसा नहीं है।

पर के द्वारा पर के अङ्गीकरण का अभाव — देखो कितनी अद्भूत बात है कि भोजन कर रहे हैं, रस ले रहे हैं, बड़ा आनन्द मान रहे हैं, फिर भी वहाँ आत्मा अपने स्वरूपप्रर्वतन से आगे कदम नहीं रख पाता कि रस को छू लेवे। रस को यह ग्रहण नहीं कर पाता, किन्तु भीतर अज्ञानस्वरूप हो गया ना तो भी क्या हुआ? इसकी प्रभुता तो देखो, ऐसी सामर्थ्य से उस रस का स्वाद लेता है कि मानो वह परवस्तु को भोग रहा हो, किन्तु वहाँ, पर, पर की जगह है, आत्मा आत्मा की जगह है, कोई सम्बन्ध नहीं हो रहा है। यह जीव जब परवस्तु के गुणों को जानता है तो वहाँ भी उन गुणोंने इसको यह आग्रह नहीं किया कि तुम खाली मत बैठो, हम को तुम जानो और न यह आत्मा दूसरे पदार्थों के गुणों को जानने के लिए गया किन्तु वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि अपने आप में अपनी योग्यता से परिणम रहे पर के द्वारा पर का उत्पादन नहीं हो सकता। यह ज्ञाता आत्मा चूँकि ज्ञानस्वभावरूप है अत: जाने बिना नहीं रह सकता। वह तो जाना ही करेगा। अब जानते हुए कि स्थिति में ये गुण ज्ञेय हो गए, यहाँ तक तो ठीक बात थी किन्तु जो रागद्वेष उत्पन्न हो जाते हैं वह सब अज्ञान की महिमा है।

धर्मचर्चा में भी झगड़ा हो जाने का कारण — कोई द्रव्यानुयोग जैसे ज्ञान और वैराग्य के विषय वाली चर्चा की जा रही हो। उस प्रसंग में गुणों के स्वरूप की पद्धति से किसी समय कोई मतभेद हो जाये तो गुणों की चर्चा करते-करते कषाय जग जाती है, कलह हो जाती है, यह अज्ञान का परिणाम है। गुणों के सम्बन्ध में जो जानकारी बतायी जा रही है, उस विकल्प में इस मोही को आत्मीय बुद्धि हो गयी है, अब मेरा यदि यह मत स्थिर नहीं रह सकता तो हमारा ही नाश हो जायेगा, ऐसाअपने विकल्पों में आत्मसर्वस्व का जोड़ किया है यही तो राग और द्वेष का उत्पादक हुआ। रागद्वेष वृक्ष की शाखा की तरह है और मोह जड़ की तरह है। विभाव वृक्ष की शाखायें ये कषाय हैं और विभाव वृक्ष की जड़ मोह है।

जैसे जड़ पानी, मिट्टी आदि का आहार लेकर शाखाओं को पल्लवित बनाए रहती हैं, उन्हें मुरझाने नहीं देती, इसी प्रकार ये विभाव मोह भाव के द्वारा परवस्तुवों को अपनाकर इन रागद्वेषों को पल्लवित बनाए रहते हैं रागद्वेष को सुखने नहीं देते हैं। तो सब ऐबों की जड़ तो मूल में मोहभाव है।

मोहोन्माद —भैया ! यह मोह का नशा ऐसा विचित्र है कि एक मिनट भी उतरता नहीं है। और नशा जो खाने पीने से बनते हैं वे कुछ समय को रहते फिर उतर जाते हैं, पर मोह का नशा कितना विचित्र है? घर होगा तो घर में मोह का नाच चलेगा और मंदिर में होगा तो मंदिर में मोह का नाच चलेगा। जायेगा कहाँ प्रक्रियाभेद हो गया। घर में बिना मायाचार के सीधी बेवकूफी कर के मोह किया जाता है और मोह जब बसा हुआ है तो मंदिर में मायाचार कर के अन्तर में मोह का नाच कराया जाता है। घर में तो सीधे ही प्रेम की बात कहकर अपना कर मोह कर लिया जाता है और मंदिर में मोही को मोह का रंग जिस पर चढ़ा है, बाहर में ऐसा करना पड़ता है कि लोग जाने कि अब तो शायद यह घर में ज्यादा दिन न रह सकेगा, इसे वैराग्य हो गया है, बड़े गान तान से पूजन करता है, आँखे मींचकर बड़ी देर ध्यान लगाया जाता है । मोह का रंग जिसपर चढ़ा है उसकी बात कह रहे हैं भगवान से मोक्ष की प्रार्थना की जा रही है कि हे प्रभो ! मुझे इसकारागार से निकाल दो लेकिन अन्तर में मोहभाव ही पुष्ट किया जा रहा है। खबर घर की है, वैभव और धन सम्पदा की ही मन में चाह लगी है और यह नाटक भी वैभव बढ़े इसके लिए किया गया। जहाँ यह वैभववृक्ष मोह की जड़ द्वारा परपदार्थों को आहत कर के इन रागद्वेष शाखावों को पल्लवित किए रहते हैं।

विकल्पों का अंगीकरण मूल व्यामोह —मोह का नशा जहाँ भी उतर जाता है, घर में कोई समय उतरे, चाहे मन्दिर में उतरे, चाहे सफर में उतरे तब उसे विश्राम मिलेगा, आनन्द का अनुभव होगा। तो गुण सम्बन्धी ज्ञान कर के भी, चर्चा कर के भी, जानकारी बनाकर भी विवाद उठता है, झगड़े हो जाते हैं, मनमुटाव हो जाता है, पार्टीबंदी बन जाती है, ये सब अज्ञान के ही नाच हैं। गुणविषयक ज्ञान कर के उस ज्ञानविकल्प में आत्मसर्वस्व को जोड़कर लिया गया है, यह है मोह का रूप। जैसे कोई घरविषयक विकल्प कर के उस विकल्प को अपनाता है तो वह लोक में प्रकट मोही कहा जाता है, इसी प्रकार गुणद्रव्यविषयक अर्थ विकल्प में आत्मीयता, ममता कर के इतना ही मात्र मैं हुं, सहजज्ञान स्वरूप को भूल जाता है और इन परभावों को अपनाता है वह भी मोही है।

सर्वप्रसंगों में स्वरूप की पर से अतद्रूपता —वस्तुत: घर आदिक पर से कोई मोह कर ही नहीं सकता । कुटम्ब परिवार में मोह करने की किसी जीव में ताकत नहीं है क्योंकि किसी परवस्तु में मोह किया ही नहीं जा सकता है मोही जीव तो परवस्तुविषयक कल्पनाएं बना कर के मोही बनते हैं। घर को अपना बना ही नहीं सकते । यदि मिथ्यादृष्टि अज्ञानीजन घर परिवार को अपना बना लें या इन में मोह कर लें इन में अपना परिणमन कर लें तो ये तो भगवान से भी कई गुणा शक्ति वाले हो गए। यह मोही अपना काम कर रहा है और परपदार्थ अपना काम कर रहे हैं। अनादि से लेकर अब तक ये जीव कुयोनियों में भटका, नाना उपद्रव्यों में ग्रस्त रहा लेकिन यह यह ही रहा। भले ही विकल्प किया पर यह विकल्परूप ही परिणमता हुआ रहा, पर का कुछ नहीं किया।

परकीय गुण द्रव्य के साथ ज्ञाता का मात्र ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध- यह ज्ञाता गुण का भी कुछ नहीं करता केवल ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धवश उन परकीय गुणों को जानता है और साथ में लगा हुआ हो विभाव परिणमन तो उनके सम्बन्ध में अपनत्व की बुद्धि करता है। गुण कहते हैं द्रव्य के शक्तिभेद को और द्रव्य कहते हैं उन शक्ति के भेदात्मक पुञ्ज को । द्रव्य गुण जैसे पवित्र तत्त्व जिनसे कोई बिगाड़ सम्भव नहीं है, हमारे प्रसंग को जो मलिन नहीं बनाते, ऐसे द्रव्यगुण के सम्बन्ध में भी यह जीव अज्ञानवश इष्ट और अनिष्ट बुद्धि कर के अपने में विकार उत्पन्न करता है। जैसे कोई परिजन और वैभव में इष्ट अनिष्ट बुद्धि कर ही नहीं सकता, कैसा ही तीव्र मोह हो क्योंकि परवस्तु के द्वारा परवस्तु का उत्पाद नहीं किया जा सकता, किन्तु बाह्य विषयों के सम्बन्ध में जो जानकारी की और असुहावने सुहावनेपन की अपने में तरंग की, उस ही में इष्ट और अनिष्ट बुद्धि है, परमार्थत: बाह्य पदार्थ कोई भी इष्ट अनिष्ट नहीं है। अपने ही परिणमन से इष्ट और अनिष्ट माना करते हैं।

बाह्य पदार्थ में स्वयं इष्टत्व व अनिष्टत्व का अभाव — भैया ! बाह्य पदार्थ कौन तो इष्ट है और कौन अनिष्ट है? कोई निर्णय दे सकता है क्या? बतावो नीम की पत्ती इष्ट है कि अनिष्ट? आप को तो अनिष्ट है पर ऊँट को इष्ट है और आप को मिठाई इष्ट है या नहीं? इष्ट है पर किसी पित्त की बीमारी वाले को अनिष्ट है। उसे मिठाई खिलाई जाय तो वह फैंक देगा। तो किसी परपदार्थ को आप इष्ट मान सकते हैं और किसी को अनिष्ट, पर वस्तुत: न कोई परवस्तु इष्ट है और न अनिष्ट है। जि से कल्पना से मान लिया कि यह मेरा मित्र है वह तो आप के लिए इष्ट हो गया और जि से मान लिया कि विरोधी है वह आप के लिए अनिष्ट हो गया। यह ज्ञाता तो स्वरूप से जानता है, स्वरूप से जानते हुए के प्रसंग में ये गुण और द्रव्य कमनीय और अकमनीय बनकर ज्ञान में आ जाते हैं पर इतने मात्र से ज्ञान में विकार नहीं होना चाहिए था, किन्तु होता है विकार। इसमें कारण अज्ञानभाव है।

ज्ञेय और ज्ञाता की स्वतंत्रता —दीपक कैसा उदासीन होकर अपनी दो एक अंगुल की ज्योति में टिमटिमाते हुए अपना काम करता है? यदि कमरे में कोई फूटे घटादिक धरे हों तो क्या दीपक उन्हें मना करेगा या रूठ जायेगा कि हमारे सामने फूटे घड़े मत धरो? वह तो उदासीन है। जो समक्ष आये वही प्रकाशित हो जायेगा। फूटा घड़ा प्रकाशित होने से कहीं दीपक नहीं फूट जाता। किन्तु यहाँ देखो तो मकान थोड़ासा गिरे तो यहाँ दिल गिर जाता है। मकान के किसी खूँट में आग लगे तो यहाँ दिल के किसी खूँट में आग लग जाती है। तो जैसा दीपक का और प्रकाश का परस्पर में प्रकाश्यप्रकाशक मात्र सम्बन्ध है, तैसा ही सम्बन्ध तो इस ज्ञाता का और इन समस्त ज्ञेयों का है। ये ज्ञेय ज्ञान में आते हैं तो आने दो, स्वरूप परिणमन ही ऐसा है, पर यह ज्ञेय बाहर बाहर रहता हुआ ज्ञेय में आता है। अन्तर में मिलजुल कर के ज्ञेय में नहीं आता है। जानने मात्र के कारण इस ज्ञाता को विकृत नहीं बनना चाहिए, पर बन रहा है। यह आफत तो सामने ही दिख रही है। इस आपत्ति का कारण केवल अज्ञान भाव है।

स्वरूपविस्मृति में व्यर्थ की उद्दण्डता — वह अज्ञान भाव क्या है? मैं ज्ञान मात्र हूँ, मैं ज्ञानशक्ति मात्र हूँ, असम्बद्ध हूँ, अबद्ध हूं; अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिपूर्ण हूँ, मुझ में किसी अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप प्रवेश नहीं और न होगा—ऐसा सबसे न्यारा और सदा अपने गुणों में समर्थ सत्व रखता

हुआ स्वतंत्र हूँ। ऐसे माने बिना जो हमारी स्थिति बनती है वह सब अज्ञानभाव है। क्या होगा इस व्यर्थ की उददण्डता का फल जिस में न कुछ आता है, न कुछ जाता है, न इन से मेरे को आगे की कुछ सहूलियत मिलती है, कोरा श्रम ही श्रम है। बल्कि जितनी खुशामद अपने लड़के की की जाती है उस से सोहलवां भाग भी खुशामद किसी दूसरे लड़के की करें तो व्यावहारिकता में भी वह दूसरा लड़ का बहुत अधिक मान लेगा और घर के लडके की खुशामद भी बहुत की जाती है, फिर भी ऐहसान मानना तो दूर रहा वह तो जानता है कि यह तो इन का काम ही था। यह तो अपना ही काम कर रहे हैं। जीवन में जिस से कुछ नहीं मिलता, मृत्यु के बाद तो साथ देंगे ही क्या ?

अज्ञान के त्याग में ही भलाई —भैया ! यह यथार्थ बात समझने के लिए कही जा रही है, जिन के लिए आप अपना तन, मन, धन, वचन अर्पित कर रहे हैं वे आप के लिए कुछ न होंगे इस तन, मन, धन, वचन का उपयोग पर के उपकार के लिए हो तो इन के पाने का कुछ लाभ भी है। यदि तन, मन, धन, वचन का उपयोग केवल घर के चार जीवों के लिए ही रहा तो इस ममता से तो अपनी बरबादी ही है। इस अज्ञान में रहकर कहाँ तक समय गुजारा जा सकेगा? अनेक परिस्थितियां आयेंगी संयोगकी, वियोग की, बीमारीकी, उन से कौन बचा सकेगा? यह तो सब दु:खों का घर है। दुनिया दु:खों का घर नहीं, यह जो अज्ञान का मंतव्य है वही दु:खों का घर है। दुनिया के किसी भी पर सत्त्व से मेरा कुछ बिगाड़ नहीं हैं।

उपयोग में विश्वविकल्प भरने से बरबादी — जैसे पानी में नाव तैरती है तो उस से कुछ नाव का बिगाड़ नहीं है, पर नाव में पानी आ जाय तो उस से नाव का बिगाड़ है। इसी तरह यह मेरा उपयोग लोकरूपी सागर में तैर रहा है इससे कुछ आत्मा का बिगाड़ नहीं होता, पर इस उपयोग-नाव में ये लोक के पदार्थ इष्ट अनिष्ट यह समस्त तरंगोंमय जलसमूह यदि प्रवेश कर जाय, भर जाय तो यह उपयोग की नाव में ये लोक के पदार्थ इष्ट अनिष्ट यह समस्त तरंगोमय जलसमूह यदि प्रवेश कर जाय, भर जाय तो यह उपयोग की नाव डूब जायेगी। डूबी ही है। जैसे डूबी हुई नाव जल के भीतर हिलती डुलती चक्कर खाती रहती है इसी तरह इस विश्व में डूबा हुआ यह उपयोग यह आत्मा नीचे ही नीचे पड़ा हुआ चतुर्गतियों में ठोकर खाता हुआ क्लेश पा रहा है। उपयोग में जो इसने अलाबला भर रखा है— घर के कुटुम्बको, धन वैभव को जो इसने भर रखा है उस से यह डूब गया है और दुखी हो रहा है।

शुद्धस्वरूप की दृष्टि कर के विश्व को उपयोग में भरने से हानि का अभाव —कदाचित् यह स्वरूपदृष्टि कर के सब जीवों को अपने चित्त में भरले तो न डूबेगा। जैसे नाव में कहते हैं कि केवल एक भी पापी बैठा हो तो नाव डूब जाती है। ऐसे ही इस उपयोग में जो पापी लोग बैठे हैं उन से यह उपयोग डूब रहा है। बा की आदमी जिन्हें आप गैर मानते हैं आप की निगाहमें उनके साथ ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध रह सकता है। तो जब जो ज्ञेय मात्र रह सके वे आप के बाधक ज्ञेय नहीं हुए और जिन में इष्ट अनिष्ट बुद्धि कर के ज्ञेय बनाया है, जिन का मन रखने के लिए नाना चेष्टाएँ करते हैं, रूठ जायें तो मनाते हैं और शकल देखते रहते हैं कि यह खुश रहे। न जानें कितना बोझ यह लादे हुए अपने को उनके बोझ से डूबा रहे हैं।

ये ज्ञेय, ज्ञेय ही रहते तो कोई बिगाड़ न था, पर जहाँ रागद्वेषमय अज्ञान भाव बना उस से ही यह जीव अपना घात किए जा रहा है।

ज्ञानी अज्ञानी की दृष्टि से सिद्धान्तविवेचना की पद्धति — पहिले बंधाधिकार में यह बताया गया था कि रागद्वेषादिक परिणामों का यह जीव कर्ता नहीं है किन्तु परद्रव्यों के द्वारा उत्पन्न होता है और स्फटिक का दृष्टान्त दिया गया था कि जैसे स्फटिक में लालिमा स्फटिक से नहीं उत्पन्न होती है किन्तु वह उपाधिभूत डांक के द्वारा उत्पन्न होता है, वहाँ तो यह बताया और यहाँ यह बतला रहे हैं कि रागादिक अपनी ही बुद्धि के दोष से उत्पन्न होते हैं किसी परद्रव्य के द्वारा उत्पन्न नहीं होते विषयों से या कर्मों से या देह से ये रागादिक उत्पन्न नहीं होते, ऐसी परस्पर विरोध की बात कहने में मर्म क्या है? वहाँ रहस्य यह है कि बंधाधिकार में ज्ञानी जीव की मुख्यता से बताया था कि इस आत्मा में रागादिक नहीं हैं। आत्मा के स्वभाव से रागादिक नहीं होते हैं किन्तु उपाधि जैसे स्फटिक में रंग उन्पन्न कर दे,इसी प्रकार कर्म उपाधि के स्वभाव से ये रागादिक होते हैं। ऐसा कह कर शुद्ध चित्स्वरूप को एकदम दृष्टि में ले जाने का प्रयोजन था और इस प्रकरण में ज्ञानी जीव की मुख्यता से कह रहे हैं। जो अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों में ही अपने राग और सुख दुःख आदिक का कर्ता मानता है और इसी बुद्धि के दोष से अपना अपराध न मानकर दूसरे पदार्थ का अपराध मानता है कि अमुक विषय के कारण ये मेरे में सुख दुःख हुए, उस अज्ञानी जीव को सम्बोधने के लिए यहाँ यह बताया जा रहा है कि किसी विषय या देहादिक से रागादिक उत्पन्न नहीं होते, ये तो अपनी बुद्धि के दोष से हुए हैं।

ज्ञेय व ज्ञाता की स्वतंत्र परिणति — भैया !दर्शन, ज्ञान, चारित्र किसी अचेतन अर्थमें, देहमें नहीं है फिर उन विषयादिक के निमित्त क्या घात करते हैं। जो जीव अपने सुख दुःख रागद्वेष के होने में परवस्तु को ही कारण मानता है वह कभी मोह के संकटों से दूर नहीं हो सकता है। क्योंकि उसे अपने आप के शुद्धस्वरूप का बोध नहीं है। इस प्रसंग में बात यों है कि जैसे बाह्य पदार्थ घट, पट, मेज कुर्सी आदिक, कहीं देवदत्त यज्ञदत्त को जैसे हाथ पकड़कर कार्य कराता है इस तरह ये बाह्यपदार्थ आत्मा पर जबर्दस्ती नहीं करता है। जैसे दीपक पर ये पदार्थ जबरदस्ती नहीं करते कि तुम हम को प्रकाशित करो और न यह दीपक ही उन बाह्ययपदार्थों में प्रवेश कर ग्रहण करने के लिए जाता है। जैसेकि कोई सूई चुम्बक लोहे के प्रति उसे ग्रहण करने के लिए जाती है, इस तरह यह उपयोग किसी बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने के लिए नहीं जाता है।

वस्तुस्वभाव की अनुलंघ्यता —भैया ! वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि पर के द्वारा पर उत्पन्न नहीं किया जा सकता। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध केवल है सो बाह्ययपदार्थ घटपट आदिक हों तो न हों तो, ये बाह्पदार्थ अपने स्वरूप से ही प्रकाशमान् होते हैं और उन-उन घटादिक की विचित्रता से नाना प्रकार के सुन्दर-असुन्दर लम्बे चौड़े भद्दे वे पदार्थ इस दीपक में विकार करने के लिए नहीं आते हैं। इसी प्रकार ये बाह्य पदार्थ सब रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण और द्रव्य ये आत्मा को ऐसा आग्रह नहीं करते कि तुम मुझ को सुनो, मुझे देखो, मुझे सूंघो, मुझे चखो, मुझे छुवो अथवा मुझे जानो, ऐसा आत्मा को अपना ज्ञान

कराने के आग्रह नहीं करते और न यह आत्मा ही अपने स्थान से च्युत होकर उन पदार्थों को जानने के लिए जाता है। वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि उनमें निमितनैमितिक सम्बन्ध है किन्तु किसी एक के द्वारा कोई दूसरा उन्पन्न नहीं किया जा सकता है । कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं होता, यह ज्ञान तो अपने स्वरूप से जाननमात्र होता है। ज्ञान तो जानने का स्वभाव लिए हुए है, जो जानने में आ गया आ गया, ज्ञान तो अपने स्वरूप से जाननहार रहता है। सो वस्तु के स्वभाव से नाना परिणाम को किए हुए ये बाह्य पदार्थ सुन्दर हों या असुन्दर हों, ये ज्ञान के विकार के लिए रंच भी नहीं हैं।

स्वभाव के अपरिचय का महादोष — जैसे दीपक अत्यन्त उदासीन है, इसी प्रकार यह आत्मा भी पर के प्रति अत्यन्त उदासीन है, फिर भी जो रागद्वेष होते हैं वह सब अज्ञान का स्वरूप जंच रहा है। जो जीव निश्चय मोक्ष मार्गरूप निश्चय कारणसमयसार को नहीं जानता और व्यवहार मोक्षमार्गभूत व्यवहार कारणसमयसार को नहीं जानता वह अपनी बुद्धि के दोष से रागद्वेषरूप से परिणम रहा है। इसमें शब्दादिक विषयों का कोई दूषण नहीं है, दूषण तो हमारा स्वयं का है।

बुद्धिगत दोष की घातव्यता — एक कहावत है कि गधे से न जीते तो कुम्हारी के कान मरोरे। एक कुम्हार को गधेने दोलत्ती मारी तो उसे गधे के कान मरोरने कठिन हो गये क्योंकि वह काटता भी था और लात मारने वाला भी था। सो गधे से न जीत स का तो उसने कुम्हारी के कान मरोर दिए। क्रोध तो भजाना ही था। अपनी बुद्धि का दोष तो दूर नहीं किया जा सकता और बाह्य पदार्थों के संग्रह विग्रह करने का यत्न किया जाता है, सो ये विषयगत पदार्थ आत्मा को क्लेश नहीं पहुंचाते, राग नहीं पहुंचाते क्योंकि उन पदार्थों में अपना गुण है ही कुछ नहीं, फिर भी जो यह दु:ख मच रहा है, इस पर आचार्यदेव खेद प्रकट करते हैं।

गाथा 382

एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई विमूढो।

णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।। 382।।

स्वमहिमा के अज्ञान में पर का आकर्षण — ऐसा जानकर भी यह मोही जीव शांतिभाव को प्राप्त नहीं होता है और पर के ग्रहण करने का मन करता है क्योंकि आप जो कल्याणरूप है ऐसे निज सारतत्त्व को तो प्राप्त नहीं किया तो असार को ही ग्रहण करता है। छोटे लोगों में मट्ठा की खीर बासी भी हो तो भी वे लोग शादी वगैरह में खाया करते हैं, तो जि से उत्तम व्यंजनों का स्वाद नहीं है उन को यही रुचता है। जिस को आत्मीय आनन्द का रस नहीं प्राप्त है उसे शांति नहीं प्राप्त हो सकती और सुखाभास में ही वह आनन्द ढूँढ़ने की व्यग्रता करता है। शुद्व आत्मा के सम्वेदन से उत्पन्न हुए प्रकाश को जिसने नहीं पाया, सहज परम आनन्दस्वरूप शिव सुख को जिसने नहीं पाया, ऐसा जीव शब्दादिक विषयों में और गुणद्रव्यों की चर्चा में आसक्त होता है वह उपशम भाव को प्राप्त नहीं कर सकता ।

पर से विकार के ग्रहणपरिहार का स्वभाव —यह ज्ञाता आत्मा अथवा यह ज्ञानस्वरूप बहुत महिमावान् है। अपने आप की अतुल महिमा का ज्ञान नहीं है, तो पर की ओर उपयोग कर के यह मोही जीव भिखारी दीन और आकुलित होता है। स्वयं तो है आनन्द का भण्डार पर उपयोग इस आनन्दमय स्वभाव को नहीं देखता। सो यह अपने आप में रोता हुआ रहता है और बाहरी पदार्थों की और आकृष्ट बना रहता है। यह ज्ञान ज्ञेय पदार्थो से विकार को प्राप्त नहीं होता। कोई चौकोर चीज जान ली तो ज्ञान चौकोर नहीं हो जाता। काला, नीला जान लिया तो ज्ञान काला नीला नहीं हो जाता। कैसा ही जान लें यह ज्ञान इष्ट अनिष्ट नहीं हो जाता, रागी द्वेषी नहीं हो जाता। यह ज्ञान तो ज्ञान स्वरूप ही है।

रागद्वेष का रूपक — रागद्वेषक्या बला है? इसके दो उत्तर दिए गए हैं। बंधाधिकार में तो यह उत्तर है कि रागादिक प्रकृतिपरिणत कर्मों के द्वारा जनित है। आत्मा तो शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है और यहाँ यह उत्तर दिया जा रहा है कि यह तो अपनी कुबुद्धि के होने से बिगड़ा बना हुआ है। इसे परद्रव्य कुछ नहीं करते। जिन्हें अपने ज्ञान की कला जगी है वे सब नयों से और सब वर्णनों से अपने स्वभाव के आलम्बन की ही शिक्षा लेते हैं। निमित्तनैमित्तिक भाव से आत्मा के शुद्ध स्वभाव की स्वरक्षा जानते हैं और ये रागादिक मेरे रंच भी नहीं हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, इन परद्रव्यों से मेरा कोई वास्ता नहीं है, वहाँ पर भी इसने अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप को निरखा और जहाँ केवल अपने आप की दृष्टि कर के देखा जाता है। ये रागादिक जो होते हैं मेरे स्वभाव नहीं हैं, फिर भी ये मेरी बुद्धि के दोष से हुए हैं, दूसरे के कारण नहीं होते।

आश्रय की अदृष्टि से विकारों का विनाश —अपने आप के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थ तो मेरी और दृष्टि भी नहीं करते। सो इन रागद्वेषादिक विकारों को खुराक न मिले तो फिर ये कब तक पनपेंगे? रागादिक विकारों की खुराक है परपदार्थों की ओर दृष्टि करना। जब निश्चय के स्वभाव में परपदार्थों की और दृष्टि ही नहीं जा रही है तो ये रागादिक भूखे रहकर मरेंगे ही। ये बढ़ नहीं सकते। निश्चय के आलम्बन से इस तरह ज्ञानीने अपना कल्याण बल पाया। इन बोध्य पदार्थों से यह ज्ञान किसी भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता। जैसे प्रकाश्य पदार्थों से यह दीपक विकार को प्राप्त नहीं होता। तो हे अज्ञान पीड़ित आत्माओ ! वस्तु के स्वरूप के ज्ञान से अलग रहकर क्यों रागद्वेषरूप हो रहे हो और अपनी उदासीनता का क्यों परित्याग कर रहे हो? ज्ञान का स्वभाव तो ज्ञेय को जानना है। ज्ञेय को जानने मात्र से ज्ञान में विकार नहीं आते। ज्ञेय को जानकर भला बुरा मानकर राग और द्वेष करना यह सब अज्ञान से होता है।

निजगृहविस्मरण से भटकन — अपने आप का सही पता हो तो भटकना कैसे हो सकता है? अपने घर का पूरा पता हो तो कोई कैसे भटकेगा? बचपन में एक घटना हुई, हम 9 वर्ष की उम्र के थे। सागर से पढ़कर हम 1 साल में घर आए। एक साल तक घर का मुँह न देखा था, सो गाँव का कुछ बड़ी आयु का एक छात्र और साथ में पढ़ता था, उस के साथ आ गए। तो गांव के गोंयड़े से वह तो अलग हो गया। अब मैं अकेला रह गया। हम कहीं कुम्हार के घर में घुसे, कहीं किसी के घर में घुसे। भूल गए थे। तनिक शाम का भी समय हो गया था। लोग हँसे, फिर कोई हम को घर ले गया। जब मैं घर पहुंचा उन्हें

खबर मिली तो एकदम सब लोग जुड़ गये। यों ही अपने आप के घर का पता न रहे तो यह जीव डोलता फिरता है।

आत्मा के अपरिचय में पराशा से प्राणघात —अपने आत्मा का घर है अपने ही गुणों का पुंज। उसका पता नहीं है तो दीन हीन भिखारी होकर पर की ओर निगाह रखकर घूमता फिरता है, मुझे इस चीज से सुख होगा। जैसे हिरण रेतीली जमीन में गर्मी के दिनों में दूर की रेत को पानी जानकर दौड़ता है, वहाँ मुझे पानी मिलेगा, पर जब निकट पहुंचता है तो पानी का कहीं नाम नहीं, फिर गर्दन उठाकर दूर दृष्टि डालता है तो दूर की रेत उसे पानी जैसी मालूम होती है, फिर वह दौड़ लगाता है। वहाँ पर भी पानी उसे नहीं मिलता है। इस तरह दौड़ लगा-लगाकर वह अपने प्राण पखेरू उड़ा देता है। इसी तरह यह संसारी जीव इतने लम्बे ताने पर दौड़ता रहता है। ओह, हजार हो जायें तो सुख मिलेगा, लाख हो जायें तो सुख मिलेगा। इस तरह से तृष्णा बढ़ाकर वह इधर उधर दौड़ लगाता रहता है पर कही भी इसे सुख नहीं मिल पाता और अंत में अपने प्राण उड़ा देता है।

कर्ममुक्तस्वरूपदर्शी— यह ज्ञानी जीव रागद्वेष के विभावों से मुक्त तेज वाला व स्वभाव को स्पर्श करने वाला है और चाहे पहिले के किए गए ये कर्म हों, क्रिया मन, वचन ,काय की और चाहे आगामी काल में प्रोग्राम में बनी हुई क्रियाएँ हों उन समस्त कर्मों से वह ज्ञानी दूर रहता है। गये का शोक क्या, जो नहीं है उसका शोक क्या? वर्तमान में जो ज्ञानी इन विभावों से मुक्त अपने को ज्ञानज्योतिर्मय तक रहा है वह बीते की चिंताएँ क्या करेगा और भविष्य की वांछा क्या करेगा? यह ज्ञानी तो वर्तमान काल के उदय से भी अपने को भिन्न तक रहा है। पानी से भरे हुए हौज में तैल गिर जाय तो वह तैल उस पानी से मिल नहीं जाता, इसी तरह इस आनन्दमय आत्मा में ये विभाव पड़ गए हैं तो ये विभाव इस आत्मा से मिल नहीं जाते, ऐसा ज्ञानी तकता है।

ज्ञानी का संभाल —भैया ! मैं तो ध्रुव ज्ञानमात्र हूं—ऐसी भीतर में पकड़ जिसकी हो जाय उस के लिए तीनों लोक का वैभव तृणवत् है अथवा काक बीट की तरह है। चक्रवर्ती की सम्पदा इन्द्र सरिखे भोग काकबीट सम गिनते हैं सम्यग्दृष्टि लोग। यद्यपि यह जीव बोझ से लदा हुआ है, घर गृहस्थी के भार से दबा हुआ है, अरे दबे हुए में ही कुछ थोड़ासा चुप के से सरक जाय तो वह बोझ जहाँ का तहाँ पड़ा रह जायेगा और यह आनन्द मुक्ति को पा लेगा। जैसे बालक लोग आपस में ही हल्ला मचाते हैं। कोई लड़ का किसी दूसरे को जबरदस्ती घोड़ा बनाकर उसकी पीठ पर बैठकर घूमता है। वह लड़ का तनिक नीची कमर कर के धीरे से खिसक जाता है तो वह दूसरा लड़ का जहाँ का तहाँ ही रह जाता है । तो अपने इस उपयोग पृष्ठ पर बड़ा बोझ लदा है तो अपनी संभाल तब है जब कि धीरे से सरक कर किसी समय बाहर निकल जायें, बस सारा का सारा बोझ पड़ा रह जायेगा। स्वंय को फिर मुक्ति का आनन्द मिलेगा।

विविक्त ज्ञानस्वरूप की दृष्टव्यता — इस ज्ञानी को दृढ़तर आलम्बन किए गए चारित्र वैभव का बल है। जिस बल के प्रसाद से इस ज्ञान चेतना को ये ज्ञानीजन अनुभव करते हैं। जहाँ चमकती हुई चैतन्यज्योति सदा जागृत रहती है जिसने अपने ज्ञानरस से तीनों लोक को सींच डाला है ऐसे विज्ञानघनैकरस आत्मतत्त्व को देखो। इस ज्ञानचेतना का ही अनुभव करो। इस वर्णन में मूल बात यह

कही गयी है कि वर्तमान में जो विभाव आ पड़े हैं उन विभावों को भी अस्वभाव जानकर उन से विविक्त उपयोग बनाकर ज्ञानस्वरूप को निहारा करो। यही है सारे मल को जलाने वाली मुख्य ज्योति।

ज्ञानानुभुति से सकलसंकटसंहार — कैसे कर्म करते हैं, कैसे अनुभाग खिरता है, कैसे बंध मिटता है, कैसे शान्ति निकट आती है? सब का मूल उपाय एक यही है कि वर्तमान में हो रहे विभावों से विविक्त इस ज्ञानस्वरूप आत्मा को देखो और इसही ज्ञानस्वरूप में रुचि करो, इसमें ही लीन होने का यत्न करो, अवश्य ही ऐसा अलौकिक आनन्द जगेगा जिस आनन्द के प्रताप से भव-भव के संचित कर्मों का इतना बड़ा ढेर यों जल जायेगा जैसे बड़ेढ़ेर को जलाने में अग्नि का एक कण समर्थ होता है। मूलदृष्टि एक बना लो। हमें करना क्या है, हम पर बीत रही सारी बातों को भूलकर अपने आप का जो सहज ज्ञान स्वरूप है उस रूप अपने को मानते रहना है और बाहर की फ्रिक न करो । यह जगत असार और अशरण है। यहाँ अन्य किसी प्रकार से पेश नहीं पा सकते। सब को भुलाकर अपने ज्ञानमात्र आतमस्वरूप को ही देखो।

अपराधमुक्त्युपाय की जिज्ञासा—शब्दादिक बाह्य विषयों में आत्मा का दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण नहीं है, अत: उन विषयों में व विषयों से न तो हमारे गुणों का उत्पाद होता है और न उन से हमारे गुणों का विघात होता है, फिर भी यह जीव पूर्वसंस्कारवश उन विषयों में लगकर अपना घात करता है। ऐसे इस अपराध से बचने का कोई उपाय है, इस अपराध को दूर कर सकने का कोई मार्ग है जिस से उन सब अपराधों से दूर होकर मोक्ष मार्ग में लग सकूँ और उन से मुख मोड़ सकूँ, ऐसी जिज्ञासा होनी प्राकृतिक है। उस ही विषय में कह रहे हैं कि हाँ हैं वे उपाय अपराध से दूर होने के। वे उपाय हैं प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना। उनमें से प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में कहा जा रहा है।

गाथा 383

कम्मं जं पुंव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।

तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।383।।

जो पूर्वकृत कर्म हैं जिस के कि शुभ अशुभ आदि अनेक विस्तार विशेष हैं उन से अपने आत्मा को निवृत कर लेना सो प्रतिक्रमण है।

जीव की विभावपरिणत्तिरूप कर्म—जगत के जीव तीन प्रकार के कामों में आसक्त हो रहे हैं। पूर्वकृतकर्मोंमें, भावकर्मों में और वर्तमान कर्मोंमें। यहाँ कर्म शब्द बार-बार प्रयुक्त होगा, उनमें से अधिक स्थानों पर तो जीव की परिणति का अर्थ लेना क्योंकि जीव का वास्तविक कर्म जीव की परिणति है। कर्म नाम भावकर्म का सीधा है और द्रव्यकर्म में कर्म नाम उपचार से कहा गया है, क्योंकि क्रियते इति कर्म। जो किया जाय उसका नाम कर्म है। जो जीव के द्वारा किया जाय उसका नाम जीवकर्म है। इस मोही जीव का पूर्वकृत कर्मों में लगाव रहता है और वर्तमान कर्मों से लगाव रहता है और भावीकर्मों में भी लगाव रहता है।

पूर्वकृतकर्म में कर्तृत्वबुद्धि—जैसे कोई लोग पहिले किए गए कामों की याद कर के अब भी अपनी ऐंठ बगराते हैं और उन किए गए कर्मों के सम्बन्ध में कोई विवाद आ जाय तो कलह करते हैं, उनमें भी आसक्ति रखते हैं। जैसे किसी के बाप दादाने कोई मन्दिर बनवाया था सो अब चाहे अपन खुद गरीब हो गए पर यह ऐंठ बराबर रहती है कि मेरे दादा बाबा ने यह मंदिर बनवाया। यद्यपि दूसरें के किए गए कर्मों में इसकी आसक्ति नहीं होती, वहाँ भी अपने किए हुए कर्मों में आसक्ति है, पर उस के विषयका, आश्रयभूत पदार्थ का कर्तव्य बना हुआ है।

प्रतिक्रमण—पूर्वकृत कर्मों से निवृत्त होना इसका नाम है प्रतिक्रमण अथवा उन पूर्वकृत कर्मों के कारण जो द्रव्यकर्म का बंधन हुआ था उन को आज निष्फल कर देना वह प्रतिक्रमण है। ये कर्म शुभ अशुभ के भेद से और मूल व उत्तर प्रकृति अर्थात् प्रकृति के भेद से अनेक प्रकार के हैं। उन से अपने आत्मा को निवृत्त करना है। वह कौनसा उपाय है जिस से यह आत्मा अपने किए हुए अपराध से दूर हो सकता है? वह कर्तव्य है कारण समयसार में स्थित होना अर्थात् ज्ञानस्वभावी जो कार्य समयसार का उत्पादक है, जिस शक्ति की व्यक्तियां केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तसुख, अनन्तशक्ति आदि गुणविकासरूप होती हैं ऐसे कार्यसमयसार के उत्पादक कारणसमयसार में स्थित होकर जो अपने आत्मा को पूर्वकृत कर्मों से अलग कर देता है वह पुरुष साक्षात् प्रतिक्रमण है।

उदाहरणपूर्वक प्रतिक्रमण की चिन्मयता का समर्थन—जैसे धर्म, धर्म कहीं डोलता नाचता हुआ नहीं मिलेगा, किन्तु जो धर्मात्मा लोग हैं, धर्म का पालन करने वाले जीव हैं वे ही धर्म कहलाते हैं और जो शुद्ध आत्मा हो गए, धर्म का जिन के पूर्ण विकास हुआ है वे धर्म साक्षात् हैं ही। भगवान का नाम है धर्म की मूर्ति। उसे अहिंसा की मूर्ति कहो, सत्य की मूर्ति कहो, धर्म की मूर्ति कहो, ज्ञान की मूर्ति कहो, वह प्रभु साक्षात् धर्म है इसी तरह प्रतिक्रमण कुछ अलग व्यवस्थित बात नहीं है किन्तु जो पूर्वकृत कर्मों से अपने आप को अलग कर देता है उस पुरुष का ही नाम प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण बनता है कारणसमयसार में स्थित होनेसे। कैसा है यह कारणसमयसार कि समतारस परिणाम से भरपूर है। ज्ञाता रहना या रागद्वेषरहित रहना, ये सब एक ही स्थिति के नामान्तर हैं।

प्रतिक्रमण की परिस्थिति – जब यह जीव इस लोक की और परलोक की आकांक्षाओं से रहित बनता है, ख्याति पूजा की चाह के विकल्प से अत्यन्त विविक्त हो जाता है, अन्य पदार्थों के लाभ की वांछासे, तृष्णा से दूर होता है, देखे गये, सुने गये, अनुभव किए गए सर्वप्रकार के भोगों के स्मरण से दूर होता है, सर्वप्रकार के बाह्य आलम्बन से हटकर शुभ अशुभ संकल्पों से परे होता है उस समय की स्थिति में अनुभवे हुए इसकारणसमयसार में स्थित होकर यह ज्ञानी संत पूर्वकृत परिणामों से अत्यन्त दूर हो जाता है।

साक्षात् प्रतिक्रमणमयता – अपराध बहुत किया है । अपने आप के स्वभावदृष्टि से अलग रहने का नाम अपराध है। यह अपराध अनादि से किया जा रहा है। इस अपराध से दूर होने की स्थिति यह है कि संकल्प विकल्प रहित शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावात्मक तत्व के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुभवन रूप तो अभेद रत्नयत्रयरूप धर्म है उस धर्म में अपने उपयोग को स्थित करना, सो जब ऐसा ज्ञान रस करि

भरपूर समतारस करि परिपूर्ण कारणसमयसार में स्थित होकर जो पुरुष पूर्वकृत कर्मों से अपने आत्मा को निवृत्त कर लेता है वह पुरुष साक्षात् प्रतिक्रमणरूप है।

व्यवहारप्रतिक्रमण का प्रयोजन—पंचेन्द्रिय के विषयों में मन के विकल्पोंमें, शरीर में अपना उपयोग लगाकर जो अपराध किया है उन अपराधों से दूर होने का उपाय प्रतिक्रमण है। अपराध बन जाने पर व्यवहारप्रतिकमण भी किया जाता है, उस व्यवहारप्रतिक्रमण का यह भाव है कि चरणानुयोग की पद्धति से अपराध सम्बन्धी मलिनता और पछतावे को दूर कर के मैं अब इस योग्य बन जाऊँ कि निश्चयप्रतिक्रमण में बढ़ सकूँ । व्यवहार धर्म का प्रयोजन निश्चय धर्म में लगना है। इसी प्रकार व्यवहारप्रतिक्रमण का प्रयोजन निश्चयप्रतिक्रमण में लगना है। जि से जीव को निश्चय प्रतिक्रमण की खबर ही नहीं है ऐसा मोही जीव साधुव्रत लेकर भी, रोज-रोज कठिन प्रतिक्रमण प्रायश्चित तपस्या कर के भी अपने आप की काय को सुखा ले, फिर भी उसे कर्मनिर्जरा का साधनभूत प्रतिक्रमण नहीं हो पाता, क्योंकि कर्मों की निर्जरा निश्चयप्रतिक्रमण के द्वारा होती है।

कर्मबन्ध की निमित्तनैमित्तिक योग्यता – ये कर्म बंध के उद्यमी हुए कार्माण पुद्गल सर्व अचेतन हैं इन को ज्ञान नहीं है जो यह देख सकें कि यह आत्मा कहाँ बैठा है, कहाँ कहाँ हिल रहा है? ये हाथ हिलायें तो मैं बँध जाऊँ, न हिलायें तो न बँधू इतनी समझदारी कर्मों में नहीं है। किन्तु जैसे अग्नि का निमित्त पाकर बटलोही का पानी गरम हो ही पड़ता है इसी प्रकार मिथ्यात्व रागद्वेष के लगाव का सम्बन्ध पाकर ये कर्माणवर्गणाएँ बँध ही जाती हैं। उसमें कर्मों की कोई बेइमानी नहीं है। जैसे ये सब पुद्गल अचेतन कोई बेईमान नहीं है- घड़ी में चाभी भर दें और उस के पेंच पुर्जे बिल्कुल व्यवस्थित हों तो वह 7 दिनों तक चलती रहेगी। आप को घड़ी की खबर रहे तो, न रहे तो। आप कभी गप्पों में लग जायेंगे तो घड़ीतो अपने आप चलती रहेगी। वह यह न देखेगी कि मेरे मालिक को काम करने जल्दी जाना है इसलिए थोड़ी देर की बंद हो जाऊँ । वह तो ईमानदारी से अपना काम करेगी। ये सब अचेतन पदार्थ ईमानदारी से अपना काम बर्त रहे हैं। जैसा इन का योग है जैसा इन का सुयोग है, उस प्रकार ये सब होते रहेंगे।

अपराध का सामर्थ्य और प्रतिक्रमण—भैया ! बेईमानी पर उतारू तो यह समझदार आत्मा बन गया है। जिस में ज्ञान है किन्तु साथ में भ्रम और विकार है, ऐसा पुरुष पदार्थ तो है किसी भाँति और प्रवृत्ति करता है किसी भांति । कितने अपराध कर डाले हैं जिन की कोई गिनती नहीं है। एक सेकण्ड में अनन्त अपराध हो जाते हैं। पर अनन्तकाल के अपराधों की कहानी क्या कहे? उन सब अपराधों से दूर होने का एक ही सुगम उपाय है कि समस्त बाह्य पदार्थों का आलम्बन हटाकर उपयोग को दूर कर के संकल्प विकल्प रहित सहजज्ञान स्वभावमात्र अपने अंतस्तत्त्व के दर्शन करना उसही में उपयोग को लगाना, बस इसही एक उपाय से ये समस्त संकट निवृत्त हो जाते हैं।

पूर्वबद्ध अनन्तकर्मों के दूर करने का एकमात्र उपाय—जो पुरुष पुद्गल कर्म के उदय से होने वाले वर्तमान परिणामों से अपने आत्मा को अलग करता हो वही पुरुष उन वर्तमान कर्मों के कारणभूत,

वर्तमान अवस्था के कारणभूत पूर्व कर्मों का परिहार करता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण हो जाता है। लो कुछ और भी एक बात सुगम आ गयी। पूर्व के अनन्त अपराधों से हटने के लिए पूर्व के अनन्त अपराधों में एक-एक से हटने का श्रम नहीं करना है, किन्तु वर्तमान में आ पड़े हुए एक परिणमन से हटने का पुरुषार्थ करना है, क्योंकि पूर्वकृत कर्म पड़े हुए हैं, वे पड़े है तो, पड़े रहे। उनके द्वारा विकल्प तो तब आता है जब उदयकाल आता है। वर्तमान उदय काल में आए हुए विभावों से उपयोग को हटाकर सहज ज्ञानस्वरूप मात्र कारणसमयसार में जो पहुंचता है उस के पूर्वकृत अनन्त कर्म स्वयं दूर हो जाते हैं।

व्यवहारप्रतिक्रमण की आवश्यकता – कोई अपराध बन जाय। अब जब तक अपराध का स्मरण और पछतावे का विकल्प रहता है तब तक निश्चय मोक्षमार्ग की ओर गति नहीं हो पाती है। इस कारण व्यवहारप्रतिक्रमण के मार्ग से अपने आप में ऐसा समतल बना लेना कि जहाँ निश्चयमोक्षमार्ग में हमारी गति हो सके। इसके अर्थ ही व्यवहारप्रतिक्रमण है। गुरु से अपने दोषों की सही आलोचना कर के उनके द्वारा बताए गए दंड को बड़ी प्रसन्ता के साथ सहे, इसके प्रसाद से उसकी रुकावट, अर्गला समाप्त हो जायेगी। इस प्रकार से प्रसन्नचित्त होकर उस दंड को ग्रहण करना सो यही है व्यवहारप्रतिक्रमण। व्यवहारप्रतिक्रमण न किया जाय तो जीव में स्वच्छन्दता आ जाती है। क्योंकि कोई आन अब नहीं रही।

व्यवहारप्रतिक्रमण के प्रयोजन की साधना में व्यवहारप्रतिक्रमण की सार्थकता—दोष हो जाने पर दोष की परवाह न करना अथवा मैं ज्ञान वाला हूँ, समझदार हूँ, निश्चय तत्त्व को जानता हूँ, उस ओर ही अपनी दृष्टि लगाकर सब अपराध दूर कर लूँगा, ऐसे ख्याल से व्यवहारप्रतिक्रमण अथवा दण्ड न स्वीकार करना यह प्रमाद प्रगति में बाधक बनेगा। व्यवहार में हैं तो व्यवहारप्रतिक्रमण करना तो आवश्यक है ही, पर व्यवहारप्रतिक्रमण में जो गुरु ने दण्ड बताया और उसे भुगत ले तो अब मैं केवल शुद्ध हो गया, अब मैं कर्मों को काट लूँगा, ऐसा ख्याल न बनाना। व्यवहारप्रतिक्रमण का प्रयोजन निश्चयप्रतिक्रमण में लगना । जैसे कोई पुरुष चाकू की धार बना रहा है पत्थर पर घिसकर तो धार ठीक बनी या नहीं, इसकी परीक्षा के लिए उसकी धार पर वह अपनी अंगुली फेरता है। समझ में आ जाय कि हाँ धार ठीक बन गयी तो अपने काम में लग जाता है, जिस के लिए धार पैनी की थी, इसी तरह व्यवहार प्रतिक्रमणक के द्वारा अपने आप के प्रज्ञा की धार पैनी की जा रही है। उस किए गए व्यवहारप्रतिक्रमणक से यदि आप में थोड़ा बहुत अपने कारणसमयसार की झलक की है तो वह चक्कू की धार पर अंगुली फेरने की तरह परीक्षा है। उस से आप जान सकेंगे कि हाँ हमने विधिपूर्वक प्रतिक्रमण कर लिया है।

मलिनता व निर्मलता का प्रभाव—एक बंगाल का किस्सा है, गुरुजी ने सुनाया था कि एक बहुत बड़े जमींदार की लड़ की थी, द्रोपदी जिस का नाम था, विधवा हो गयी थी छोटी उमर में । तो जमाना बड़ा स्वार्थभरा है, असहाय लोगों को स्थान कम मिलता है। तो पिताने अपने ही घर बुला लिया और एक बाग व कुछ जगह जमीन सम्पत्ति उस के नाम लिख दी ताकि इसका गुजारा ठीक चले। वह अपने पिता के घर में ही रहने लगी। कुसंयोग की बात है कि उस नगर के किसी पुरुष के साथ अनुचित सम्बन्ध बन गया। सो इतना पापों का परिणाम फूटा कि बाग के आम कडुवे हो गए और बावड़ी में जो पानी भरा था उसमें कीड़े पड़ गये। बहुत दिनों के बाद में लड़की को बड़ा पछतावा हुआ, प्रायश्चित लिया, दंड भोगा

और ज्ञान व वैराग्य की ओर उसने अपना उपयोग लगाया। इतनी विरक्त हो गई कि सब कुछ त्याग कर देने का भाव आ गया। वह एक दिन बोली कि पिता जी हमारा भाव है कि अमुक तीर्थ पर मूर्ति पर जल धारा दूं, जलधारा देते ही मेरे प्राण निकलेंगे। तो जाने का दिन निश्चित हो गया, गांव के सब लोग पहुंचाने के लिए गए। तो जो लोग उस लड़की के चरित्र को जानते थे वे मुँह में रुमाल लगाकर हँसने लगे कि देखो अब यह बिल्ली सैकड़ों चूहों को मारकर हज्ज करने जा रही है। तब जाते समय उस द्रोपदी ने कहा कि अब मैं वह नहीं हूँ जो इस गाँव की पहिले थे। अब मैं तीर्थयात्रा को जा रही हूँ। वहाँ मूर्ति पर जलधारा दूंगी और जलधारा देते ही प्राण निकल जायेंगे। यदि तुम को हमारी परीक्षा करनी हो तो अब बाग में जावो और आम चखो और बावड़ी का पानी पिओ। यह आगे चली गयी, लोगोंने जाकर आम चखे तो बड़े मीठे और पानी पिया तो बड़ा मीठा । लोगों को विश्वास हुआ कि अब इसके पवित्रता बढ़ी है और वहाँ भी देखने गये, जैसा कहा था वैसा ही हाल हुआ।

अन्त:प्रतिक्रमण — जब पापों से ग्लानि अंतरंग में होती है और हित स्वरूप आत्मतत्त्व की भावना जगती है तब प्रतिक्रमण और प्रायश्चित का सही अर्थ हो पाता है। जो पुरुष पुद्गलकर्म के उदय से होने वाले परिणामों से अपने आप को निवृत्त कर लेते हैं वे वर्तमान उदय के कारणभूत पूर्वकर्मों का प्रतिक्रमण करते हुए स्वयं ही प्रतिक्रमण का स्वरूप होते हैं। ऐसे प्रतिक्रमण के भाव के निमित्त से ये पूर्वकृत अपराध निवृत्त हो जाते हैं तब ये ज्ञानीसंत साक्षात् प्रतिक्रमणस्वरूप होते हैं।

प्रतिक्रमणप्रसंग में शिक्षारूप उपसंहार—यह मोही प्राणी पूर्वकृत कर्मों में अनुराग रखकर अपने गर्व को पुष्ट करता है। मैंने ऐसा किया था, मेरे ऐसा वैभव था, उन साधनों की स्मृति कर के अपने स्वरूप से चिगा रहता है। सो यह अत्यन्त व्यर्थ की बात है। जो गुजरे सो गुजरे अब उसमें क्या लालसा रखना? पूर्वकृत करतूत की स्मृति पूर्वबद्धकर्मों के विपाक भोग लेने का प्रधान साधन है। इन पूर्वकृत अपराधों से वही पुरुष बचता है जो सदा वर्तमान अंत:प्रकाशमान निज सहज स्वभाव को दृष्टि में लेकर आत्मविश्राम करता है। यहाँ प्रतिक्रमण वर्णन कर के अब भविष्य के कर्मों से निवृत्त होने को प्रत्याख्यान का वर्णन करते हैं।

गाथा 384

कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि वज्झइ भविस्सं।

तत्तो णियत्तये जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया।। 384।।

आगामी काल में शुभ अशुभ कर्म जिस भाव के होने पर बँधे, उस भाव से जो ज्ञानी निवृत्त होता है वह ज्ञानी प्रत्याख्यानस्वरूप है।

एक ही पुरुषार्थ में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचना की सिद्धि— हम को भावकर्म न बँधे, आगामीकाल में भी कर्मों का संयोग न जुटे ऐसी बात यदि चाहना है तो वर्तमान भाव जो कि कर्मबंध के कारण हैं उन भावों से निवृत्त होना चाहिए। भविष्य के कर्म न बँधे, यह वर्तमान भावों से पृथक् होकर

ज्ञानस्वरूप में स्थिर होने पर निर्भर है। प्रतिक्रमण का जैसा एक ही प्रयत्न था कि पुद्गल कर्म के उदय से होने वाले वर्तमान भावों से पृथक् ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप में स्थिर होना वै से ही यही है भविष्य के कर्मों से दूर होने का भी साधन। एक ही बात करने में प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान दोनों हो जाते हैं और आलोचना भी परमार्थत: निश्चयरूप हो जाती है। इन तीनों के लिए तीन प्रकार के यत्न नहीं करते हैं किन्तु एक ही यत्न करना है कि पुद्गलकर्मोदयजनित वर्तमान भाव से पृथक् ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप को दृष्टि में लेना है और उसमें स्थिर होना है।

एक यत्न में तीनों बात पा लेने पर एक लौकिक कथानक—एक कथानक है कि एक पुरुषने देवता की आरधना की तो देवता प्रसन्न होकर बोला कि मांग लो वर जो चाहते हो। उस पुरुषने कहा कि हम को दो चार घंटे की मोहलत दो, हम घर जाकर पूंछ आऐं तब तुम से वर मांगेंगे।.... अच्छा जावो पूछ आवो। उसने पिता से पूछा कि मैं देवता से क्या माँगू। तो पिताने कहा बेटा धन माँग लो क्योंकि बाप को धन की बड़ी अधिक तृष्णा है। यद्यपि मृत्यु के दिन निकट आए हैं। भोगेंगे वे लड़के ही, मगर फिर भी पिता का धन के प्रति बहुत भाव रहता है। बेटा धन मांग लो। अब मां के पास गया। मां थी अंधी। तो अंधा होने में बडा़ क्लेश मानते हैं। पुरुष ने पूछा क्या मांगू मां..... बेटा मेरी आंखें मांग लेना। स्त्री के पास गया बोला क्या मांगे देवता से? स्त्रीने कहा कि एक बेटा मांग लो। अब वह इस फ्रिक्र में पड़ गया कि तीनों ने तीन बातें कहीं। किस की चीज मांगे किस की न मांगे। आज का सा जमाना हो तो कहो मां बाप को ठुकरा दें और स्त्री की चीज मांग लें। अब वह इस विचार में था कि क्या करूँ? वह पेरशानी में आ गया। एक से ही पूछता तो भला था। अब तुरन्त उसे अक्ल आयी। दूसरे दिन जब देवताने कहा, मांगो क्या मांगते हो? तो वह बोला कि मेरी मां अपने पोते को सोने के थाल में खीर खाते हुए देखले। एक ही बात मांगी ना। अरे तीनों बातें आ गई। देवता तीन बातें देने को तैयार न था। उसने एक ही बात में आंखें, बेटा और धन पा लिया।

धर्म के अर्थ एक काम—भैया ! धर्म के अर्थ एक काम करो, ज्यादा मत करो। वह एक काम कौनसा हो जिस के प्रसाद से सर्व अपराधों के दूर करने में समर्थ प्रतिक्रमण भी बन जाता है, प्रत्याख्यान भी बन जाता है और आलोचना भी बन जाती है। ऐसा कार्य केवल एक यही है कि पुद्गल कर्म के विपाक से होने वाले भावों से अपने आत्मा को निवृत्त कर लो। इसमें 3 बातें आ गयीं। पूर्वकृत कर्मों से भी जुदा हो गया, भविष्यत् कर्मों से भी जुदा हो गया और वर्तमान कर्मों से जुदा भावना में है ही। संसार के प्राणी जितना भविष्य की वांछा में मग्न हैं उतना अतीत की याद नहीं रखते हैं। यद्यपि मोहमें दुतर्फा ही दौड़ चलती है फिर भी अधिकतर भविष्य की वांछावों की ओर इसकी ज्यादा दौड़ है। अब यह करेंगे, अब यह होगा, फिर यह होगा, मारे आकांक्षावों के कभी चैन ही नहीं मिलती है। अच्छा कर लो आकांक्षा और जवाब भी देते जावो, फिर क्या होगा? लखपति बन गये। फिर क्या होगा? संतान समर्थ हो गए अच्छे पढ़े लिखे बन गये। फिर क्या होगा? वृद्धावस्था आ जावेगी। फिर क्या होगा? सब छोड़कर चले जायेंगे। फिर क्या होगा? आखिर मरेंगे ही। फिर क्या होगा? करनी का फल भोगेंगे।

शेखचिल्लीपन— भविष्य की आकांक्षवों में शेखचिल्ली की उपाधि दी जाती है कि शेख चिल्ली बन रहे हैं। बचपन में और तरह के भाव भविष्य के लिए और जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं वै से ही आकांक्षावों का ढ़ेर विभिन्न होता जाता है। एक सेठजी घी का घड़ा लिए हुए जा रहे थे। सेठने एक मजदूर को बुलाया और कहा कि यह घड़ा ले चलो। क्या मजदूरी लोगे? चार आने लो। वह मजदूर सिर पर घड़ा रखे हुए चला जा रहा है। सोचता जाता है कि आज तो चार आने मिल गये। चार आने के चने खरीदेंगे। फिर खोंचा लगायेंगे, 8 आने हो जायेंगे, फिर 8 आने का खोंचा लगायेंगे दो रुपया हो जायेगा, फिर दो चार खोंचा लगायेंगे तो 5 रु. हो जायेगे। फिर 5 रु. की बकरी खरीदेंगे, घी दूध बेचेंगे, फिर गाय हो जायेगी, फिर भैंस हो जायेगी, चला जा रहा है ठुमक ठुमक और ऐसा सोचता जा रहा है, फिर दुमंजला मकान बनवायेंगे, फिर शादी करेंगे। बच्चे होंगे। कोई बच्चा बुलाने आयेगा कहेगा कि चलो दद्दा रोटी खाने मां ने बुलाया है, कहेंगे कि अभी नहीं जायेंगे, फिर दुबारा कहेगा तो मना कर देंगे, फिर तिबारा कहेगा तो जोर से सिर हिला कर लात पटककर कहता कि चल हट अभी नहीं जायेंगे तो इतने में वह गगरी सिर से गिर गयी और फूट गई। सेठने भी दो चार डंडे जमाये। ऐसे ही विचारों में रहकर यह जीव अपने जीवन को खो देता है। मिलता कुछ नहीं है। जैसे वह पहिले था वै से ही अब है। मानने की बात अलग है। उस से क्या सहारा होता है? गुजर गये फिर तो एक मिनट बाद दूसरा फैसला हो जाता है।

एक शेखचिल्ली का दृष्टान्त—एक लकड़हारा था। वह लकड़ी का गट्ठा लिए हुए अपने कुछ साथियों के साथ जा रहा था। गरमी के दिन थे। बरगद का एक पेड़ मिला, सो सबने सोचा कि जरा एक आध मिनट आराम कर लें। उस पेड़ के नीचे लकड़ी धर दिया और सब सो गए। सो नींद आयी ही थी कि उनमें से जो सिरताज था वह एक स्वप्न देखता है कि मैं राजा बन गया हूँ, सभा लग रही है। छोटे-छोटे राजा आ रहे हैं, अगवानी कर रहे हैं, नमस्कार कर रहे हैं और बड़ी प्रसन्नता से उन से बातें हो रही हैं। वह खूब आनन्द में मग्न हो गया। स्वप्न की बात है। सोते सोते दो घंटे व्यतीत हो गए। तो एक लकड़हारेने उसे जगाया, अरे चलो देर हो गयी। जब जगा तो देखा कि राजपाट अब कुछ नहीं रहा। अब तो वह उस जगाने वाले से लड़ाई लड़ने लगा, दो चार तमाचे भी मारे। कहा कि तूने मेरा राज्य छीन लिया। सब लोग दंग रह गये कि यह मेरा सिरताज क्या कह रहा है? जैसे उसका कुछ नहीं छिना, केवल कल्पना में ही मान लिया था, सो दु:खी हो रहा था। इसी तरह ये समस्त समागम छिदो, भिदो, छूट जावो तो भी कुछ नहीं छिना किन्तु कल्पना में जो मान रखे थे, मिथ्यात्व की प्रबलता है। इस कारण यह सदैव दु:खी रहता है।

ज्ञानी आत्मा की प्रत्याख्यान स्वरूपता— जो पुरुष अनेक प्रकार के विस्तार प्राप्त शुभअशुभ भविष्य के कर्मों से जो कि रागादिक प्राप्त होने पर बँधा करते हैं उन से जो अपने आप को जुदा कर लेते हैं वे पुरुष स्वयं प्रत्याख्यान स्वरूप हैं। ऐसा करने का उपाय क्या है? ज्ञानादिकस्वरूपमय निज तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान और ज्ञान तथा उसमें ही स्थिर होना यही है परमसमतापरिणाम। उस समतापरिणाम में स्थित होने के उपाय द्वारा जो भविष्यवत् कर्मों से भी निवृत्त होता है उस पुरुष का नाम प्रत्याख्यान है, उस पुरुष के भाव का नाम प्रत्याख्यान है। बहुत बडा़ काम है यह कि जो उदय आ रहा है, विभाव बन

रहा है उस के बारे में ऐसा ध्यान रहे कि यह मेरा स्वरूप नहीं है। यह मुझे बरबाद करने के लिए होता है। औपाधिकभाव है, मलिनता है इससे हमारा अहित है ऐसा जाने और अपने शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूप को परमहितरूप माने ऐसा परिणाम दुर्लभ और अनुपम परिणाम है। इस ही परिणाम के बल पर यह जीव प्रत्याख्यान करता है।

प्रत्याख्यान अथवा भविष्य की उज्ज्वलता— व्यवहार में प्रत्याख्यान नाम है भावों को मलिन करने के आश्रयभूत बाह्य पदार्थों का त्याग करना। बाह्य पदार्थों के त्याग करने का प्रयोजन निश्चय प्रत्याख्यान है। इस निश्चय प्रत्याख्यान द्वारा यह जीव अपने भविष्य के क्षणों को साफ बनाता है। जैसे लाइन क्लियर हो तो गाड़ी नि:शंक आगे बढ़ती है, इसी तरह यह ज्ञानी संत पुरुष भविष्य की लाइन को क्लियर कर रहा है। आगामी कर्म न रहें, वासना न रहें, संस्कार न रहें तो यह जीव मोक्षमार्ग में सुगमतया बढ़ेगा। मोक्षमार्ग के साधन में प्रधान अंगभूत प्रत्याख्यान का वर्णन कर के अब आलोचना का वर्णन करते हैं।

गाथा 385

जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडिय अणेयवित्थरविसेसं।

तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया।।385।।

आलोचना में भी प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान की तरह वही एक उद्यम— अनेक प्रकार का जिस का विस्तार विशेष है ऐसे उदय में आये हुए शुभ और अशुभ कर्मों को जो मनुष्य चेतता है अर्थात् यह मैं नहीं हूँ, मैं ज्ञान मात्र हूँ, इस प्रकार जो सावधान रहता है वह पुरुष आलोचनास्वरूप है। इस आलोचना के स्वरूप में भी वही एक बात आयी है कि पुद्गलकर्म के विपाक से उत्पन्न हुए सर्वभावों से अपने को न्यारा तकना सो आलोचना है।

तकने व देखने में अन्तर— भैया ! तकने और देखने में कुछ फर्क है। देखा जाता है चौड़े-चौड़े और त का जाता है किसी आवरणमें। बच्चे लोग तक्का-तक्का खेलते हैं ना। भींत में कोई आरपार आला है उसमें से त का करते हैं। यह मोटे रूप में तकना और देखना एक ही बात है, मगर फर्क है। अगल बगल बहुत से आवारण रहते हुए भी पायी हुई सुविधा से किसी एक मार्ग द्वारा देखने का नाम तकना है, और इसलिए आरपार आले का नाम तक्का रखा है। इस भींत में एक भी तक्का नहीं है ऐसा कहते हैं ना। तो तकना तब होता है जहाँ देखना बहुत मश्किल हो। किसी मार्गद्वार से देखें तो उसे तकना कहते हैं।

निज में निज तक्का से निज को तक लेने की प्रसन्नता— यह ज्ञानी जीव अपने आप में निज स्वरूप को तक रहा है क्योंकि आवरण बहुत है, विषय कषायों की सारी भींत उठी हुई है। अपने आप में अनेक प्रकार के द्रव्य कर्मों के पुंज हैं। इस घिरे हुए स्थल में एक ज्ञान का तक्का मिल गया है जिस तक्के में दृष्टि देकर बहुत भीतर की बात देख रहे हैं। मैं इन कर्म विपाकों से उत्पन्न हुए भावों से विविक्त ज्ञान मात्र हूँ। जैसे तकने वाला थोड़ा जिस को तकने की कोशिश में है देख ले तो तक कर ही खूब हँसता है

और खुश होता है, इसी तरह अपने महल में जिस को तकना है उसको तक कर यह अविरत सम्यग्दृष्टि बालक बड़ा प्रसन्न होता है। बालक भूल जाता है तो भीतर बैठी मां उसे कोई शब्द कहकर आकृष्ट करती है कि देखो मुझे हम कहाँ बैठी हैं? तो वह बालक उस तक्के से देखता है। तक लिया तो वहीं पैर मचलाकर खुश होता है। इसी तरह कभी-कभी भीतर से इस ज्ञानानुभूति मां की आवाज आती है तो यह सम्यगदृष्टि बालक अर्थात् जो चारित्र में स्थिर नहीं हुआ है ऐसा सम्यग्दृष्टि बालक ज्ञानानुभूति को तकने में फिर उद्यत होता है। इसके बाद तो फिर यह होता है कि मुझे कुछ काम करने को नहीं रहा। सो मुद्रा के साथ अपने सारे ख्यालों को भुलाकर प्रसन्न हो जाता है। यही है सम्यक् आलोचना, निश्चय आलोचना।

एक पुरुषार्थ में कार्यत्रितयता —जिसने वर्तमान विभाव से भिन्न निज ज्ञानस्वरूप की दृष्टि कर के विभाव से निवृत्ति पा ली है उसने सर्व पूर्वकर्मों का प्रतिक्रमण कर ही लिया, क्योंकि पूर्वबद्ध कर्म निष्फल हो गए उसके, सो आप स्वयं प्रतिक्रमणस्वरूप है और इस ही जीव का उस वर्तमान विभाव से भिन्न अपने आप के मनन द्वारा भविष्यत् कर्मों को भी रोक दिया है क्योंकि वर्तमान विभावों का ही तो कार्यभूत भविष्यत् कर्म है। सो भविष्यत् कर्म के निरोध से यह जीव प्रत्याख्यानस्वरूप हो गया है। जो कर्म विपाक से आत्मा अत्यन्त भेद के साथ देख रहे हैं, ऐसा आलोचनास्वरूप तो यह है ही। इस प्रकार यह जीव नित्य प्रतिक्रमण करता हुआ, प्रत्याख्यान करता हुआ और आलोचना करता हुआ पूर्वकर्मों के कार्यों से और उत्तरकर्मों के कारणों से यह निवृत्त हो गया है।

उपेक्षामृत —जैसे कहते हैं ना कि पचासों बाते कही, किन्तु एक भी न सुनी तो रूठने वाला विवश हो गया। यह ज्ञानी जीव यत्न कर रहा है कि तुम कितना ही उदय में आवो, हम तो अपने ज्ञानस्वभाव के देखने में ही लगे हैं। तो वह भी विवश हो जाता है और इस सम्यग्ज्ञान, विवेक, आत्मबल से वे कर्म उदय क्षण से पहिले ही संक्रांत होकर खिर जाया करते हैं। इस प्रकार यह जीव प्रतिक्रमण करता हुआ प्रत्याख्यान करता हुआ और चूँकि वर्तमान विपाक से अपने स्वरूप को अत्यन्त भेदरूप में देख रहा है, सो आलोचना स्वरूप होता हुआ यह पुरुष स्वयं चारित्र की मूर्ति है। चाहे प्रतिक्रमण आदिक कहो, चाहे ज्ञानस्वभाव में लगना कहो और चाहे चारित्र कहो, तीनों का एक ही प्रयोजन है।

ज्ञानचेतनामय परमवैभव — भैया ! शांति का कारण चारित्र है, चारित्र ही धर्म है और धर्म समतापरिणाम ही है। जब मोह और क्षोभ का परिणाम नहीं रहता है तो उस जीव को धर्म कहते हैं, चारित्र कहते हैं। यह जीव रागादिक विभावों से मुक्त होकर और भूत, वर्तमान व भावी समस्त कर्मों से अपने को विविक्त देखकर ज्ञानचेतना का अनुभव कर रहा है। किन्हीं शब्दों से कहो, चीज एक ही है। ज्ञानी ज्ञानचेतना का अनुभव कर रहा है; ज्ञान, चारित्रस्वरूप हो रहा है। ज्ञानी प्रतिक्रमणमय है, प्रत्याख्यानमय है, आलोचनामय है। ज्ञानी ज्ञानस्वभाव में निरन्तर विहार कर रहा है। यह सब ज्ञानी का ज्ञानत्व के नाते से सहज विलास है। यही ज्ञानी का उत्कृष्ट वैभव है, जिस में रत होकर शांत रहा करता है।

आलोचना के पुरुषार्थ में प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान की गर्भितता—ज्ञानी जीव सम्यग्ज्ञान हो जाने के कारण अपने वर्तमान विभावों से पृथक् ज्ञानस्वभावी निज तत्त्व को चेतता रहता है। वह कार्य एक ही कर रहा है। पुद्गल कर्मोदयजनित भावों से पृथक् ज्ञानस्वभावी अंतस्तत्त्व को चेत रहा है। इस एक ही कर्म के करने में ये तीन बातें हो जाती है। यह ज्ञानी पूर्वकर्मों के कार्य से निवृत्त हो रहा है और भावी कर्मों के कारणों से निवृत्त हो रहा है और वर्तमान कर्मसे, कार्यों से विरक्त हो रहा है। ऐसे इस मोक्षमार्ग के गमन के प्रकरण में यह जीव एक धुनि से जि से मुक्ति कहते हैं उसकी और बढ़ रहा है। आलोचना ही प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का मूल साधन है। इस निश्चय प्रसंग में इस ज्ञानी ने आलोचना की है। इस निश्चय आलोचना के साथ निश्चय प्रतिक्रमण और निश्चय प्रत्याख्यान स्वयमेव हो जाते हैं।

व्यवहार आलोचना का स्थान - व्यवहार में व्यवहारप्रतिक्रमण कर लेना सरल है। हो गया कोई अपराध तो ले लो दण्ड। और वर्तमान में व्यवहारप्रत्याख्यान का भाव बन लेना भी सुगम है कि अब मैं ऐसा न करूँगा किन्तु गुरु के समक्ष स्वयं की आलोचना करना व्यवहार में कठिन मालूम होता है। अपने दोष अपने मुख से कह दें कोई तो इस आलोचना से ही पापों की शुद्धि प्राय: हो जाती है। बिना आलोचना के प्रतिक्रमण लाभदायक नहीं है, बिना आलोचना के प्रत्याख्यान लाभदायक नहीं है। यह व्यवहार आलोचना की बात कही जा रही है। कितने ही दोष केवल आलोचना से दूर हो जाते हैं, प्रतिक्रमण और प्रायश्चित करने की आवश्यकता नहीं होती, कितने ही दोष आलोचना और प्रतिक्रमण से शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु आलोचना के बिना दोषों की शुद्धि नहीं मानी गयी है।

निश्चय आलोचना से ज्ञानीसंत वर्तमान कर्म विपाक से उत्पन्न हुए भावों से अपने आप को चेत जाने में लगा है। इसका ही अर्थ यह हो गया कि पूर्वकृत जो कर्म हैं उन को निष्फल बना दिया है। इसका ही अर्थ यह हो गया कि आगामी काल के कर्म बंधनों के क्षोभ अब उन से छूट गए। अन्य वस्तु का रंच भी विकल्प न हो, जरा भी लगाव न हो तो यह आलोचना सफलतापूर्वक बनती है।

आलोचना में महती सावधानी की आवश्यकता – जैसे व्यवहारआलोचना में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। निर्दोष आलोचना बने तो आलोचना तप कहलाता है। इसके बेढ़ंगे दोष हैं। बहुत से आदमी बैठे हों, आचार्यदेव से अपने-अपने दोष की बातें कह रहे हों, होहल्ला मच रहा हो तो उस होहल्ला में जबान हिला देना कि महाराज हम से यह दोष बन गया है तो वहाँ आलोचना नहीं की किन्तु एक दोष और मायाचार का लगा लिया। अपने किए हुए बहुत बड़े दोष को सूक्ष्मरूप से कह देना ताकि आचार्य जी यह जान जायें कि यह बड़े निर्मल हैं, देखो इसमें अपना सूक्ष्म भी दोष बता दिया। तो जैसे बहुत से लोगों को खूब सताए और सूक्ष्मरूप से गुरुवों से निवेदन करे कि महाराज आज हम से यह गलती हुई ऐसे सूक्ष्म आलोचना करना यह भी आलोचना का दोष है। अथवा सूक्ष्म दोष छिपा लिया और एक मोटी बात कह दी, यह बड़ा दोष है अथवा पहिले गुरु की खूब सेवा कर ले, पैर दाबे, मीठे वचन बोले, प्रशंसा कर दे और पीछे अपने दोष की बात कहे कि महाराज मामूली दंड देकर हमें निपटा देंगें। यह भी आलोचना का दोष है। तो अनेक प्रकार से आलोचना के दोष लगा करते हैं, तो व्यवहार में बड़ी सावधानी से

व्यवहार आलोचना बनायी जाती है तो निश्चय में भी यह परमार्थ- आलोचना बड़ी सावधानी से ज्ञान स्वभाव की ओर एकाग्र चित्त होकर बनायी जा सकती है।

परमामृत-- यह परमार्थ प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना अमृतकुम्भ है। ज्ञानी इस अमृतरस से सींचकर इस ज्ञानमय आत्मा को आनन्दमय कर देता है। इस परमार्थ सहज क्रिया में दोष ठहर नहीं पाता। प्रतिक्रमण में एक श्लोक बोला जाता है 'मिच्छा मे दुक्कडं होज्ज।' मेरे पाप मिथ्या हों। बहुत पढ़ते हैं कि जो कुछ मुझ से दोष लगे हों वे मेरे पाप मिथ्या हों । तो क्या ऐसा कह देने से पाप मिथ्या हो जायेंगे? नहीं होंगे। तो क्या करने से मिथ्या होंगे । अनशन करने से मिथ्या होंगे या और बड़े उत्कृष्ट क्रियाकाण्डों से ये पाप मिथ्या होंगे। ये सब वातावरण सहायक तो हैं उस के जिस प्राकृतिकता से पाप मिथ्या हुआ करते हैं, किन्तु ये सीधे पाप को मिथ्या बनाने के साधन नहीं हैं।

बोधविकल्प में प्रतिकमण का दर्शन – जो जीव परमार्थ आलोचना करते हैं अर्थात्परिणमनों से पृथक् ज्ञानस्वभाव मात्र चैतन्य चमत्कार स्वरूप अपने आप के सहज स्वरूप को तकते हैं, इस अनुपम आनन्दमय ज्ञानसागर के स्नान के पश्चात जब उसे कुछ ख्याल होता है पूर्वकृत कर्मों के अपराध का तो उसे आश्चर्य होता है कि ओह यह हो क्यों गया ?और यह न भी किए जाते पाप तो मेरी सत्ता में कोई अटक थी ही नहीं। कुछ इस ज्ञानस्वभावी अंतस्तत्व के प्रोग्राम की बात तो थी नहीं। अटपट अचानक यों ही बिढ़ंगा विभाव बन गया। अरे क्यों बन गया, न होता यह तो कुछ अटक न थी और वह यहाँ से होना भी न था, हो गया, किन्तु इसके स्वरस में बात नहीं है। अरे वह न होने की तरह होवे। मैं तो अब न होने से पहले जिस स्वभाव दृष्टि में था उस ही रूप रहना चाहता हूँ, निर्दोष स्वच्छ आत्मस्वभाव के दर्शन के ग्रहण में यह सब पाप भस्म हो जाते हैं।

प्रभुपूजा से अपराधक्षय—आलोचना में प्रतिक्रमण सहज होता रहता है प्रत्याख्यान भी सहज बनता रहता है। पुरुषार्थ आलोचना का चल रहा है, पर यह पुरुषार्थ भी सहज क्रियारूप है। सहज कर्मकरेण विरोधया समयसार सुपुष्पसुमालया। यह आलोचना की जा रही है। यह सहज कर्मरूपी हाथ से बनाई हुई समयसार पुष्प की माला है। यह आलोचना है या प्रभु पूजा है? प्रभु पूजा है। जैसे व्यवहार में हत्या आदि अपराध बन जाये तो पंच लोग दण्ड देते हैं। इतने तीर्थों की वंदना करो, यह पूजा करो। तो प्रभु पूजा का कार्य भी दोषशुद्धि के लिये बताया जाता है। यह तो व्यावहारिक बड़े अपराध का दण्ड है जो पंचोंने मिलकर किया। बड़े अपराध का दण्ड पंचों से लिया जाता है और छोटा अपराध हो जाय तो खुद प्रभुपूजा का दण्ड लिया जाता है। रात दिन के 24 घंटों में कुछ कम समझिये जो पाप कर आते हैं उनका दण्ड लेने के लिये हम आप प्रभुपूजा करने आते हैं। यह दण्ड हम अपने आप लेते हैं। व्यवहार को बिगाड़ने वाला अपराध नहीं किया। इस कारण इन अपराधों को हम करते हैं सो रोज दण्ड लेते हैं। प्रभुपूजा अपराध का शोधक दण्ड है।

कारणप्रभु पूजा से गुप्तमहापराध का शोधन – और भैया ! यह जो गुप्त ही गुप्त अपराध बन रहा है जो परिणमन हो रहे हैं उन परिणमनों को हम अपना रहे हैं, उनमें ममता करते हैं, वहाँ इष्ट अनिष्ट का विकल्प बनाते हैं। इस अपराध के दण्ड में हम इसकारणसमयसार की पूजा करने आते हैं। समस्त

परिणमनों से पृथक् निज ज्ञान स्वभाव की दृष्टी रोज करते हैं और अन्तरङ्ग में गद्गद् होकर इसी ही आत्मदेव की आराधना में रहते हैं, यही तो आलोचना है परमार्थ से और यही प्रभुपूजा है। अनेक प्रकार के फैलाव में फैले हुए शुभ और अशुभ प्रकार के उदयगत भावों को जो अपने से पृथक् निरखता है, यह दोष मैं नहीं हूँ। मैं एक ज्ञानस्वभावी अंतस्तत्त्व हूँ, इस प्रकार जो अपने आप को चेतता है वह पुरुष आलोचना स्वरूप है। यहाँ तक प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना का स्वरूप कहा गया है। अब उस के फल में यह बतायेंगे कि इस प्रकार जो प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना करता है उसका परिणाम क्या निकलता है ?

गाथा 386

णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो।

णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ।।386।।

आत्मा की चारित्ररूपता – जो जीव नित्य ही प्रतिक्रमण करता है, प्रत्याख्यान करता है, और आलोचना करता है वह पुरुष चारित्रस्वरूप होता है। निरन्तर प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना करना आवश्यक है क्योंकि प्रतिक्षण, हम अपराध किये जा रहे हैं। अपने आप के सहज स्वरूप में उपयोग न देना और परपदार्थों में अपना कुछ तत्त्व समझना, यह कितना बड़ा अपराध है? इस अपराध की माफी मिलना कठिन है। महान् अपराध बनेगा तो महान् पुरुषार्थ से ही यह अपराध माफ हो सकता है।

संसारमहावन के क्लेश—भैया !थोड़ा इष्ट समागम पाकर ठाठ बाट में काहे फूले-फूले फिर रहे हैं, यह संसार महवन है, इसमें भूले हुए प्राणी भूखे प्यासे रहकर अपने प्राण गंवा देंगे। यहाँ इस संसारवन में भी आशा का प्यासा रहकर और भोगों का भूखा रहकर अपने चैतन्य प्राण गँवाता रहता है। यह कितना महान् अपराध है?इन अपराधों से निवृत्ति निज प्रभु के प्रसाद की दृष्टि हुए बिना नहीं हो सकती है।

ज्ञानचेतना की किरणें – ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्त्व का श्रद्धान और इस ही अंतस्तत्त्व का ज्ञान और इस ही अंतस्तत्त्व में रमण करना, इस निश्चयरत्नत्रयरूप परमसमाधि में ठहर कर के ही यह जीव परमार्थप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना किया करता है। यह ही पुरुष अभेदनय से स्वयं ही निश्चय चारित्र स्वरूप है। चारित्र कि से कहते हैं?शुद्ध आत्मस्वरूप में चलना, इसका नाम चारित्र है। जि से शुद्ध आत्मस्वरूप की खबर नहीं है, दर्शन नहीं है और और जो बाह्य चारित्र ठीक पालते हुए में भी अहंकार रस से भरा हुआ है उसे चरित्र की समता कैसे कहा जा सकता है ?वह तो अपने व्यवहार में अन्तर में असंयम बनाए हुए है। कहाँ है आत्मसंयम ?

पूज्य तत्त्वों की निर्दोषता – जैन सिद्धान्त में देव, शास्त्र और गरु का निर्दोष स्थान बताया गया है। देव में एकभी दोष हो तो वह देव नहीं कहला सकता। शास्त्रों में एक भी जगह यदि आशय खोटा बताया हो तो सच्चे शास्त्र कैसे कहला सकते हैं ?गुरु में भी यदि किसी जगह चूक हो तो वे गुरु नहीं कहला सकते। देव और गुरु पंचपरमेष्ठी में शामिल किये गए हैं। हम अपना सिर जैसे हजारों रूपयों की भी

समस्या खड़ी हो तो वहाँ भी नहीं झुकाना चाहते, अजी इन से अपनी माफी मांग लो तो तुम्हें 5 हजार दे दिए जायेंगे। तो कहते हैं कि वाह कैसे मांगलें माफी ?तो 5 हजार रुपये लेकर माफी मांगने को तैयार नहीं होते हैं। तो अपने इस मस्तक का कितना मूल्य रखते हैं ?हम कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु के सामने नारियल की तरह अपना मस्तक फोड़ दें तो यह कहाँ तक आत्मरक्षा की बात है ?साधु चारित्र की मूर्ति हैं, चारित्र से साधु की पूज्यता है, यह चारित्र की मूर्ति का प्रकरण चल रहा है। यह निश्चय दर्शन, ज्ञान, चारित्र बताया जा रहा है।

रत्नत्रय से पूज्यता---ॐ भैया ! साधुजन अपना उपयोग निरन्तर प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना में बनाए रहते हैं। शुद्धआत्मस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान और उसमें ही रमण यही रत्नत्रय है और जो ऐसे रत्नत्रय से युक्त है उसका देह भी इतना पवित्र माना जाता है, कि आप के घर में कोई बिना नहाए धोये चौके के पास नहीं खा सकता है पर जो जिन्दगीभर भी न नहाये बल्कि रत्नत्रययुक्त हो तो उस आत्मा का देह नहाए हुए से भी पवित्र माना जाता है। जो इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मदेव की दृष्टि किए हो वह है शुद्ध गुरु, शुद्ध मुनि। ऐसे संतों के पास बैठने मात्र से ही पाप ध्वस्त हो जाते हैं।

गुरु और उपासक का मेल – कहते हैं ना कि जैसा संग हो तैसा रंग बनता है। जिस भक्त को ज्ञानी संत के भीतर के जौहर का पता है उस भक्त को ही ज्ञानी संत के संग का अनूठा लाभ मिलता है। तो जैसे गरु का दर्जा बड़ा ऊँचा ज्ञानमय का है इसी प्रकार ज्ञानी गृहस्थ भी गुरु का सत्य उपासक कहला सकता है। वह चाहता क्या है? एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप का आलम्बन। इस प्रकार जो चारित्रस्वरूप होते हैं वे निज के ज्ञानमात्र स्वरूप से चेतने से स्वयं ज्ञान चेतना होते हैं। साधु है ज्ञानचेतना की मूर्ति। जिसकी मुद्रा से ज्ञान टपकता है, जिस के बोलने में ज्ञान की महक आती है, जिस के उठने बैठने में ज्ञान के वातावरण का लोप न होता हो। ऐसा साधु चारित्र की मूर्ति है और स्वयं ज्ञानचेतनास्वरूप है। वैराग्य को तो ऐसे ज्ञानचेतक साधुसंत ही संभाल पाते हैं और इसकी जिन को उत्कंठा लगी है उन को कहते हैं उपासक श्रावक। वे भी अपनी योग्यतानुसार अपने ज्ञान और वैराग्य की संभाल करते हैं। अपनी संभाल किया तो सब कुछ पाया और अपने को भूले तो भटकना ही रहेगा, कहीं शरण नहीं मिलेगी।

जो ज्ञानी पुरुष परमार्थप्रतिक्रमण परमार्थप्रत्याख्यान और परमार्थ आलोचनारूप परिणमन करता है, वह और करता ही क्या है? अपने ज्ञानस्वभाव में निरन्तर विहार करता है। जो ज्ञानस्वभाव में निरन्तर गमन करता है उस ही का नाम तो चारित्रमूर्ति है। वह ही चारित्र है और चारित्ररूप होता हुआ वह संत अपने ज्ञानमात्र को चेत रहा है। इस कारण वह स्वयं ज्ञान चेतनारूप होता है। ज्ञानस्वरूप के चेतने के द्वारा ही नित्य अत्यन्त शुद्ध ज्ञानप्रकाश प्रकट होता है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, इस ज्ञानपरिणमन को ही करता हूँ और इस जानन को ही अनुभवता हूँ, मैं चैतन्यमात्र हूँ। अन्य तत्त्वको, अन्य पदार्थ को आत्मरूप से स्वीकार न कर के केवल जानन को ही निज ब्रह्मरूप से अनुभव करूँ तो मेरा ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकट होता है ।

अज्ञानचेतना के प्रकार—जो अज्ञान का ही चेतना करने में मस्त हो, मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक कुल का हूँ, मैं इतने परिवार वाला हूँ, मैं ऐसी पोजीशन का हूँ, मैं नेता हूँ आदि किसी भी प्रकार से ज्ञानातिरिक्त अन्य तत्त्वों की चेतना करे तो उस ज्ञान की चेतना के द्वारा दौड़कर आए हुए ये बंध और कर्मों के उदय ज्ञान शुद्धि को रोक देते हैं । दो ही तो काम किया करता है जीव। कोई अपने आप को ज्ञानमात्र चेतता है तो कोई अपने को अज्ञानस्वरूप चेतता है। बस ऐसे दो मूल कार्यों के फल में जीव के परिणमन विस्तार हो जाते हैं। अज्ञानी की चेतना दो तरह से होती है – एक तो ज्ञानातिरिक्त तत्त्व को कर्तृत्व बुद्धि से चेतना और दूसरे ज्ञानातिरिक्त तत्त्व को भोक्ता रूप से चेतना। इन दोनों व्यक्त चेतनों का मूलभूत है ज्ञानातिरिक्त तत्त्व को अपनाना। इस प्रकार चेतना तीन भागों में विभक्त हो गयी हैं- प्रथम तो अज्ञान को आत्मरूप चेतना, यह तो है दोनों चेतनावों का मूल और इस अज्ञान चेतना फल में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की चेतना होती है, उनमें से अज्ञान चेतना का स्वरूप कहते हैं।

गाथा 387

वेदंवो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं।

सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।387।।

अज्ञानचेतना – कर्मफल को वेदता हुआ यह जीव कर्मफल को आत्मरूप करता है, ऐसा अज्ञानी जीव फिर भी दुःखों के बीजभूत 8 प्रकार के कर्मों को बांधता है। कर्मफल कहलाता है वह जो जीव का विभाव है, जीव का परिणमन है। जो जीव अपने परिणमन को यह मैं हूं— इस प्रकार आत्मस्वरूप से चेतता है उसे कहते हैं अज्ञान का चेतने वाला। यह है इस जीव का मूल में अपराध। जिस अपराध के आधार पर अनेक अपराध बन जाते हैं और उनके फल में नाना कुयोनियों में जन्म मरण कर के दुःख उठाये जाते हैं। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भावों में यह मैं हूँ, ऐसा चेतने का नाम अज्ञान चेतना कहलाता है।

चेतने का असर—इस जीव पर चेतने का बड़ा असर पड़ता है, जिस रूप से यह चेत ले, उस रूप से यह अपनी प्रवृत्ति करता है। पब्लिक में है, प्रजाजन हैं, कोई अधिक विकल्प नहीं हैं। जहाँ अपने को राज्य के किसी अधिकारी के रूप में चेता तो उस तरह की कल्पनाएँ और प्रवृत्तियाँ होने लगती हैं। कोई लड़ की खूब घूमती फिरती है बेखट के अपनी कुमार अवस्था के कारण बेरोकटोक आनन्दमग्न रहती है। जहाँ इस प्रकार से उसने चेत डाला कि वे हमारे स्वसुर होने वाले हैं, वे मेरे जेठ देवर होंगे, सगाई की बात आ गयी, बस लो इतना चेतने के आधार पर उसकी सारी कलाएँ बदल गयीं। अब धीरे से चलना, संभालकर चलना, स्वसुर जेठ जिन्हें बन्दना से मान लिया है उन को देखकर खम्भे किवाड़ की ओट में खड़े हो जाना, ये सारी कलाएँ बन गयीं। यह चेतने का ही तो असर है।

अपने आप के चेतने का अपने आपपर असर— पंडित ठाकुरदास जी बहुत बड़े विद्वान् थे। वे ब्राह्मण थे और जैन सिद्धान्त के उच्च जानकार थे। सो इन की दूसरी शादी हुई, पहिली तो गुजर गई थी। दूसरी

स्त्री से ऐसा अनुराग था कि मानो 400 रूपये मासिक की कमायी हो तो 200 रुपये स्त्री को दे देते। और स्त्री इतनी सज्जन थी कि वह सब रुपया गरीबोंको, दीन दुखियों को बाँट देती थी। यह सब पंडित जी देखते जाते थे कि देखो मैं तो देता हूँ जोड़ने के लिए, इसके ही काम के लिए कि मौज से रहे पर यह सारा का सारा धन परोपकार में लगा देती है। महिने के अंत में एक पैसा भी नहीं बचता था। सो दु:खी भी होते जायें और हर महीने उसे रुपये भी देते जायें। एक बार बड़ी कीमती तीन सौ रुपये की साड़ी खरीद कर लाये सो वह साड़ी दे दी। तो पंडितानीने क्या किया कि घर में जो कहारिन थी उसे बुलाया और साड़ी दे दी व कहारिन से बोली कि देख तू इसे पहनना नहीं, बाजार में बेच आना, भले ही 25 रुपये कम मिल जायें, पर बाजार में बेच आना व अपने काम में पैसा लगाना। जब वह साड़ी कहारिन को दे दी तो पंडित जी बोले कि हम तो तुम्हें कमायी का आधा पैसा सौंप देते हैं कि खूब जोड़ो ताकि मौज से रहो पर तुम कुछ नहीं रखती, सारा का सारा खर्च कर डालती हो। तो पंडितानी बोली कि हम कब कहते हैं कि तुम हमें पैसा दो। तुम्हीं को चैन नहीं पड़ती, अत्यन्त मोह है तो पैसा देते हो और जब तुमने हमें पैसा दे दिया तो वह पैसा हमारा हो गया कि फिर भी तुम्हारा ही है ?हमें दे दिया तो हम कुछ भी करें। हमें तो जिस में मौज मालूम होता है वहीं काम करती हैं। बहुत घनिष्ठ प्रीति थी, सो कुछ वर्षों बाद वह स्त्री बोली कि पंडित जी इतनी तो आयु हो गयी और समाज में तुम बड़े कहलाते हो किन्तु तुम ब्रह्मचर्य का नियम अब तक नहीं लेते। तो पंडित जी कुछ यहाँ वहाँ की बातें कहने लगे। तो उस स्त्रीने कुछ नहीं किया झट पंडित जी की गोद में बैठ गयी और कहा कि आज से तुम हमारे पिता और हम तुम्हारी बेटी। पंडित जी के चित्त में बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा जिस से पंडितजीने भी ब्रह्मचर्य का नियम ले लिया।

चेतने की पद्धति का परिणाम—भैया !अपने पर जो भी असर पड़ता है वह अपने चेतने का असर पड़ता है, दूसरे का असर नहीं पड़ता। कहीं शेर मिल जाय और अपन डर जायें तो वह डर रूप असर शेर से नहीं आया किन्तु अपने चेतने का असर है। अरे एक महाहिंसक जानवर यह अभी खा लेगा, प्राण चले जायेंगे, इस प्रकार के विकल्पोंरूप में जो चेतता है वह चेतने का प्रभाव है। अज्ञानरूप चेते तो वह अशुद्ध हो जायेगा और ज्ञानरूप चेते तो ज्ञान का अत्यन्त शुद्ध प्रकाश प्रकट हो जायेगा।

धर्ममार्ग में एक पद्धति से संचेतन—धर्मप्रगति का कोईसा भी प्रकरण लो बात एक ही कही जा रही है, वह क्या कि वर्तमान परिणमन से भी भिन्न ज्ञानस्वभावमात्र अपने आप को चेतना। जो पुरुष अपने को कर्मफल से पृथक् ज्ञानस्वभावमात्र नहीं चेत सकता है और इसके फल में उन कर्मफलों को अपनाता रहता है वह आठों प्रकार के कर्मों का बंधन करता है। ये कर्म बंधन दु:ख के बीज हैं, आगे फिर विभाव होंगे, और यह परम्परा जब तक चलेगी तब तक यह जीव दु:खी रहेगा। अब अपना-अपना अंदाज कर लो कि इस ज्ञानचेतना में तो कब रहते हैं और अज्ञानचेतना में कब रहते हैं। ज्ञानचेतना के होते समय सारे झगड़े बखेड़े समाप्त हो जाते हैं, वहाँ न इसका घर है, न कुटुम्ब है, न वैभव है, न अन्य कुछ पोजीशन आदिक है, यह तो एक अपने आप के ज्ञानस्वभाव के उपयोग में रत है। इस अज्ञानभाव को आत्मरूप से चेतने के फल में दो फंसा फूंटते हैं—एक कर्म चेतना का और कर्मफल चेतनाका।

चेतनात्रितयी की सर्व चेतनों में व्यापकता—कोई भी जीव इन तीन बातों से जुदा नहीं है चेतना, कर्म चेतना, कर्मफल चेतना। इस प्रकरण में तो अज्ञानचेतना का प्रकरण है और उस अज्ञान चेतना के आधार पर जो कर्मचेतना, कर्मफलचेतना बनती है वह भी अज्ञान रूप है। पर एक साधारणरूप से चेतने का मंतव्य लिया जाय तो सब जीवों में ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना पायी जाती है। ज्ञानचेतना नाम है ज्ञान को चेतना, सो मिथ्यादृष्टि भी ज्ञान को चेतता है और सम्यग्दृष्टि भी ज्ञान को चेतता है और प्रभु परमात्मा भी ज्ञान को चेतता है। अन्तर इतना है कि मिथ्यादृष्टि ज्ञान को अज्ञानरूप में चेतता है और सम्यग्दृष्टि ज्ञान को ज्ञानरूप में चेतता है और प्रभु परमात्मा ज्ञान को ज्ञानरूप में परिणत करता हुआ चेतता है। पर ज्ञान से सभी चेत रहे हैं, कोई चेतन परपदार्थ का गुण नहीं चेत सकता।

सिद्ध प्रभु में चेतनात्रयी—इस साधारण ज्ञानचेतना के आशय में अब कर्मचेतना और कर्मफलचेतना को भी देखिए। कर्म नाम है किए जानेका, जो किया जाय उसको चेते इसका नाम है कर्मचेतना। भगवान भी कुछ करता है या नहीं ?यदि नहीं कुछ करता है तो अवस्तु हो जायेगी। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो अपना परिणमन न करे। सिद्ध भगवान भी कर्म किया करते हैं, तो कर्म का नाम है परिणमन क्रिया। जो परिणमन करे सो कर्म। तो सिद्ध प्रभु ज्ञान को चेतते हैं और उस के साथ कर्म भी चल रहा है, परिणमन भी चल रहा है सो उसे भी चेतते हैं, सो कर्मचेतना हो गई और प्रभु अपना जो शुद्ध परिणमन रूप कर्म करते हैं उनका फल भी मिलता है या नहीं ?क्या फल मिलता है ?अनन्त आनन्द, तो उस अनन्त आनन्द को अनुभवते हैं या नहीं ?अनुभवते हैं। तो उन्होंने भी कर्मफल को चेता या नहीं चेता ?तो भगवान के भी ज्ञानचेतना, कर्मचेतना औरकर्मफलचेतना है। इन तीन चेतनावों से सूना तो कोई जीव नहीं है।

अशुद्धनिश्चयनय से चेतनात्रयी – अज्ञानीजन ज्ञान को अज्ञानरूप से चेतते हैं, इसलिये वृत्ति में अन्तर समझने के लिये नाम बदल दें। मोही जीवों के अज्ञान चेतता है। चेतता वह भी ज्ञान को है। कहीं खम्भेको, चौकी को इन को नहीं चेता करता है, अपने स्वरूप को ही चेत सकता है पर अपने स्वरूप को उसने विपरीत चेत डाला इसलिये वह अज्ञानचेतना है और अज्ञानी जीव भी कुछ करता है कि नहीं? करता है—रागद्वेष मोहादिक। सो ये सब हुए ज्ञानी के कर्म। इन कर्मों को भी चेतता है। सो अज्ञानी के कर्मचेतना हुई और अज्ञानी कर्मफल भी पाता है या नहीं? पाता है ?वह क्या फल ?क्लेश, दु:ख, क्षोभ कषायें। इनको भी चेतता है कि नहीं। चेतता है, तो कर्मफल चेतना हो गई। इस प्रकरण में साधारण चेतना कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का प्रकरण नहीं है, यह अज्ञानी जीव का प्रकरण है। इसलिये यहाँ अज्ञानरूप ही कर्मचेतना लेना और अज्ञानरूप ही कर्मफल चेतना लेना।

पर को अपना लेने का महान् अपराध – भैया !किसी के घर कोई लड़ का नहीं है। बड़ी मौज से स्त्री पुरुष रहते हैं, धर्मसाधना करते हैं, कमायी अच्छी है, सुखपूर्वक रहते हैं, अच्छा समय बीत रहा है। जब उन्होंने किसी दूसरे के लड़के को अपना लिया गोद ले लिया, अपना सब कुछ लिख दिया तो जैसे ही दूसरे लड़के को अपनाया सो अपनाने के दिनों में तो बड़ी खुशी मानी, खुब बैण्ड बजे, नृत्य गान करवाया और कुछ समय बात कुछ कलह होने लगे, लड़ का अपनी चाल चलने लगा, सब वैभव अपना लिया, सब हथिया लिया। कुछ मनमोटाव हो गया, भेद हो गया। अब स्त्री पुरुष अपने में दु:खी हो रहे हैं, लड़

का अपनी चाल चल रहा है, लड़ का भी क्लेश मानने लगा। उन सब क्लेशों में मूल में अपराध क्या था ?अपना लिया, इतनी बात थी। उस के बाद फिर सारी बातें आती हैं। तो मूल में अपराध है पर को अपना लेने का एक महान् अपराध जिस के फल में ये हजारों कष्ट आ रहें हैं, अब अमुक में टोटा पड़ गया, इतनी टेक्स लगाली। अब अमुक डाकुवोंने यों हर लिया, बधुवों में इसी कारण झगड़े चल गये। रात दिन परेशानी। उन सब परेशानियों का मूल कितना है ?पर को अपना लेना। इतना ही मात्र तो अपराध है और झंझट यह सारे लग गए।

अज्ञान चेतना में प्रतिक्रियायें—यह अज्ञानचेतनारूप महा अपराध इन मोही जीवों के होता है और उनके इस अपराध के परिणाम में दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं—एक कर्मचेतना और एक कर्मफलचेतना। जीवन में भी तो इन्हीं दो बातों के विसम्बाद चलते हैं। एक काम करने पर और एक आराम भोगने पर। दो के सिवाय और क्या लड़ाई है घर में सो बतावो ?दो ही प्रकार के आशय लड़ाई के कारण बनते हैं। हमने इतना काम किया और यह दूसरा कुछ भी नहीं करता। हम थोड़ा ही आराम, श्रृंगार या भोग के साधन भोग पाते हैं और यह अधिक भोगता है, ऐसा आशय उठा करता है, जिस के फल में विवाद हो जाते हैं। सब जीव निरन्तर अपने ही परिणमनरूप कर्मों को करते हैं और उन परिणमनों के फल निरन्तर भोगा करते हैं। निश्चय से जिस क्षण में कर्म किया गया है उसी क्षण में कर्म का फल भोगा गया है।

कर्म और कर्मफल के समय की भिन्नता की दृष्टि—कर्म करने का क्षण और हो, कर्मफल भोगने का क्षण और हो यह व्यवहार नय दर्शन में ही सम्भव है जो अभी विभावपरिणाम किया उसपर दृष्टि न देकर उस के कारण जो कर्मबंध हुआ वह कर्म किया है, अब उस कर्म का फल कब मिलेगा जब कि स्थिति पड़ेगी, उदय आयेगा तब फल मिलेगा। किया आज है, फलमिलेगा आगे। यह व्यवहारनय का कथन है। निश्चय से तो जिस क्षण में किया उसी क्षण में फल मिलता है। किया क्या ?विभाव परिणाम और फल क्या मिला ?क्षोभ। देख लो विभावपरिणाम करने से क्षोभ मिलता है या नहीं। अरे, क्षोभ को उत्पन्न करता हुआ ही विभाव परिणमन हुआ करता है। कर्म और कर्मफल का भिन्न-भिन्न समय नहीं है। इस कर्मफलको, विभावपरिणाम को जो अपना बनाता है और उस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध में जो कर्मबंध हुआ है उस के फल में भावी काल में भी फल भोगता है। यह अज्ञानचेतना ही हम सब लोगों के महासंकटों का मूल है। अन्य बातों की इतनी चिंता न करो। एक यह अवधारणा करो कि मैं अज्ञानचेतना को कैसे कब समाप्त कर दूं ?

अज्ञानचेतना का कर्मचेतनारूप अंकुर – अज्ञानचेतना के मूल आशय से कर्तृत्व का अथवा कर्मचेतना का आशय प्रकट हुआ है। कोई हो रहे वर्तमान विभावों को यह मैं हूँ ऐसा अपनाए वही कर्तृत्व बुद्धि बना सकता है। जि से यह स्पष्ट ज्ञात है कि मैं ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ, पुद्गल कर्मविपाक से उत्पन्न हुए भाव में नहीं हूँ, ऐसा जिस के मूल में भेदविज्ञान हुआ है वह परपदार्थों में कुछ करता हो, इस प्रकार का आशय कहाँ से लायेगा ?अब इस अज्ञान चेतना पर जीवित रहने वाले कर्मचेतना का स्वरूप अब आचार्य देव अगली गाथा में कह रहे हैं।

गाथा 388

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।

सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।388।।

कर्मचेतना का निर्देश—कर्मफल को चेतता हुआ मैंने यह कर्मफल किया, यह विभावपरिणमन किया, ऐसा जो जीव मानता है वह फिर भी दु:ख के बीजभूत 8 प्रकार के कर्मों का बंध करता है। इस गाथा में कर्मचेतना का स्वरूप दिखाया गया है। ज्ञानभाव के अतिरिक्त अन्य भावों में 'इसे करता हूँ ' इस प्रकार की चेतना करने का नाम कर्मचेतना है। यह कर्म—चेतना संसार का बीज है। संसार का बीज यों है कि वह आठ प्रकार के कर्मों के बंधन का कारण है।

कर्मचेतना की मुद्रा—कर्मचेतनावों के रूपक यों होते हैं—मैंने किया मैंने कराया, मैंने अनुमोदना किया याने मैंने हौंसला बढ़ाया, मैंने मन से किया, वचन से किया, काय से किया, और इस प्रकार कराया और अनुमोदा, इस प्रकार के विकल्पों का नाम है कर्मचेतना। ये समस्त विकल्प संसार के कारण हैं। इसलिये मोक्ष चाहने वाले पुरुषों को इस अज्ञानचेतना के विलास के लिये सर्वप्रकार के कर्मों के त्याग की भावना बनाए रहनी चाहिए। जिस जीव की यह वासना निरन्तर बनी रहती है कि मैं करता हूँ, मैं करा देता हूँ, मैं दूसरों का हौंसला बढ़ा देता हूँ, मुझ में ऐसी मन वचन काय की कला पड़ी हुई है, ऐसी कर्तृत्व वासना जि से बनी रहा करती है वह अज्ञानी है। मोक्षमार्गी पुरुष को ऐसी भावना रहती है कि न मैं कुछ करता हूँ, न कराता हूँ, न किसी को अनुमोदित कर सकता हूँ। अज्ञानचेतना का विनाश कर के ही ज्ञानचेतना का विलास बन सकता है। मैं तीनों काल विषयक मन, वचन, काय से करने, कराने, अनुमोदने के विकल्पों को सर्व प्रकार के कर्मों को त्याग कर के मैं तो नैष्कर्म्य अवस्था को ग्रहण करता हूँ।

कर्मचेतना के रूपक—जीव अपने प्रदेश से बाहर कहीं कुछ नहीं किया करता, अपने आप में जो कुछ किया करता है वह अपने आप को अपने लिये किया करता है। अज्ञानी यों विकल्प बनाता है कि देखो मैंने यह काम किया। अरे उसने उस काम को नहीं किया, उसने तो उस कार्य विषयक विकल्परूप विभाववरिणमन किया। करने सम्बन्धी कितनी तरह के विकल्प हैं, उन्हें संक्षेप में जातिरूप में संग्रहीत कर के देखा जाय तो मूल में अपने मन वचन काय कृतकारित अनुमोदना के भेद तरंग उठते हैं और इसही के संयोगी अंगों के द्वारा इन कर्मों की बात के 49 प्रकार बनते हैं।

तीनों साधनों से तीनों कार्यों का एक विकल्प – कोई यों विकल्प करे कि मैंने मनसे, वचनसे, काय से किया, कराया और अनुमोदा। यह एक कर्मविषयक सर्वांग विकल्प है इसमें कुछ भी छोड़ो नहीं। कर्मों की बातें तीन हैं और साधनों की भी बातें तीन हैं—किया, कराया, अनुमोदा, ये तीन तो काम हैं और मन, वचन, काय यह तीन साधन हैं। तीनों साधनों से तीनों कर्म करना यह कर्म विषयक सर्वांग विकल्प है।

दो साधनों से तीन कर्मों के 3 प्रकार – कोई दो साधनों से तीनों कर्मों के विकल्प बनाता है तो वे तीन प्रकार से बनते हैं—(1) मैंने मनसे, वचन से किया, कराया, अनुमोदा। (2) मैंने मनसे, काय से किया, कराया अनुमोदा। (3) मैंने वचनसे, काय से किया, कराया, अनुमोदा। दो साधनों द्वारा तीन कर्म करने के विकल्पों की जाति तीन हैं।

एक साधन से तीन कार्यों के 3 प्रकार – कभी एक साधन से तीनों कर्म करने के विकल्प उठते हैं—(1) मैंने मन से किया, कराया, अनुमोदा।(2) मैंने वचन से किया, कराया, अनुमोदा,(3) मैंने काय से किया, कराया, अनुमोदा। ये कर्मचेतना के विकल्पों के प्रकार हैं। कितने प्रकार से यह ज्ञानी जीव अपने में कर्मविषयक विकल्प गूँथा करता है ?इसका छोटा सा यह दिग्दर्शन है।

तीन साधनों से दो कार्यों के 3 प्रकार – कभी 3 साधनों से 2 कर्मविषयक विकल्प होते हैं। जैसे—(1)मैंने मनसे, वचनसे, काय से किया और कराया। (2)मन, वचन, काय से किया और अनुमोदा। (3)मैंने मन, वचन, काय से कराया और अनुमोदा। योग्यताएँ तो भैया !उस मोही जीव में सभी साधनों से सभी कर्मों के करने की बनी हुई हैं, लेकिन उपयोग की विचित्रता की बात है कि कितने साधनों से कितने कर्मों के करने का कब विकल्प उठता है ?कहीं यह जीव दो साधनों से कितने कर्मों के करने का विकल्प किया करता है। तो चूँकि दो के तीन विकल्प हैं, सो तीन विकल्पों से तीन कार्य किए गए हैं।

दो साधनों से दो कार्यों के विकल्पों के 9 प्रकार – कभी दो साधनों से दो कर्म के विकल्प होते हैं। उस के 9 भंग होते हैं—(1)मन वचन से किया कराया, (2)मन, काय से किया कराया, (3)वचन काय से किया कराया, इसी तरह (4)मन वचन से किया अनुमोदा, (5)मन, काय से किया अनुमोदा, (6)वचन काय से किया अनुमोदा, फिर (7) मन, वचन से कराया अनुमोदा, (8)मन काय से कराया अनुमोदा, (9)वचन काय से कराया अनुमोदा।

साधनों से कर्मों के करने के विकल्पों का विवरण–देखिए परविषयक कर्मों की कल्पना में किस प्रकार से विकल्पतरंगों का निर्माण होता है ?उन बातों को साधन और कर्म के द्वारा बताया जा रहा है। मन से करना क्या ?मन से करने का परिणाम क्या ?वचन से भी कितनी ही बातें कर देते हैं और काय से करना तो सब लोग स्पष्ट जानते हैं। मन से कराने का भी विकल्प होता है और कभी कार्य वचन से भी कराया जाता है और काय से भी कराया जाता है, यह तो लोग स्पष्ट जानते हैं। मन से अनुमोदा जाता है, बहुत से कार्य करते हैं लोग और अपने में संकल्प बनाते हैं, अनुमोदना बनाते हैं कि ठीक किया। वचन से अनुमोदा जाता है, यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट है और शरीर की चेष्टा से अंगुली उठाकर, आंखें मट का कर इस तरह भी अनुमोदा जाता है। जैसे कोई पूछे कि कहो यह बात ठीक है ना ?सिर हिला दिया, मायने हाँ सही है। तो काय से अनुमोदा गया ना, तो इस प्रकार कर्मों के करने की ये पद्धतियां हैं।

कर्मचेतना का अज्ञान चेतना द्वारा पोषण – इसमें जो यह परिणाम करता है कि मैंने किया, कराया, अनुमोदा, यह सब अज्ञानचेतना है क्योंकि परपदार्थों के द्वारा कोई परपदार्थ नहीं परिणमाया जा सकता, फिर भी यह मान रहा है। निमित्त प्रत्येक अपने ही प्रदेश में अवस्थित रहते हैं, उनके गुण पर्यायों की

कला निमित्त के क्षेत्र से बाहर नहीं होती। फिर कौन किस को करता है ?फिर भी यह जीव विकल्प बनाये रहता है, मैंने मंदिर बनवाया, मैंने उत्सव किया। कितने प्रकार के करने के विकल्प बनाते हैं ?आरम्भ और परिग्रह सम्बन्धी करने के आशय में जैसे पाप है इसी प्रकार धर्म का नाम लेकर भी परपदार्थों में मैंने कुछ किया, ऐसा आशय रहे तो उसमें भी वही मिथ्यात्व का पाप है। ज्ञानीसंत तो कुछ भी काम कर के वह सामायिक में खड़ा होकर वंदना कर रहा हो, भक्तिपाठ पढ़ रहा हो, उन सभी बातों में यह भावना रखता है कि यह सब अज्ञान की चेष्टा है। जो जो उसने कार्य किया वह ज्ञानभाव के गंध से निकली हुई नहीं है किन्तु रागद्वेष जो शेष हैं वे अज्ञान भाव हैं और उन की प्रेरणा के ये सब बाह्य करतूतें हैं। सो इन सब को करता तो है वह, परन्तु मेरा इन का ही करने का काम है, ऐसा मिथ्या आशय वह नहीं रखता है।

दृष्टांतपूर्वक ज्ञानी के व्यवहारप्रवृत्ति में भी ज्ञानवृत्ति के लक्ष्य की सिद्धि – जैसे सीढ़ियोंपर चढ़ते हुए कोई सीढ़ियों को भी गिनता है क्या ?नहीं। वह तो सभी सीढ़ियों पर पैर रखकर ऊपर पहुंच जाता है। कोई मनुष्य दौड़ लगाता है तो क्या वह अपने पगों को गिनता जाता है ?अरे वह तो दौड़ता हुआ बड़ी जल्दी से पहुंच जाता है। तो जैसे दौड़ लगाने वाला बिना पगों को गिने हुए दौड़ लगाकर अपने इष्ट स्थान में पहुंच जाता है, सीढ़ियों पर चढ़ने वाले का लक्ष्य अट्टालिका में पहुंचने का है इसी तरह व्रत, तप संयम करने वाले का लक्ष्य निर्विकल्प समाधि भाव में पहुंचने का है न कि वर्तमान में की जा रही मन, वचन, काय की चेष्टावों को निरखने का है।

प्रवृत्तिमात्र में अज्ञानचेष्टापन का ज्ञानी के निर्णय– आत्मानुशासन में इस बात को स्पष्ट कहा है कि 'यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्।' जो जो भी मैंने यह आचरण किया है वह सब अज्ञान की चेष्टा है। मैं तो निर्विकल्प ज्ञान ज्योतिमात्र हूँ। कितना शुद्ध आशय ज्ञानी संत का होता है और कर्मचेतना से कितना पृथक् बना रहता है ?यह मर्म जिस भक्त की समझ में आता है वह भक्त ऐसे ज्ञानी आत्मावों पर अपना मानो सर्वस्व न्यौछावर कर देता है। इतनी उपासना की दृष्टि जगती है। वह ज्ञानी तो परमगुरु सर्वज्ञदेव और उनके ही मार्ग पर चलने वाले अन्य ज्ञानीसंत पुरुष हैं। पतंग इतनी खबर तो न बिसारो कि जो हम कर रहे हैं वह सब अज्ञान की चेष्टा है, इतनी बात ध्यान में बनी रहे तो ज्ञान की डोर हाथ में रहेगी। चाहे आकाश में कितनी ही उड़ जाये पर डोर बालक के हाथ में है तो पतंग अब भी बस में है। इसी तरह यह अज्ञान की चेष्टावों की पतंगें चाहे कितनी ही दौड़ लगा जाए किन्तु ज्ञानतत्त्व की डोर दृष्टि उपयोग के हाथ में है तो अब भी वे बेढंगी क्रियाएँ होकर भी खुद के ही वश में है सब। जिस चाहे क्षण में मन, वचन काय की चेष्टावों का परिहार कर के निर्विकल्प समाधि में अवस्थित हो सकता हूँ।

एक साधन से दो कर्मों के विकल्प के 9 प्रकार – यह कर्मचेतना का प्रकरण है। ऐसे नाना प्रकार के विकल्पों से कर्म का आशय पोसा करते हैं मोही। कभी यह जीव एक साधन से दो प्रकार के कर्मों का विकल्प करता है – एक साधन से दो कर्मों के विकल्प नौ प्रकार से किये जा सकते हैं- (1) मैंने मन से किया, कराया, (2) वचन से किया, कराया, (3) काय से किया कराया, (4) मन से किया, अनुमोदा, (5) वचन से किया, अनुमोदा, (6) काय से किया, अनुमोदा, (7) मन से कराया, अनुमोदा, (8) वचन

से कराया, अनुमोदा, (9) काय से कराया, अनुमोदा। ये सब विकल्प बड़े संक्षेप में जातिवाद को लेकर बताये जा रहे हैंइन का विस्तार तो अनगिनता है।

अज्ञान में करामात–देखो भैया !कैसी क्षण-क्षण में विकल्प तरंगे उठा करती हैं और यह अज्ञानी जीव उन विकल्प तरंगों की अपनाए रहता है। इसे भीतर का कुछ पता नहीं और बाहर का भी सही पता नहीं। जो दिखता है वह भी झूठ है और जो भीतर दिखता है वह भी झूठ है, न बाहर की सच्चाई का पता है और न भीतर की सच्चाई का पता है। विकल्पों के अपनाने रूप अज्ञानचेतना के प्रसाद से यह कर्मचेतना का जाल इस जीव को फंसाने के लिये बिछा हुआ है। अभिमानी लोगों को उनके द्वारा यह काम हुए हैं ऐसे कर्तृत्व का वचन बोल दो तो वे अभी खुश हो जायेंगे। किसी को वश करना कोई कठिन बात नहीं है। आप अपने कषाय को वश कर के उन उपायों को करें, घमंडियों की प्रशंसा कर कर के अपना नौकर बना लीजिए। मायाचारियों की हां में हां मिलाकर उन्हें अपना नौकर बना लीजिए। लोभियों को अच्छी-अच्छी चीजें खिलापिला कर अपने अधीन कर लीजिए।

अज्ञानभाव से अज्ञानियों का वशीकरण—ये बच्चे लोग पैसा चाहते हैं, बाप से और रूठकर चाहते हैं। अरे वे भूल करते हैं। हम बच्चों को जरा सी तरकीब बता दें और रोज खूब पैसा लें बापसे। जरासी तो तरकीब है। जरा हाथ जोड़ लें, मीठे वचन बोल लें और आप के पास बैठकर अपना बड़ा विनय दिखा दें, लो इतनी बात कर देने से ही खूब पैसे ले लें। 10 पैसों की जगह पर 20 पैसे मिल जायेंगे। जरासा तो काम करना है, फिर बाप को उल्लू बना लें। पर कषाय की ऐसी चेष्टा भरी है कि वे उपाय ही नहीं सूझते जिस से कि वे अधीन बन जायें और अधीन क्या, वे तो अधीन हैं ही। तुम्हारे अधीन नहीं है तो औरों के हैं, औरों के नहीं है तो अपने विकल्पों के हैं। अज्ञानी जीव तो सदा विवश है, उसका मूल आशय अज्ञानचेतना का है और जब कुछ लोकयात्रा के लिये तैयार होता है तो कर्म चेतना का कदम उठता है।

तीन साधनों से एक कार्य के विकल्प के 3 प्रकार—कभी यह जीव तीन साधनों से एक काम का विकल्प करता है। ऐसे विकल्प तीन प्रकार से जगते हैं—(1) मैंने मन, वचन, काय से किया, (2) मैंने मन, वचन, काय से कराया। (3) मैंने मन, वचन काय से अनुमोदा, ऐसे नाना प्रकार के कर्मों में कर्तृत्व का आशय रखकर यह अज्ञानी जीव अपना स्वरूप भूल जाता है और बाह्य में बड़ा सावधान अपने को समझता है। बाहर का काम जरा सफाईसे, व्यवस्था से बड़ी बढ़वारी के साथ बन गया तो भीतर में कर्तृत्व का आशय बना कर अपने को करता तो बरबाद है, पर समझता है कि लोक में हम सबसे अधिक चतुर हैं। मैं अपना काम यों ही आनन फानन में कर डालता हूँ। समझता है चतुराई और भीतर बसी है व्यामूढ़ता। अरे !अन्तर में ही व्यामूढ़ता को समाप्त कर के इस अज्ञानचेतना को दूर कर के ज्ञानचेतना का विलास करना है।

भूतकर्म में कर्तृत्वबुद्धि–इस जीव को अपनी कततूत पर अहंकार रहता है, अपने आपके निष्कर्ष सहज चित्स्वभाव का परिचय न होने से विभावों को अपनाता है और उनमें उनके कारण परपदार्थों के सम्बन्ध में कर्तृत्व बुद्धि बनाता है। यह अमृतपान यदि यह जीव करले कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, किसी भी

परद्रव्यपर मेरा अधिकार नहीं है, जो जैसा परिणमता है वह स्वयं की परिणति से परिणमता है। कला तो केवल उसकी ही कार्य करने में सम्पन्न और समाप्त होती है तो ऐसी वस्तुस्वतंत्रता की बुद्धि से इस जीव को आकुलता नहीं हुआ करती है। यह अज्ञानी जीव भूतकाल सम्बन्धी कर्तापन के भाव को लादे हुए है। इस कर्मचेतना के सम्बन्ध में भूतकालविषयक अनेक भंग पैदा हो गए।

दो साधनों के द्वारा एक कार्य के विकल्प के 9 प्रकार–अब कभी यह अज्ञानी दो साधनों के द्वारा एक कर्म का अहंकार रखता है- (1) मैंने मन, वचन से यह कार्य किया, (2) मन, वचन से कराया (3) मन, वचन से अनुमोदा (4) मन, काय से किया, (5) मन काय से कराया (6) मन, काय से अनुमोदा, (7) वचन, काय से किया, (8) वचन, काय से कराया और (9) वचन, काय से अनुमोदा। इस प्रकार दो साधनों द्वारा एक कर्म में 9 जाति विकल्पोंरूप परिणमता है।

एक साधन के द्वारा एक कार्य के विकल्प के 9 प्रकार – कभी यह अज्ञानी एक साधन के द्वारा एक कर्म को करने के अहंकार में भी 9 तरह से परिणमन करता है - (1) मैंने मन से किया, (2) वचन से किया, (3) काय से किया, (4) मन से कराया, (5) वचन से कराया, (6) काय से कराया, (7) मन से अनुमोदा, (8) वचन से अनुमोदा (9) काय से अनुमोदा। इस तरह भिन्न-भिन्न साधनों से भिन्न-भिन्न कर्मों के कर्तृत्व के अहंकार से लदा हुआ यह अज्ञानी जीव कर्मचेतना के वश लोकयात्रा कर रहा है।

कर्मचेतना की संकटमयता–यह जीव स्वभावत: आनन्दमय है, जब उदय खराब है तब यह जीव अपने आनन्द स्वभाव की दृष्टि से चिगकर बाह्यपदार्थों में स्वामित्व और कर्तृत्व की बुद्धि का बोझ लादता है और दु:खी होता है। इसने यह क्यों नहीं किया, यह ऐसा क्यों नहीं परिणमता, यह यों क्यों नहीं बन जाता ?अरे तुम जगत् में अन्य पदार्थों की संभाल क्या कुछ भी कर सकते हो ?यह तो एक उदय का मेल है कि कदाचित् कोई वस्तु मनचाही सामने आ जाय, कोई जीव मनमाफिक परिणति करने लगे, यह तो एक उदयानुसार कभी-कभी का मेल बन जाता है। इसमें भी वास्तविक सम्बन्ध प्रयोजन, मर्म, रहस्य कुछ नहीं है। ज्ञानी संत इन 49 जातियों में विभक्त भूतकाल सम्बन्धी कर्तृत्व के विकल्प को दूर करता है। यह कर्तृत्व विकल्प का पाप मेरा मिथ्या हो।

ज्ञानी की शिवदर्शन से उत्पन्न हुई विविक्तता—भैया ! वे ही सब बातें जिन में अज्ञानी जीव मग्न होकर अहंकाररस में डूबा हुआ व्याकुल हो रहा था। वे सारे विकल्प और करतूतें इस शुद्ध सहज स्वभाव की दृष्टि से ऐसे लग रहे हैं कि ये कहाँ हो रहे हैं। झूठ हो जायें, बन गया काम, ऐसी कोई मेरे प्रोग्राम की बात न थी, मेरे सहजस्वभाव की ओर से कोई कार्यक्रम न था। मिले हुए निमित्तनैमित्तिक भाव से अटपट बातें हो गयीं, हो गयीं, वे मिथ्या हैं, मिथ्या हों। मैं तो सहज ज्ञानस्वरूप हूँ। न मैंने किया, न कराया, न अनुमोदा। यह बीच का इन्द्रजाल आ पड़ा था। मैं तो एक सहजशुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूँ। ज्ञानी जीव जिस को लक्ष्य में लेकर ऐसा कह रहा है वह चीज लक्ष्य में न आए तो अन्य लोग ऐसा सोचते हैं कि वाह यह तो बड़ा अच्छा हुआ। मुख से कह लिया, पाप मिथ्या हो गए पर जिस तत्त्व को लक्ष्य में लेकर ज्ञानी का यह शिवभाव होता है वह लक्ष्य में आए तो पता पड़ता है कि यह तो अंतपुरुषार्थपूर्वक एकदम सत्य कदम रखा जा रहा है ज्ञानी जीव का शिव संकल्प हो रहा है। अहो पूर्व काल में मोह से

जो जो मैंने किया उन समस्त कर्मों को अतिक्रान्त करके, त्याग करके, विभक्त करके, उस से पृथक् चेतनात्मक निष्कर्म निज आत्मतत्त्व में अपने आप के साधन के द्वारा बर्तूं।

अज्ञान और ज्ञानचेतना की दिशायें—बीती हुई बात में करने की आप के ममता हुआ करती है क्या? हाँ अज्ञानी जीव के हुआ करती है। कोई घटना कुछ दिन पहिले हो गयी हो और आज भी उसकी ममता रह सकती है। मैं कैसे माफ करूंगा, मुझे ऐसा क्यों कहा था ?अरे ऐसा जो विकल्प है यह ममता का ही तो परिचय है। पूर्वकाल में किये हुए अपराध में भी आत्मीयता है, इसकी निशानी ही तो वर्तमान हठ है। ज्ञानी पुरुष की आत्माने विकल्पों को अपने में स्थान नहीं दिया। हुआ था जो विकल्प वह जब का जब था, अब तो मैं समस्त कर्मों से रहित शुद्ध चेतनात्मक तत्त्व में रह रहा हूँ। एक व्यावहारिक विकल्प का भंग कर के दूसरे व्यावहारिक विकल्पों को अपनाए तो वह तो है बेईमानी, किन्तु व्यावहारिक विकल्पों को भंग कर के यह शुद्ध आत्मतत्त्व में बर्ते तो वह बेइमानी नहीं है।

एक ही भाव में द्विजपना–जैसे किसी सेठने दो दिन पहिले कुछ सहायता देने को कहा था, मानो यह कहा था कि तुम्हारा काम अट का है सो तुम हमारे यहाँ से 50 हजार ले जाना। तुम गरीब पुरुष हो, अपना काम चलाना और हो जाय आज वह निर्ग्रन्थ साधु, चला जाये जंगल में धर्मसाधना के लिये तो क्या कोई यह कहेगा कि देखो इसने वचन दिया था और वचन पाला नहीं। हाँ, जिस पर ऋण हो वह निर्ग्रन्थ साधु नहीं बन सकता है पर और भी वायदा किया हो कि अजी चलो अपन गिरनार जी व मूलबद्री की यात्रा करें, या अपन अगले महीने में बम्बई कपड़ा खरीदने चलेंगे, किसी मित्र से ऐसा कह दिया और आज हो गए साधु तो क्या कोई यह कहेगा कि तुमने तो वायदा किया था और आज हो गए हो साधु ?ऐसा कोई नहीं कहता। अरे वह पहले वाला पुरुष तो मर चु का है, अब तो वह द्विज बना है। अब तो उस पुरुष का नया जन्म हुआ है।

नए जन्म में पुराने जन्म की वासना का अभाव — पहला जन्म वह था जब मां के पेट से निकला था, अब मोह हट गया, रागद्वेष क्षीण हो गया, शुद्ध आत्मा की लौ लग गई तो यह उसका दूसरा जन्म हुआ है। अब पहिले जन्म की बात सब भूल जायेगा। जैसे कोई इस जन्म से मरकर दूसरे भव में पहुंचता है तो वहाँ दूसरे भव में रहते हुए क्या पहिले के इस जन्म की घटनावों में संकल्प, विकल्प मचते रहते हैं ?नहीं तो फिर इसही मनुष्यभव में रहकर साधु व्रत लेकर अर्थात् नया जन्म पाकर अब पुरानी घटना पुरानी ही ढालने चलाने का विकल्प करे तो क्या यह कहा जा सकता है कि मैंने नया जन्म पाया। अरे वह तो वही का वही है जो पहिले था।

ज्ञानचेतना में प्रतिक्रमण की सम्पन्नता — ज्ञानी संत पुरुष पूर्वकृत विकल्पों को अपनाता नहीं है। जो इस प्रकार का कर्म होता है वह सब मेरा मिथ्या हो। मैं तो अपने आप में ही बर्त रहा हूँ। अहो मैं ज्ञान स्वभावमात्र हूँ। यह तो स्वभावत: निष्कर्म है। ज्ञाता दृष्टा मात्र रहूं, इतना ही मात्र होना है। अहो यह अटपट बात हो गयी। यह हो गयी, यह न होने की तरह हो जाय। मैं अपनी प्रज्ञा को अपने आप के अन्तरमर्म में लिए जा रहा हूँ। मैं शुद्ध ज्ञान स्वरूप हूं- ऐसी भावना के बल से यह जीव प्रतिक्रमण कर रहा है, कर्मचेतना का त्याग कर रहा है। कर्मचेतना तीन प्रकार से होती है, किए हुए कर्मों में कर्तृत्व बुद्धि

करना और किए जा रहे कर्म में कर्तृत्वबुद्धि करना और आगे भविष्य में किये जाने वाले कर्मों में कर्तत्व बुद्धि करना। इन तीनों प्रकार की बुद्धियों के त्याग का नाम प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना। यहाँ तक प्रतिक्रमण का वर्णन समाप्त होता है।

निश्चय आलोचना नामक परम तप—अब आलोचना के प्रकरण में आइए। जैसे भूतकाल में 3 साधनों द्वारा अथवा दो साधनों द्वारा अथवा एक साधन द्वारा तीन, दो या एक कर्म का कर्तृत्वभाव किया था तो यहाँ आलोचना के विरोधरूप अपराध में उस ही प्रकार के वर्तमान कार्य में कर्तृत्व भाव किया जा रहा है, इसका नाम है वर्तमान कर्मचेतना। इसे भी उसही प्रकार 49 प्रकार के विकल्पों में लेना। उन सब कार्य में भी यह ज्ञानी संत अपने शुद्ध स्वभाव की दृष्टि की ओर आ रहा है। मैं न मन से करता हूँ, न वचन से करता हूँ, और न काय से करता हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदता हूँ। यों वर्तमान करतूत से भिन्न अपने सहज स्वभाव के देखने में यत्नशील हो रहा है।

स्वयं में स्वयं की कला का विलास – वास्तविकता की बात यह है कि जो मैं स्वलक्षणत: जैसा जो कुछ हूँ उस पर दृष्टि देकर देखें तो न मैं शरीर का कर्ता हूँ, न दुकानादि का कर्ता हूँ, न कर्मों का कर्ता हूँ और यह मैं तो रागादिक भावों का भी कर्ता नहीं हूँ। यह भी होना पड़ता है। असावधानी तो इतनी है और उसी का फल है कि मेरा ही विभाव परिणमन हो जाता है किन्तु स्वरसत: यह मैं कुछ किया नहीं करता हूँ। न मैं करता हूँ और न मैं कराता हूँ। कराना कहते हैं करते हुए को प्रेरणा करना। मैं कि से प्रेरणा कर सकता हूँ, अपनी भावना वासना के अनुसार अपनी चेष्टा कर डालूं यहाँ तक तो मेरी विभाव कला खेल जायेगी पर इससे आगे मैं किसी को कुछ प्रेर सकूं ऐसी मुझ में सामर्थ्य नहीं है।

उदासीनता से सिद्धि—भैया !यहाँ तो यदि ऐसी दृष्टि से रहे, जैसे देखा होगा ना चतुर भिखारियों को जो यह कहते जाते हैं कि जो दे उसका भी भला जो न दे उसका भी भला। उसकी आवाज सुनकर देने वाले भी दे उठते हैं। इसी तरह यदि इस आशय से रहा जाय कि कोई यों परिणमन करे तो उसकी मर्जी, न करे तो उसकी मर्जी। ऐसे उदासीन भावों से अपनी वृत्ति बनाएँ तो यह बहुत कुछ सम्भव है कि आप की मर्जी के विरुद्ध परिणमने वाला भी आप के अनुकूल परिणम जाय और न भी परिणमे तो मैं अपना ही मालिक हूँ ऐसा तो निर्णय है ही आपका। दूसरे का मैं मालिक नहीं हूँ। दूसरे से तो एकमात्र धार्मिक सम्बन्ध है और ममता का भी सम्बन्ध होता है।

गृहमें भी धार्मिक सम्बन्ध की उत्पादि का प्रज्ञा-भैया !ममत्व के सम्बन्ध में तो सद्बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, पर धार्मिक सम्बन्ध मानने पर सद्बुद्धि ठिकाने रहा करती है। क्यों मानें गृहस्थजन कि उनका परिवार के साथ ममता का सम्बन्ध है? ममता सम्बन्ध नहीं है, किन्तु एक धार्मिक सम्बन्ध है। भली प्रकार विचार लो-जो पुरुष आत्मबल की प्रबलता के अभाव से सकल संन्यास नहीं कर सकता उसको यह आवश्यक हो गया है कि कहीं कुपथ में न गिर जायें इसलिए कुछ ऐसा परिजन वैभव का संग रखें कि जिस से कुछ एक देश धर्म पालन की पात्रता तो बनी रहे। इसी उद्देश्य से गृहस्थोंने गृहिणी को स्वीकार किया है। यदि भोग और ममत्व के उद्देश्य से गृहिणी को स्वीकार किया हो तो जीवन भर चक-चक लगी

रहेगी। यदि पहिले उद्देश्य न रहा हो यह तो अब उद्देश्य बना लेना चाहिए। कुपथ में भ्रष्ट न होउं, इतने मात्र बचाव के लिये घर स्वीकार किया है, कहीं घर में ममता नहीं है।

गृहस्थ को प्राप्त विवेक का प्रसाद—लक्ष्य सही हो, फिर यह बात जल्दी आ जायगी कि ये परिजन समझाये जाने पर भी यदि अनुकूल नहीं चलते हैं तो मत चलें, बाबा तुम्हारा भी भला हो। ऐसी उदासीनता और ज्ञान वैराग्य के प्रकाश में यह गृहस्थ सुरक्षित रहता है। उसकी कितनी भी आमदनी हो जाय पर कोई आकांक्षा गृहस्थ के नहीं रहती । धर्म, अर्थ, काम ये तीनों पुरुषार्थ करना कर देने का काम है। तो अपनी ड्यूटी पालने के लिये वह अपनी आजीविका के कार्य में लगता है। फल मिलना यह हमारी बुद्धि पर निर्भर नहीं है। हाँ हमारी बुद्धि पर निर्भर यह है कि उदयानुसार जो कुछ प्राप्त हो उस के ही अन्दर अपना गुजारा करें, ऐसी व्यवस्था बनालें। इस पर तो बुद्धि चलेगी पर किसी की जेब से रुपये निकालकर तिजोरी में आ जायें ऐसी बुद्धि न चलेगी। इस कारण गृहस्थ आचरण के बारे में भी चिंता नहीं रखते, कर्तव्य पालते हैं।

ज्ञानी गृहस्थ का लौकिक इज्जत में अविश्वास--गृहस्थजनों के यह भी परिणाम नहीं होता कि यदि ऐसा ठाठबाट न रहेगा तो पोजीशन गिर जायेगी। न गिरेगी। क्या किसी निर्ग्रन्थ दि. साधु का जब इतना त्याग हो गया, घर छोड़ा, कुटुम्ब छोड़ा, आराम छोड़ा, वाहन छोड़ा, जमीन पर ही लोटते, जमीन पर ही बैठते, यह उन की एक चर्या बन गयी तो क्या उस से उन की पोजीशन कम हो गयी ?उपासक भक्त लोगों के चित्त में तो पोजीशन बढ़ गयी कि धन्य हैं वे संत पुरुष जिन के अहंकार नहीं रहा, शरीर के आराम की बात नहीं रही, जमीन पर ही लौटते हैं, जमीन पर ही सोते हैं, धूल से चिपटा शरीर है, मन में उस के प्रतिकार की आकांक्षा नहीं रहती है ऐसा प्रबल ज्ञान वैराग्य जगा हुआ है। इस प्रकार जो गृहस्थ छोटी आय के भीतर ही संतोषपूर्वक गुजारा करते और मन से दूसरों का भला सोचते, वचन से दूसरों का भला करते, शरीर से दूसरों की सेवा करते उनका कुर्ता चाहे फटा भी हो, कपड़े भी चाहे कोई पहिनने को न मिलें तो भी दुनिया की निगाहमें उसकी इज्जत कम नहीं होती, बल्कि उसकी इज्जत बढ़ती है। अन्याय कर के मायाचार कर के दुनिया में अपनी पोजीशन रख ली और अन्तर में रत्नत्रय से भी चिगा रहा, आत्मदृष्टि खो कर निर्बल हो गया तो यहाँ संसार के लोगों के मध्य में भी उसे अपनी करतूत का फल भोगना पड़ेगा।

पर के कर्तृत्व, कारयितृत्व व अनुमन्तृत्व का प्रभाव--मैं न करता हूँ किसी अन्य पदार्थको, न कराता हूँ और न अनुमोदता हूँ। पर का कर्ता तो मैं यों नहीं हूँ कि पर की परिणति उस पर में ही होती है, मेरी वृत्ति मेरे में होती है। मैं पर को कहाँ किया करता हूँ और पर को मैं कराता नहीं हूँ। कराना कहते हैं करने की प्रयोजकता को। किए गये काम का फल जि से मिले उसे कराने वाला कहते हैं। जैसे आप खेती कराने वाले कहलाते हैं क्योंकि खेती में जो अनाज उपजेगा उसका फल आप भोगेंगें तो लोक में कराने वाला उसे कहते हैं जो काम का फल भोगे। क्या यह कराने वाला जि से लोक में माना गया है वह परकीय काम के फल को परमार्थत: भोग सकता है ?नहीं। फिर कराने वाला कैसे ?प्रत्येक पदार्थ के

कार्य का फल वही प्रत्येक पदार्थ पाता है और वास्तव में फल तो कार्य का यह है कि वह पदार्थ शाश्वत बना रहे। परिणमनकाप्रयोजन वस्तु का शाश्वत बना रहना है, इससे आगे उसका प्रयोजन नहीं है।

परिणमन का प्रयोजन सत्त्व का बना रहना—यहाँ आप अजीव पदार्थ में भली प्रकार से देख लो, वहाँ आप को सच्ची गली दिख जायेगी, क्योंकि अजीव पदार्थ बेईमान नहीं होते। अजीव पदार्थ के परिणमन का प्रयोजन उसका सत्त्व बना रहना है। जीव पदार्थ में यह सच्चाई जरा देर में समझ में आयेगी कि इसके परिणमन का प्रयोजन इसकी सत्ता बनी रहे इतना ही मात्र है; यह बात देर में बैठती है। यही कषाय मन में बसाये हुए है कि अरे बच्चा बड़ा होगा तो हमें आदर से आरती उतार कर रोटी खिलायेगा यह प्रयोजन मन में बसा है। यह समझ में ही नहीं आता कि बच्चे का जो परिणमन होगा उस के प्रयोजन में उस ही द्रव्य का शाश्वत बना रहना है और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। यह वस्तुस्वरूप के बोध से ध्यान में आता है। तो मैं न करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ, न अनुमोदने वाला हूं--इस प्रकार यह ज्ञानी आलोचना को प्राप्त कर रहा है।

अप्रतिकमण की तरह वर्तमानकर्तृत्व व भावीकर्तृत्व के विकल्प—अज्ञानी जीव भविष्यत् काल के कर्तृत्व की भी संचेतना किया करते हैं। मैं अमुक कार्य करूंगा या करते हुए का हौंसला बढ़ाऊँगा, इस प्रकार के भावों द्वारा भावी काल के कर्मों की भी संचेतना किया करते हैं। जैसे प्रतिक्रमण 49 विकल्पों में होता है अथवा भूतकाल के कर्तृत्व की संचेतना 49 विकल्पों में होती है, इस तरह वर्तमान कर्तृत्व की कल्पना 49 विकल्पों में है। इसी प्रकार भावी कर्तृत्व की कल्पना भी 49 रूपों में है। मन, वचन, काय के इन तीन साधनों द्वारा मैं करूंगा, कराऊँगा, अनुमोदूंगा। इस प्रकार से विकल्पों के द्वारा पहिले की तरह भेद लगा लेना। जैसे भूतकाल के काम का परिग्रह व्यर्थ ही सताता है इसी प्रकार भविष्यकाल के काम का परिग्रह भी व्यर्थ सताता है। आयु व्यतीत हो जाती है, आयु क्षीण हो जाती है किन्तु आशा क्षीण नहीं होती है। अब यह करना है, इस करने के भाव में ऐसा रोग बना रहता है कि अपना जो स्वास्थ्य है, ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्त्व का श्रद्धान ज्ञान और आचरण है वह नहीं बन पाता। करूंगा, करूंगा यह तो बहुत ख्याल में रहता है किन्तु मरूंगा, मरूंगा, मरूंगा यह भूल जाता है।

भावकर्म के सम्बन्ध में ज्ञानी की भावना—आलोचना में ज्ञानी संत का यह भाव रहता है कि मोह के विलास के बढ़ने से उत्पन्न हुए जो ये कर्म हैं ये सब मेरे स्वरूप नहीं हैं, इन से मैं पृथक् हूँ, ऐसा जानकर चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में मैं बर्तूं। इस ही प्रकार यह ज्ञानी संत भविष्य काल के कर्मों को भी त्याग कर मोहरहित होता हुआ इस निष्कर्म चैतन्यस्वरूप आत्मा में रहूं, ऐसी भावना करता है। मन, वचन, काय की जो चेष्टा हुई जि से मैंने स्वरसत: नहीं की, किन्तु हो गयी, इस ही प्रकार मन, वचन, काय का जो परिणमन होगा वह भी मैं न करूंगा किन्तु हो पड़ेगा। मैं तो वह करता हूँ जो मेरे सत्त्व के कारण ही मुझ में उत्पन्न हो सकता हो।

पर में करने, कराने व अनुमोदने की सृष्टि की असम्भवता — करना कहते हैं परवस्तु का परिणमन बना देनेको। सो यह तो होता नहीं। कराना कहते हैं परवस्तु के परिणमन का फल स्वयं पा लेना। सो यह भी होता नहीं, क्योंकि परमार्थ: प्रत्येक कार्य का सम्प्रदान कार्य का आधारभूत पदार्थ ही मिलता है। और

अनुमोदना कहते हैं करते हुए की अनुमोदना करना, अनुमोदना है एक प्रकार का ज्ञानपरिणमन। जैसे ज्ञान परमार्थत: परपदार्थ को नहीं जानता किन्तु अपने ही ज्ञेयाकार परिणमनरूप से जानता भर रहता है, इस ही प्रकार कोई भी पुरुष किसी पर को अनुमोद नहीं सकता, वह अपने कषाय के विकल्पों को ही अनुमोदता है। अत: न 'मैं'पर का कुछ कर सका, न करा सका, न अनुमोद स का और इस ही प्रकार न मैं पर का कुछ करता हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदता हूँ। यहाँ मैं शब्द को देखने में अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्य स्वभाव रूप में दृष्टि जानी चाहिए। न मैं किसी पर का कुछ करुंगा, न कराऊँगा, न अनुमोद सकूंगा। इस प्रकार निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चयआलोचना की पद्धति से शुद्ध ज्ञान चेतना की भावना बनती है और मैं ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञानरूप ही परिणमता हूँ, ऐसी दृढ़ भावना के बल से इस ज्ञानी के कर्मचेतना का संन्यास हुआ।

अब अज्ञानचेतना की दूसरी शाखा जो कर्मफल चेतना है उस कर्म फल चेतना के संन्यास की भावना के लिए पहिले कर्मफल चेतना का स्वरूप अवधित करते हैं।

गाथा 389

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।

सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।389।।

कर्मफल चेतना–मूल में मोही जीव के अज्ञान चेतना उठी। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भावों में 'यह मैं हूँ' ऐसी चेतना का नाम अज्ञानचेतना है। वह अज्ञानचेतना दो प्रकार की है—कर्मचेतना और कर्मफल चेतना। उसमें कर्मचेतना का तो वर्णन किया जा चु का है। अब इस गाथा में कर्मफलचेतना का वर्णन चल रहा है। ज्ञानभाव के अतिरिक्त अन्य भावों में यह मैं इसे भोगता हूँ, इस प्रकार का अनुभवन करना सो कर्मफल चेतना है। इसमें प्रकट रूपक इस भांति के हैं। मैं भोजन खाता हूँ, मैं और इन्द्रियों के सुख को भोगता हूँ, ऐसी इन्द्रियज सुख के भोगने का जो परिणाम है, सो कर्मफल चेतना है। कुछ इस मुझ को ख्याल ही नहीं है कि ये विषय अत्यंत परपदार्थ हैं, इन को मैं कभी भोग ही नहीं सकता। इन पदार्थों के सम्बन्ध में जो मैं विकल्प किया करता हूँ, उस विकल्प को ही भोगता हूँ। इस मर्म का परिचय न होने से अज्ञानी जीव का आकर्षण परपदार्थ की ओर रहता है और यह आकर्षण सबसे महान् कठिन विपदा है।

संसारमार्ग व मोक्षमार्ग का मूल में अन्तर—भैया ! संसारमार्ग और मोक्षमार्ग के परस्पर विपरीत होने की सीमा में यहाँ थोड़ा ही अन्तर है। जैसे दो खेतों के बीच बहुत पतली रेखा पड़ी हो तो दो खेतों का बंटवारा कराने वाली मूल में जो जगह है वह बहुत कम अन्तर वाली है, पश्चात् बाहर के विस्तार के क्षेत्र का अन्तर अधिक है। इसी प्रकार यह सारा संसार जो अनेक योनिकुलों रूप है, अनेक विडम्बनाओं रूप है इसके और अनन्तचतुष्टयात्मक मोक्ष का तो बड़ा अन्तर है, पर इस बड़े अन्तर के सीमारूप मूल में जरा सी बात का अन्तर था क्योंकि आत्मप्रदेश में अवस्थित इस उपयोगने अपनी ओर मुख न कर के पर की ओर मुख कर दिया। इतना ही मूल में अन्तर रहा, पर इस अन्तर के परिणाम में अन्तर इतना

बढ़ गया कि कहाँ तो संसार की ये सारी विडम्बनाएँ और कहाँ मोक्ष का अनन्तचतुष्टयात्मक स्वरूप। इस अज्ञानचेतना का जो मूल में अत्यन्त निकट का अपराध है उस अपराध के फल में कर्मचेतना और कर्म फल चेतना के रूप में बड़ा विस्तार बन जाता है। ज्ञानभाव के अतिरिक्त अन्य भावों को मैं भोगता हूँ, ऐसी चेतना करना सो कर्मफलचेतना है।

विषयभोग के विकल्प के भोगने की बुद्धि में भी कर्मफलचेतनापन — मैं भोजन भोगता हूँ, यह तो कर्मफलचेतना है ही, पर मैं कुछ थोड़ा बहुत शब्दों को बोलने लगा और इस ढंग में कुछ दिखने लगा कि मैं भोजन को नहीं भोगता हूँ, किन्तु भोजन सम्बन्धी जो विकल्प हुआ है उस विकल्प को भोगता हूँ। यहाँ पर भी कर्मफलचेतना ही रही। मैं तो ज्ञानभाव के अतिरिक्त अन्य आत्मीय परभावों को भी नहीं भोगता हूँ। ऐसा मात्र शुद्धनिश्चय की दृष्टि से केवल ज्ञानवृत्ति को ही भोगने की भावना करना, सो कर्मफल चेतना से अलग ज्ञानचेतना वाली बात होगी। यह कर्मफल चेतना भी 8 प्रकार के कर्मों का बंध कराने वाली है। कर्मफल को भोगता हुआ सुखी और दु:खी होना, सुख और दु:ख को भोगता हुआ ऐसा अनुभव करना, सो यह कर्मफल चेतना है।

क्लेश पाने की मूल पद्धति की एकता--यह कर्मफलचेतना संसार के बीजभूत 8 प्रकार के कर्मों को बांधती है यह जीव बिल्कुल व्यर्थ ही दु:खी हो रहा है। पूरा है, अपने में है, प्रभु है, विभु है, पर से कुछ लेनदेन नहीं है किन्तु मोहवश पर की ओर अपने उपयोग को भेजकर अपने को रीता बना लेता है, और जो रीता हो गया, गरीब है, दीन हो गया, आशा करने वाला हो गया सो दु:खी ही होगा। एक ही ढ़ंग का दु:ख है सब जीवोंके। पर की ओर आकर्षण, बस यही मूलरूप दु:ख है जगत के सब जीवोंको। जैसे मनुष्य चाहे हिन्दू हो, मुसलमान हो, जैन हो, एक तरह से ही पैदा होते हैं और एक ही तरह से मरते हैं। इसी तरह कोई भी जीव हों वे सब एक ही तरह से दु:खी होते हैं--वह तरह है परपदार्थों की ओर अपने उपभोग का आकर्षण हो जाना। सब जीवों में इसी ही प्रकार का दु:ख है, चाहे कीड़ा मकौड़ा हो, चाहे देव मनुष्य हो, एक ही किस्म से यह सारा जीवलोक दु:खी है।

विभिन्न क्लेशों में भी मूल पद्धति की एकता—जैसे किसी के मरने की प्रक्रिया में भले ही पचासों तरह की घटनाएँ हों, कोई जल में डूबकर मरे, कोई आग में जलकर मरे, कोई बीमारी से मरे, कोई हार्टफैल होकर मरे। कितने ही भिन्न साधन बन जायें परन्तु मरना जीना तो एक ही तरह का है। कोई बड़े लाड़ प्यार के साधन में पैदा हो और चाहे आफत मानने वाले माता पिता के विकल्पों के वातावरण से पैदा हो—पैदा होना और मरना एक ही ढ़ंग से होता है। इसी तरह दु:खी होना एक ही ढ़ंग का है, उस के रूपक चाहे कितने ही भिन्न हो गए हों। और ये रूपक इतने भिन्न हो गए कि एक मनुष्य के दु:ख से दुसरे मनुष्य का दु:ख मिलता जुलता नहीं है। हम और ढंग से दु:खी हो रहे हैं, आप और ढंग से दु:खी हो रहे हैं। सब के दु:खों की पद्धतियां न्यारी-न्यारी हो गयीं फिर भी मूल में प्रकार एक ही है। अपने ज्ञानभाव को छोड़कर अन्य भावों में आकर्षण हुआ। यह अपराध जितने दु:खी हैं सब के एक समान पाया जाता है।

कर्मफलचेतना के संन्यास के लिये भगवती ज्ञानचेतना से अभ्यर्थना–मैं अन्य पदार्थों को भोगता हूँ, इस प्रकार की चेतना संसार का बीज है, दु:ख का कारण है, ऐसा जानकर जो संकटों से छूटने का अभिलाषी हो उस पुरुष को इस अज्ञानचेतना का प्रलय करने के लिये जैसे कर्मचेतना के संन्यास का भाव किया था इसी प्रकार सकलकर्मफल के भी संन्यास की भावना करे और स्वभावभूत भगवती ज्ञानचेतना का आराधन करें। भगवान अर्जी न सुने तो इस भगवती से अर्जी करो। लोक में कुछ ऐसी चलन है कि जो बात गुरु जी से कहकर सिद्धि में न आती हो तो गुरुवानी से कह देता है बालक। तो भगवानने तुम्हारी न सुनी हो तो इस भगवती से अपनी अर्जी करो। कौनसी भगवती ?यह ज्ञानचेतनारूप भगवती। जैसे गुरुवानी के जोर से गुरु भी मान जायेगा, ऐसे ही ज्ञानचेतना के जोर से यह भगवान भी मान जायेगा। मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ, ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान को ही भोगता हूँ, इस प्रकार का अनुभवन करना सो ही भगवती ज्ञानचेतना की आराधना है।

कर्मचेतना व कर्मफलचेतना के आशयों की तुलना--भैया ! कर्मचेतना से निपटकर अब कर्मफलचेतना से निपटो। यद्यपि जब कर्मचेतना दूर होती है तो कर्मफल चेतना भी दूर होती है, फिर भी व्यवहार में पहिले कर्तृत्वबुद्धि का परिहार कर के भोक्तृत्वबुद्धि का परिहार करना देखा जाता है। परपदार्थ को करने का ऊधम विषमता और उद्दण्डता दोनों से भरा हुआ है और भोक्तृत्व का ऊधम चाहे उद्दण्डता से भरा न हो तो भी वह विषमता से भरा है। जैसे समझदार बदमाश और मूर्ख बदमाश—इन दोनों में से अधिक खतरनाक किसे जानते हो ?समझदार बदमाशको। समझदार बदमाश जैसा तो कर्मचेतना और मूर्ख बदमाश जैसा है कर्मफलचेतना। कर्मचेतना में उद्दण्डता का नाच है और कर्मफल चेतना में विवशता का नाच है।

कर्मफल से उपेक्षा—तीन काल सम्बन्धी सर्व प्रकार के कर्मों को दूर कर के यह शुद्धनय का आलम्बन करने वाला ज्ञानी पुरुष मोह को विलीन कर के विकाररहित चैतन्यस्वरूप अपने आत्मा का आश्रय करता है और कर्मचेतना का परित्याग करके, कर्मसंन्यास की भावना बनाकर अब यह ज्ञानी समस्त कर्मफल के संन्यास की भावना करता है। ये कर्मफल मेरे स्वभाव से उत्पन्न नहीं हुए। ये कर्मरूपी विषवृक्ष के फल हैं, औपाधिक भाव हैं, परभाव हैं, ये कर्मविषवृक्षफल, विभाव परिणमन, सुख दु:ख आदिक विभाव मेरे भोगे बिना ही निकल जाएँ। मैं तो एक चैतन्यस्वरूप अचल आत्मा को ही चेतता हूँ। ये कर्मफल आ पड़े हैं, किन्तु यह ज्ञानी अन्तरङ्ग में ज्ञानस्वरूप की भावना बनाए हुए है और ज्ञानस्वरूप की तीव्र रुचि के कारण वह अपने में ऐसा साहस बनाए है कि ये कर्मफल विभाव मेरे भोगे बिना ही खिर जायें।

अविपाकनिर्झरणभावना- -खिरना तो इन्हें ही, क्योंकि ये रागादिक भाव अत्यन्त अशरण हैं, इन का सहाय कोई नहीं है। ये आते हैं मिटने के लिए। जैसे पतंगी दीपक पर आती है मरने के लिए, ऐसे ही रागादिक विभाव उत्पन्न होते हैं तो मिटने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। किन्तु यह जीव मिटने वालों से राग कर के अपने आप को बरबाद करता है। ऐ कर्म विषवृक्षफलों, तुम मेरे भोगे बिना ही गल जावो, तुम निकल तो रहे ही हो निकल जावो, पर भोगे बिना निकल जावो, उनमें भोगने का विकल्प बनाए बिना मेरे ऊपर से गुजर जावो। जानता है ज्ञानी कि ये कर्मफल अन्तर में प्रवेश तो कर ही नहीं सकते,

सो उनके प्रति संन्यास भावना करता है कि आए हैं महिमान तो मेरे भोगे ही बिना, मेरे द्वारा आदर किये बिना ही निकल जावो क्योकिं ये महिमान हैं। महिमा नहीं जिन की सो महिमान। जितनी घर के बच्चे की आप महिमा समझते हैं उतनी आप फूफा के मौसा के बच्चे की महिमा नहीं समझते घर का है। वह महिमा है, बाहर का है महिमान है। ऐसे महिमान विभावों के प्रति हे विषफलो ! मेरे भोगे बिना ही निकल जावो, ऐसी ज्ञानी की भावना होती है।

ज्ञानावरणकर्मफलसंन्यासभावना — कर्मों की 14 प्रकृतियाँ होती हैं। प्रकृति कहते हैं फल देने की जातिको। किसी जाति का फल देने की प्रकृति पड़ी है, ऐसी प्रकृति को कर्मप्रकृति कहते हैं। ज्ञानावरण की 5 प्रकृतियां हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। मतिज्ञानावरणीय कर्म के उदय का निमित्त पाकर यह जीव मतिज्ञान प्रकट नहीं कर सकता। मतिज्ञान बिल्कुल प्रकट न हो, ऐसी स्थिति संसारी जीव की नहीं ह। कुछ न कुछ बना रहता है पर जो नहीं प्रकट हो सकता है उसमें निमित्त है मतिज्ञानावरण कर्म का उदय। इसी प्रकार अन्य ज्ञानावरणों का भी उस ज्ञान को प्रकट न होने देना यह काम है। अज्ञानरूप स्थिति होना यहीं ज्ञानावरण कर्म का फल है। होती है ज्ञान के अभावरूप स्थिति, लेकिन अन्तर में निज सहजस्वभाव का परिचय कर लेने वाले ज्ञानी पुरुष को अन्तर में इस चैतन्यस्वभाव का ही दर्शन और रमण करने का यत्न होता है इस कारण उसकी यह भावना होती है कि वह अन्तर में यह निर्णय किए हुए रहता है कि मैं ज्ञानावरणीय कर्मों के फल को नहीं भोगता हूँ किन्तु चैतन्यात्मक आत्मा को ही चेता करता हूँ।

दर्शनावरणकर्मफलसंन्यास भावना — दर्शनावरणीय कर्म का फल है आत्मदर्शन न होने देना। दर्शनावरणीय कर्म का उदय रहते हुए भी समयग्दृष्टि के अन्तर में आत्मा का दर्शन यथासमय होता रहता है और इस बल से वह अपने अन्तर में यों निर्णय किये हुए रहता है कि मैं दर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, किन्तु चैतन्यात्मक निज आत्मा को ही चेतता हूँ।

वेदनीयकर्मफलसंन्यास भावना —वेदनीय कर्म के उदय से जीव को साता और असाता प्राप्त होती है, साता असाता परिणाम में आश्रयभूत सामग्री का संयोग होता है। इन सब कर्मफलों के बीच भी ज्ञानी जीव यह निर्णय रखता है कि मैं वेदनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, किन्तु चैतन्यात्मक आत्मा को ही चेतता हूँ। ऐ विषवृक्ष फल, मेरे भोगे बिना ही निकल जावो।

मोहनीयकर्मफल संन्यास भावना —मोहनीय कर्मों की 28 प्रकृतियां होती हैं, तीन तो दर्शनमोह की प्रकृतियां हैं—मिथ्यात्व परिणाम होना, मिश्रपरिणाम होना और सम्यक्त्व में दोष उत्पन्न होना। इनमें से मिश्र परिणाम और मिथ्यात्व परिणाम की बात जिस के नहीं रही है अथवा तीनों दर्शनविभाव नहीं रहे आन्दोलन बना हुआ है कि मैं किसी भी कषाय के प्रकृति फल को नहीं भोगता हूँ किन्तु मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही चेतता हूँ। जरा कड़ा साहस कर के इस ऊधम को दूर कर के अन्तर में प्रवेश करें। बाह्य विकल्पों से निकलकर अन्तर में प्रवेश करने वाला ज्ञानी संत विचार रहा है कि मैं तो चैतन्यात्मक आत्मा को ही भोग रहा हूँ। कोई न भी भोग रहा हो किन्तु चैतन्य रस के भावना की उत्कंठा प्रबल हो तो उस

ओर ही दृष्टि होने के कारण वह कुछ भी भोगता हुआ ऐसा ही मन में भाव रखता है अथवा यह ज्ञानरस का अनुभव दूर कहाँ है ?मैं इस ओर दृष्टि नहीं करता हूँ। दृष्टि करता हूँ तो मैं इसको ही भोगता हूँ।

कार्य की बदल में नूतन कार्य की तत्परता —भैया ! भोगने के निकट होने में भी भोगता हूँ, ऐसा प्रयोग होता है। जैसे बहुत देर तक बातों में लगने के बाद जब खाने की इच्छा होती है तो मित्र अपने दोस्त से कहता है कि अब मैं बात नहीं करता हूँ। अब तो मैं खाता हूँ। तो खाने की ओर उपयोग दिया। अभी खा नहीं रहा है, फिर भी वह ऐसा निर्णय बनाए है कि अब मैं गप्पों में नहीं हूँ, अब तो मैं खाता हूँ। तो यह ज्ञानीसंत कभी कभी तो ज्ञानरस को भोग लेता है और कभी स्मरण करता हुआ उसकी ओर दृष्ट होता है कि मैं कहाँ अन्य कुछ भोगता हूँ, ऐसा उस के निर्णय बना रहता है। कभी देखा होगा कि ऊपर सुख और भीतर दु:ख। कभी अनुभव किया होगा कि ऊपर तो दु:ख और भीतर सुख। ऐसी स्थितियां आया करती हैं।

अन्तर्भोग व बाह्य वर्तना के बेमेलीपर एक दृष्टांत —जैसे कभी कोई इष्ट वियोग की घटना घट जाये तो रिश्तेदार मित्रजन उसे बड़े प्यार से बुलाते हैं, गोद में बिठाते हैं, मस्तक पर हाथ फेरते हैं, बढ़िया बढ़िया खाने के सामान रखते हैं और उसका दिल बहलाने की कोशिश करते हैं। ऊपर से कितना सुखी हो रहा है, ऐसा सुख तो कितना ही खर्च करने पर भी नहीं मिलता है, पर भीतर में उस के दु:ख बना हुआ है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि पुरुष के ऊपर से तो दु:ख लगा है, घर गृहस्थी का झगड़ा लगा है, लड़कों को पढ़ाना लिखाना, लड़कियों की शादी करना, सभा सोसाइटी के काम करना, देश की सब बातें हैं, तो ऊपर से तो कितने दु:ख लगे हुए हैं, पर अन्तर में जरासा ही तो मोड़ना है ज्ञानदृष्टि को, मैं तो यह अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ, परिपूर्ण हूँ, ज्ञानानन्दमय हूँ, यों देखकर भीतर में अनाकुल बना हुआ है। उसमें इतनी हिम्मत है कि कर्तव्य है मेरा परपदार्थों में कुछ करने का, हो गया तो ठीक, न हो गया तो ठीक।

ज्ञानी का ज्ञातृत्व —अज्ञानी जीव की कल्पना में आता है कि न हुआ ऐसा तो, वह घबड़ा जाता है, फिर क्या होगा ?परंतु ज्ञानी पुरुष के घबड़ाहट नहीं है, हो गया तो ठीक, न हुआ तो ठीक। इष्टवियोग हो जाता है तो ज्ञानी ज्ञाता उसका रहता है, मैं तो पहिले से ही जानता था कि ऐसा होता है, उसे क्लेश किस बात का ?यह ज्ञानी पहिले से ही जान रहा है कि जो कुछ परिणमन है यह सब मिटने वाला है, अलग होने वाला है। कोई मर गया तो इसमें कौन सी अनहोनी बात हो गयी ?यह तो होने की ही बात है, होकर रहेगी। किसी का कुछ समय संयोग है तो अंत में वियोग होगा ही। इसे कोई नहीं टाल सकता। इस बात को अभी से जानते रहें तो जब तक जी रहे हैं तब तक सुखी रह जायें ना, यह समय भी दु:ख में क्यों निकले ?ज्ञानी जानता है कि मैं कर्मों के फल को नहीं भोगता हूँ किन्तु अपने चैतन्यात्मक आत्मा को ही चेतता हूँ।

ज्ञानतीर्थ में क्वचित् संगम -- क्रोध आता हुआ भी अन्तर में ज्ञान और शांति बनी रहे, ऐसी विरुद्ध दो नदियों का संगम इस ज्ञानतीर्थ में ही हो सकता है। क्रोध आये फिर भी उस क्रोध में पर का अनर्थ न कर सके, ऐसी सज्जनता इस ज्ञानी पुरुष में ही रहा करती है। अज्ञानी तो ऐसा क्रोध करेगा कि किसी कारण क्रोध कम हो रहा हो तो यह कोशिश करता है कि क्रोध कम न हो, नहीं तो मैं इसका नाश ही न

कर सकूंगा। क्रोध और अन्तर में शांति, इन दोनों का मेल ज्ञानतीर्थ में होता है। मान और अन्तर में विनय, इन दोनों का संगम किसी ज्ञानी में होता है। अभी अन्तर की सरलता और बाहर का मायाचार, इन दोनों का भी मेल होता है कि नहीं ?होता है। किसी के अन्तर में तो यह बात बसी है कि मैं सर्वपरिग्रहों को त्यागकर ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही रहूं, भीतर तो यह आशय बना है और ऊपर ये सब मन, वचन, काय की चेष्टाऐं ऐसी बनी हैं कि भीतर के अभिप्राय के विरुद्ध हैं । या यों कहो कि ज्ञान में बात हितपूर्ण बसी है और करना कुछ और है। यह तो है ज्ञानी का अवशता का मायाचार। अन्दर में यह बात बसी है कि मैं शुद्ध ज्ञानरस में मग्न हो जाऊं और ऐसी बात बाहर करता नहीं। विवशता में ऐसा आचरण बनाता है कि कमाये, घर रहे, बात करे और उनमें मन है नहीं, मन लगा है निजप्रभुता की जगह और कर रहा है, बोल रहा है कुछ और तो यह भी एक बड़ा अद्भूतसंगम है।

रुचि और भोग की मैत्री--अन्तर में निर्विकल्पता और बाहर में आवश्यक वृत्ति संचय—ये दो बातें प्राक्पदवी में किसी बिरले ज्ञानी पुरुष में एक साथ संगत हो जाती हैं। इसी बल पर तो ज्ञानी के यह निर्णय है कि मैं मोहनीय कर्मों के फल को नहीं भोगता हूँ, किन्तु मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा को चेतता हूँ अथवा भोगने का काम छोड़कर चेतने के काम की तैयारी में ऐसा कहा जाय कि मैं कर्मफल को कुछ नहीं भोगता हूँ, मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा को अनुभवता हूँ। प्रोग्राम बदल गया, अब गप्पों में नहीं बैठता हूँ, अब तो मैं भोजन करता हूँ। जैसे दो कामों में एक से निवृत्ति और एक में प्रवृत्ति होती है। जब नूतन कार्य का उद्यम होता है तब भी यह सब बोला जाता है और यह ज्ञानी तो कर्मफल के क्षेत्र से परे अन्तर में बोझरहित ज्ञानरस का स्वाद लिये जा रहा है। मोहनीय कर्मों में हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा ये सब प्रकृतियां हैं, उन प्रकृतियों के फल में हास्य शोक आदि रूप परिणमन भी होता है, किन्तु उन सब स्थितियों में इस ज्ञानी के यह निर्णय बना है कि मैं हास्य शोक आदि फलों को मैं नहीं भोगता हूँ किन्तु ज्ञानरसात्मक निजतत्त्व को अनुभवता हूँ।

ज्ञानी की अन्तरचेतना--दो मित्र बातें कर रहे हों, एक से घनिष्ट मित्रता हो और एक से साधारण बोलचाल हो तो साधारण बोलचाल वाला बड़ी बड़ी बातें सुना रहा है पर यह तो मैं नहीं सुनता हूँ, मैं तो सुन रहा हूँ दूसरे घनिष्ट मित्र की बात और सुन रहा है दोनों जगह, शब्द कहाँ जायें ?कान में तो दोनों मित्रों की बात आ रही है मगर घर कर रही है घनिष्ट मित्र की बात और साधारण बोलचाल वाले की बात को सुन ही नहीं रहा है। इसी तरह ये कर्मफल भी ज्ञानी जीव पर आ रहे हैं और अन्तर में ज्ञानरस का पान भी किया है ना इसने, उसका स्मरण बना है। तो यह ज्ञानी कर्मफल को नहीं भोगता किन्तु ज्ञानरस को चेतता है।

आयुकर्मफलसंन्यासभावना--एक आयुकर्म होता है जिस का फल यह है कि आत्मा को शरीर में रोके रहना, यह आत्मा इस शरीर में रुका हुआ है, शरीर के बंधन में पड़ा हुआ, फिर भी यह ज्ञानी जीव जिस का कि उपयोग नित्य निरञ्जन सहज ज्ञानस्वरूप में लगा है उस ओर ही जो रहने का उत्सुक है तो जिस का ख्याल है उसका भोग है। शरीर है और इसमें बंधा हुआ है इस ओर उसका ध्यान नहीं है और

न ऐसा अनुभवन करने का उपयोग कर रहा है। वह ज्ञानी तो आयुकर्म के फल को नहीं भोग रहा है किन्तु चैतन्यरसात्मक आत्मतत्त्व को चेतता है।

नामकर्मफलसंन्यासभावना --नामकर्म के फल में अनेक प्रकार के शरीरों की रचना होती है। शरीर की कितने प्रकार की रचना है यह क्या समझाना है ?यहीं देख लो जितने दिख रहे हैं इन सबकी नाक आंखों के बीच और मुँह के ऊपर ही तो लगी है, एक स्थान पर ही है। पर किसी की नाक से किसी की नाक नहीं मिलती। खूब देख लो। तो जब यह नाक ही किसी की नाक के समान नहीं दिख रही है तो फिर यह सारा शरीर कैसे समान होगा और फिर पशु, पक्षी, कीड़ा, मकोड़ा, पेड़, इन सब के संस्थान विभिन्न प्रकार के हैं, इनका रस, इनका स्वरूप, इन का वर्ण, आकार, प्रकार, ढाँचा यह सब भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। ऐसे भिन्न भिन्ना शरीर होना नाम कर्म का फल है। पर होने दो खूब फल, मैं तो यह शरीर ही नहीं हूँ। मैं तो एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूँ और ऐसा रुचिपूर्वक उपयोग भी इस स्वभाव की ओर जाय तो लो नामकर्म के फल को अब नहीं भोग रहा है। वह तो चैतन्यरसात्मक आत्मा को ही चेतता है। अथवा यह सब कर्मफलचेतना संन्यास की भावना की जा रही है, मैं इसे नहीं भोगता हूँ, मैं तो यह करता हूँ, अपने आप को चेतता हूँ।

क्षेत्रकर्मफलसंन्यासभावना —गोत्र कर्म का फल है लोकमान्य अथवा लोकनिन्द्य कुल में उत्पन्न होना। लोकव्यवस्था से अथवा अपने आचरण के संस्कार से उत्तम अथवा नीच कुल होता है। लेकिन जब मैं शरीर ही नहीं हूँ और किसी प्रकार की पोजीशन भी मैं नहीं हूँ। मैं तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूँ, तो वह गोत्रकर्म के फल में क्या उपयोग लगायेगा ?वह तो आत्मरस की ओर चलेगा। मैं गोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, किन्तु ज्ञानरस निर्भर आत्मतत्त्व को चेतता हूँ। कर्मों के फल का विस्तार बहुत अधिक है, एक-एक कर्म का फल समक्ष रखकर उस से संन्यास की भावना बनाना चाहिए।

अन्तरायकर्मफल संन्यासभावना-- 8 वां कर्म है अंतराय कर्म। अंतरायकर्म के फल में दान लाभ भोग आदि की वृत्ति में अंतराय होते हैं। दान देने का परिणाम न हो सके, यह दान अन्तराय का फल है। दानी पुरुष मन में कुछ खर्च करने का भाव रखकर भी उसे हाथ से देते नहीं बनता और यह कह देंगे कि रखे हैं रुपये, तुम अपने हाथ से देवो। यह गप्प की बात नहीं कह रहे हैं। ऐसे पुरुष होते हैं। गुरुजी सुनाते थे कि एक भाई ऐसे थे, वे यही कहते थे कि भाई ले जावो वे रखे हैं, पर हाथ से देते नहीं बनता। खैर, वहाँ भी दानान्तराय जरा कमजोर हो गया, पर दानान्तराय के उदय में तो भाव ही यह नहीं होता कि मैं कुछ त्याग करूं। यह विभाव है, इसी प्रकार लाभ, भोग, उपभोग आदि के अंतराय का फल है। विभाव के फल को कुछ मैं नहीं भोगता हूँ अर्थात् इन विभावों को मैं त्यागता हूँ। मैं तो एक चैतन्य रसात्मक आत्मतत्त्व को चेतता हूँ।

भैया !एक-एक कर के समस्त कर्मों के फल के त्याग होने से इस मुझ को चैतन्यचिन्ह परमात्मतत्त्व के दर्शन सुगम होते हैं। जैसे पुराणों में राजावों की, चक्रवर्तियों की विभूति, नगरी, रानियों की बड़ी प्रशंसा के जिस में बड़े अलंकारों में अनेक पेज भर दिये गये हैं और काम की बात, त्याग की बात दीक्षा का प्रसंग बताने में दो एक पन्ने ही भरे हैं परन्तु इस सब श्रृंगार और वैभव का वर्णन इस दीक्षा के प्रसंग

में बड़ी मदद दे रहा है। इतना अद्भूत वैभव जब सुन रखा है और फिर एक ही शब्द में यह वर्णन आ जाय कि लो अब चक्रवर्ती ने सारा त्याग कर दिया। तो इस शब्द की बड़ी महिमा बनती है। कैसा वैभव था जिस का त्याग किया?कर्मफल को विस्तारपूर्वक यदि पढ़ा जाय, सुना जाय और फिर ज्ञानी के कर्म फल के संन्यास की भावना कही जाय तो इसमें स्फूर्ति और अधिक आती है। ओह, ज्ञानी संत ऐसे विकट कर्मफल से अलग रहकर ज्ञानस्वभाव का संचेतन किया करते हैं।

ज्ञानानुभूति में समय व्यतीत करने की आकांक्षा--कर्मफल के त्याग होने के परिणाम में ऐसी समस्त विभाव क्रियावों की निवृत्ति हो, ज्ञानातिरिक्त विभाव के संन्यास की स्थिति आये तो ऐसी स्थिति में एक चैतन्यचिन्ह चेतन को चेतने से उस समय में जो आन्नदरस का अनुभव हो उस अनुभव के बाद जब कुछ ज्ञान विकल्प में अथवा अन्य चर्चावों में आता है तो उन से भी कोशिश कर के यह सोचता है कि ओह जैसे क्षण मेरे अभी व्यतीत हुए थे, ऐसा ही समय मेरे अनन्त काल तक रहे, मुझे अन्य विकल्प ना चाहियें।

ज्ञानी के आत्मसंचेतन की उत्सुकता – यह जीव अज्ञानवश कर्मोदयजन्य स्थितियों में अपनी कल्पना बनाकर कर्मफलों को भोग रहा था। जब अपने यथार्थस्वरूप का परिचय हुआ, तब यह मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान के कर्म को करता हूँ और ज्ञान के फल को भोगता हूँ – इस प्रकार का जब निर्णय हुआ तो सभी प्रकार के कर्मफल को वह त्याग कर अपने आप में अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की चेतना उद्यमी होता है। कर्मों के फल में अनेक बातें हैं पर कुछ बातों पर दृष्टि देकर यह समझने का यत्न करें कि क्या जीव वास्तव में ऐसे कर्मफल को भोगा करता है? अंतराय कर्म का उदय हो,चीज न मिली, ठाठबाट का आराम ना मिला, अरे मिलता तो भी जीव निराला था और ना मिलता तब भी सबसे निराला है। उस स्थिति में कल्पना बनाना, यह सब अज्ञान की बातें हैं। मैं इसको नहीं भोगता हूँ, मैं तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मा को ही भोगता हूँ । जैसे कहते हैं ना कि हम को यह नहीं खाना है, हम तो यह खाते हैं, हम को वहाँ नहीं जाना है, हम तो यहाँ जाते हैं। ऐसी बात कर देना है इस ज्ञानी जीव को कि हम कर्मफल में नहीं भोगते हैं, हम तो ज्ञानमात्र आत्मा को चेतते हैं।

अनात्मपरिहार और आत्मसंचेतन – भैया ! यश भी और अयश भी एक बुरी बला है। ये भी कर्म के उदय से हुआ करते हैं। यश क्या चीज है कि जगत के मोही जीवों ने कुछ भला भला गा दिया। जो कि वास्तव में जीव की निन्दा है। क्या यश फैलायेगा कोई, यहाँ बड़ा परोपकार करता है। तो क्या जीव का परपदार्थों में कुछ करने का स्वभाव है? उल्टी उल्टी बातें दुनिया कहती है। पर कुछ सुहावनी उल्टी हैं और कुछ असुहावनी उल्टी हैं। ज्ञानी जीव जानता है कि मैं ज्ञानातिरिक्त अन्य कुछ को नहीं करता, ना भोगता, यह सब कर्म विपाक हैं, इन को मैं नहीं भोगता हूँ। मैं तो ज्ञानस्वरूपआत्मतत्त्व को चेतता हूँ। जैसे पंगत में बहुत सी चीजें परोसी जाती है तो उनमें से जिन चीजों का स्वाद अच्छा न लगे उन को हमें नहीं खाना है, हमें तो कलाकंद, बर्फी आदि नहीं खाना है, हमें तो बावर ही खाना है। पत्तल में पड़ा है तो पड़ा रहे, हमें क्या हर्ज है? ऐसी ही विलक्षण ज्ञानी की महिमा है। इस उपयोगभूमिकामें, इस

उपयोग पत्तल में सारी चीजें परोसी हुई हैं, इस ज्ञानी जीव को जिन में स्वाद नहीं आ रहा है, ऐसे जो कर्मफल हैं उन को छोड़ता है। कुछ हो इनका, मैं तो इस ज्ञान मात्र भाव को ही चेतता हूँ।

यश और अयश की वला —ये यश और अयश जिन में जगत के जीव आसक्त हो रहे हैं यह क्या हैं? बला हैं। बला और भला- इन के परस्पर विरुद्ध अर्थ हैं। भला का उल्टा बला। इसमें मात्र संक्लेश ही है। कांतिमान शरीर हो गया। यह भी कर्म का ही फल है। अब अज्ञानी जीव तो देह को निरख-निरख कर खुश होता है। बड़ा अच्छाशरीर मिला, बहुत सुन्दर हूँ। ज्ञानी जीव जानता है कि यह तो इल्लत लगी है, मेरा तो देहरहित स्वभाव है। आत्मीय वास्तविक आनन्द को भोगने का मेरा स्वभाव है, मैं इन को नहीं भोगता हूँ, मैं तो एक ज्ञानमात्र भाव को चेतता हूँ। कुछ दुनिया में पोजीशन बन जाती है, शकल सूरत भी न हो तो भी लोग प्रीति करते हैं। और कोई शक्ल सूरत अच्छी है फिर भी नफरत करते हैं। यह सब कर्मों का ही तो खेल है। मैं तो एक ज्ञानमात्र निज तत्त्व को चेतता हूँ।

ज्ञानी की आकांक्षा —भैया ! यश अयश ही एक क्या अनेक कर्मफल हैं जिस कर्मफलों का इस ज्ञानी जीव ने त्याग किया और इसके फल में समस्त जो अन्य क्रियाएँ हैं उनके विहार को खत्म किया, ऐसी स्थिति में जब किसी कर्म को अपनाया नहीं जा रहा है, किसी फल को भोगने की बुद्धि नहीं की जा रही है। केवल निर्विकल्प सहज आत्मानन्द को भोगने का भाव है ऐसी स्थिति में जो आत्मतत्त्व का दृढ़ अनुभव है, अनुपम आनन्द है, उसको भोगने के बाद जब थोड़ा सा भी चिगता है तो ज्ञानी बड़ा खेद करता है। अरे मुझे तो वही क्षण प्राप्त हो जिस स्थिति में अभी था। उसी स्थिति में रहकर मेरा समय व्यतीत हो अनन्तकाल तक एक ऐसा ही मेरा परिणमन चले ऐसी ही स्थिति रहे।

वर्तमान व सर्व भविष्य में रम्य आनन्द का पात्र —पूर्व परिणामकृत जो विषवृक्ष हैं, द्रव्य कर्म के बन्धन हैं उन विषवृक्षों के फल को जो ज्ञानी जीव नहीं भोगता है, किन्तु अपने आप में तृप्त रहता है वह ऐसे उक्त आनन्द को प्राप्त होता है जो वर्तमान काल में भी सुख देने वाला है और भावी काल में भी सुख देने वाला है ऐसे अनुपम आनन्द की दशा प्राप्त होती है। जैसे लोगों के प्रति सद्व्यवहार रखना वर्तमानकाल में भी आनन्द का कारण है और आगामी काल में भी आनन्द का ही कारण है व्यवहार में, इसी प्रकार परमार्थ में कर्म और कर्मफल में भी आनन्द का करने वाला है और आगामी काल में भी आनन्द का करने वाला है। ये संसार के सुख, वर्तमान काल में तो सुख की अवस्था के करने वाले होते हैं पर भविष्यकाल में इन से क्लेश ही बनते हैं लेकिन मोही जीव इन विषयसुख के कटुफलों को भोगते जाते हैं और फिर भी छोड़ना नहीं चाहते।

आनन्दभाव की बलि —भैया ! कर्मफल चेतना से जो निवृत्त हो गया है वह शुद्ध ज्ञानचेतनारूप ही चेतता रहता है। उसमें उपाय है निश्चय कारणसमयसार का आलम्बन, जो आलम्बन साक्षात् उपादेयभूत कार्यसमयसार को उत्पन्न करने वाला है, उसकी पद्धति है चिदानन्दस्वभावी शुद्ध आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान होना और वै से ही अनुचरण होना ऐसे अभेद रत्नत्रयरूप निर्विकल्प समाधि से जो सहजानन्द प्रकट होता है उस के अनुभवन से यह मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रकट होता है। इसके लिए बड़े बलिदान की आवश्यकता है। किस के बलिदान की? जो अपने में विषयकषाय की इच्छा घर किये हुए हैं

उसकी बलि की आवश्यकता है, त्याग की आवश्यकता है। त्याग का ही नाम पूजन है, त्याग का ही नाम प्रेम है। त्याग बिना प्रेम भी प्रकट नहीं होता, त्याग बिना पूजा भी प्रकट नहीं होता।

कल्याण की त्याग पर निर्भरता —कोई कहे कि मित्रता तो करें, पर रहें कंजूस, पैसा भी खर्च न करना चाहे तो उसका प्रेम भी नहीं कहा जाता है। सब लोग जानते हैं त्याग बिना प्रेम नहीं होता, त्याग बिना पूजा भी नहीं बनती। त्याग बिना न प्रीति है, न पूजा है, न मोक्षमार्ग, न मोक्ष है। तो जो ये विषय कषाय इस कारण प्रभु पर हावी हो रहे हैं उन विषय कषायों का बलिदान करना एक बहुत बड़ा काम पड़ा है तीन लोक, तीन काल सम्बन्धी जो मन, वचन, काय से करे, कराये, अनुमोदे, ऐसे परद्रव्यों के आलम्बन से उत्पन्न हुए जो शुभ-अशुभ संकल्प हैं, इन संकल्पों का विनाश करना है और जो देखे सुने, अनुभवे, भोगे, स्मरणरूप आकांक्षा रूप जो निधानों का जाल है उस जाल का बलि करना है। इतनी तैयारी की जाये तब जाकर प्रभु के दर्शन होंगे।

अज्ञान व ज्ञान दशा की परिस्थितियां – परद्रव्यों को अपनाने का नाम भी लोभ कषाय है, जिस को रंग की उपमा दी गई है। इसमें रंगा हुआ प्राणी अपने यथार्थस्वरूप को संभाल नहीं सकता। ऐसे शुद्ध ज्ञानचेतना के आलम्बन से यह मोक्षार्थी पुरुष कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का संन्यास कर रहा है। ज्ञानी जीव कर्म से भी विरक्त है और कर्मफल से भी विरक्त है। इस कारण अज्ञानचेतना उस के नहीं रहती है और अपने स्वभाव से जो ज्ञानचेतना है उसमें सहज आनन्द की अनुभूति के साथ यह रमता है। जब रमता है तब उस समय की सीमा से पूर्व व उत्तरकाल के इस जीव के फैलाव के 2 भाग हो जाते हैं, इससे पहिले तो इसका विषरस अटका था और इसके बाद कुछ वह जीव अमृतपान कर रहा है। ऐसे ज्ञानी संत के प्रति प्रमोद भावना कर के छोटे मोटे भक्त उपासकों के आर्शीवादरूप वचन निकलते हैं कि लो अब यह ज्ञानी सदाकाल इस ज्ञानामृत का ही पान किया करें।

अज्ञानचेतना की संन्यास का उद्यम —अज्ञानी अज्ञानचेतना का तो त्याग करे और ज्ञानी होकर ज्ञानचेतना का विकास करे। ज्ञानातिरिक्त भाव में 'यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि का नाम अज्ञानचेतना है। इसके विनाश के लिये ज्ञान का भाव लें। मैं ज्ञानमात्र भाव हूँ, ज्ञानातिरिक्त भाव मैं नहीं हूँ, ज्ञानातिरिक्त भाव को मैं करता हूँ ऐसे परिणाम का नाम कर्मचेतना है। उस कर्मचेतना के त्याग के लिये ऐसा भाव बनाएँ कि मैं ज्ञानमात्र हूँ अन्य कुछ नहीं हूँ इस ही रूप परिणमता हूँ। अपने आप के अन्तर में विराजमान शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का जब तक दर्शन नहीं होता है तब तक इस जीव के बारे में सैकड़ों अटकलबाजियां लगाई जा सकती हैं। मैं यों हूँ मैं यों हूँ। है वह एक शुद्ध ज्ञायक स्वरूप, पर उसका परिचय न होने से इस अपने आत्मतत्त्व को भिन्न रूपो में सोचा करता है।

ज्ञानी का सुगम ज्ञान वैभव —भैया ! पदार्थों का स्वतंत्र रूप जानकर अब सब पदार्थों से अपने ज्ञान स्वरूप को पृथक् करो और इस ज्ञान में ही निश्चल ठहरो, चीज कठिन है मगर ज्ञानभावना के अभ्यास से यह बात अत्यन्त सरल हो जाती है। जैसे दीन भिखारियों के, करोड़पतियों के आराम पर आश्चर्य होता है और सब को कठिन समझते हैं पर करोड़पतियों के लिये तो यह सब उनके बायें हाथ का खेल है। उन्हें अपने वैभव में आश्चर्य नहीं होता और न कुछ कठिन मालूम पड़ता है। ऐसे ही अज्ञानी जीव

ज्ञानियों के ऐसे चमत्कार को अनुभवन से अचरजकारी बात जानते हैं और कोई कोई तो यों मानते हैं कि ये जो शास्त्र की बातें हैं, वे शास्त्र में ही रहनी चाहियें, शास्त्र से अलग न करना चाहिएँ। लेकिन ज्ञानी जीव को यह सब यत्न, ये सब अनुभवन सुगम मालूम होते हैं। उन्हें इसमें अचरज नहीं होता। बल्कि पहिले जो अनन्तकाल बीत गया वह व्यर्थ में बीत गये, इस पर उसे अचरज होता है।

ज्ञानी के भ्रम की समाप्ति —जैसे कंजूस लोग उदार पुरुष की चेष्टा पर अचरज करते—कैसे डालते हैं, कैसे पर का उपकार कर डालते हैं, उदार पुरुषों पर कंजूस पुरुषों का अचरज होता है ज्ञानी जीव को अपने आप के मार्ग में बढ़ने का कोई अचरज नहीं और न कठिनता होती है। सब वस्तुओं से भिन्नपने का जब निर्णय हो गया तो ऐसा ही ज्ञान अब ज्ञानी के निश्चल रूप से अवस्थित रहता है अब सब परभावों से और परपदार्थों से भिन्न किया गया यह ज्ञान कहीं भ्रम को प्राप्त नहीं होता है। यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही है। कोई बहकाए किन्हीं परपदार्थों में यहाँ है तेरा ज्ञान, यहाँ है तेरा आनन्द, यहाँ है तेरे विश्राम का घर, लेकिन ज्ञानी जीव भ्रम को प्राप्त नहीं होता।

अपना सब कुछ अपने आप में —भैया ! अपनी दुनिया जो कुछ है व अपने आप के आत्मप्रदेश में है, इससे बाहर अपनी दुनिया नहीं है। जितना अपने आप को भूल रहे हैं व अपने आप के प्रदेश में जैसी कम्पनी चल रही है, जैसी खटपट हो रही है उसका फल मिलता है, बाहर की खटपट का फल नहीं मिला करता है। जब कभी कुमार्ग से हटकर सुमार्ग में लगेगा, अज्ञान से हटकर ज्ञान में लगेगा, संसार से हट कर मुक्ति में जायेगा वे सब अपने आत्म प्रदेश के अन्दर में ही होने वाली बातें हैं। अपना धर्म, अपना अधर्म, पुण्य, पाप कुछ भी चीज अपने आत्मप्रदेश से बाहर नहीं है, बाहर तो पदार्थ का भी भाव नहीं है। जैसे लोग कहते हैं कि आज सोने का क्या भाव है, तो सोने का भाव जानना है तो सोने के अगल बगल देखें। क्या उसमें कहीं भाव लिखा मिलेगा? नहीं। उसका अर्थ यह है कि सोने के बारे में लोगों के क्या भाव हैं ?

पर की कीमत अपना भाव —कोई पूछे कि गेहूं का क्या भाव है? तो गेहूं तोड़कर खूब देख लो, कहीं शायद आटे में भाव निकल आए। अरे उसका अर्थ यह है कि गेहूं के बारे में लोगों का क्या ख्याल है? गेहूं का क्या भाव है, इतना सीधा तो अर्थ है। पत्थर का क्या भाव है ?अरे पत्थर के बारे में लोगों का यह ख्याल है कि यह मामूली चीज है सो कितने जाता है। कभी कभी सोने के भाव से अनाज का भाव बढ़ जाता है। मानो दो पुरुष यात्रा को चले या परदेश धन कमाने के लिये चले। तो एक पुरुष थोड़ा-थोड़ा हीरा, रत्न, जवाहरात, सोना चांदी की गठरी बना कर चला और एक थोड़े से चने की गठरी लेकर चला। जंगल में रास्ता भूल गये। भूख सताने लगी। बिल्कुल मरणाहार होने लगे तो उस समय रत्न वाला कहता है कि भैया मेरे सब रत्न ले लो, पर मुझे मुट्ठी भर चने दे दो। अब बतावो वहाँ चने का क्या भाव है? क्या कहीं चने में भाव खुदा है? अरे चने के बारे में लोगों के क्या ख्याल हैं, कितना आदर है, उस आदर का नाम भाव है। तो जितनी जो कुछ दुनिया है हमारी वह हमारे आत्मा के अन्दर में है, इससे बाहर हमारा कुछ नहीं है।

स्वसंचेतनरूप महाकर्तव्य – भैया !अज्ञान से निवृत्त होना व ज्ञान में लगना है, सीधा तो काम है। अपने आप का सही ज्ञान हो और उस ज्ञान रूप अपने को बनाए रहें इतना ही मात्र काम है। पर इतना सा काम नहीं किया जाता और बड़े कठिन काम किये जाते हैं। दूसरों को खुश रखना क्या हमारे हाथ की बात है? दूसरे अपने कषाय के अनुकूल अपनी कल्पना कर के अपना परिणमन करते हैं, उन पर मेरा कहाँ अधिकार है कि मैं उन को अपने मन माफिक बना लूं? जब वस्तुस्थिति ऐसी है तब बाह्यपदार्थविषयक कल्पनाओं से विमुख होकर अपने आप के ज्ञानस्वरूप को चेतना चाहिए। आखिर इसमें ही आत्मा को शरण मिलेगा।

गाथा 390

सत्थं जाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण जाणाए किंचि।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बिंति ।।390।।

शास्त्र और ज्ञान में व्यतिरेक – शास्त्रज्ञान नहीं होता है क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है। शास्त्र का मतलब है द्रव्यश्रुत का। द्रव्यश्रुत जो कि दो भागों में विभक्त है—एक अक्षरात्मक स्वरूप और दूसरा शब्दात्मक स्वरूप। ये दोनों प्रकार के स्वरूपों में ज्ञान नहीं है, क्योंकि ये जानते कुछ नहीं है। अक्षर हैं वे भी पौद्गलिक रचनाएँ हैं, जो शब्द हैं वे भी पौद्गलिक रचनाएँ हैं। इस कारण यह अन्य है और शास्त्र अन्य है। ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। यह व्यवहार की भाषा है और निमित्त वाली बात का कथन है कि शास्त्र से ज्ञान होता है क्योंकि शास्त्र का अध्ययन करते हैं तो उसका निमित्त पाकर जीव को ज्ञान होते देखा जाता है। इतने मात्र निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध से बढ़कर व्यामोह में यह मान लिया जाता है कि शास्त्र से ही ज्ञान होता है। वहाँ अपने आप का महत्व ज्ञानस्वरूप विदित नहीं होता तो वह एक मिथ्याभाव है।

ज्ञाता के आश्रय से ज्ञान की व्यक्ति — अक्षरात्मक श्रुत से ज्ञान नहीं होता है और उसही प्रकार बोले गए शब्दों से ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान तो ज्ञानशक्ति के आश्रय में हुआ करता है। इस प्रकरण में इस अध्याय में शुरू से ही बताते आये हैं कि यह ज्ञानी तो सर्वविशुद्ध स्वरूप वाला है। अपने आप के स्वभाव से यह ज्ञाता द्रष्टा है। इसका यह ज्ञानित्व किसी परपदार्थ से नहीं आता। जिस पर्दाथ में जो कला है वह उस पदार्थ की स्वभाविक देन है। कोई परपदार्थ किसी अन्य पदार्थ में अपनी कला नहीं चलाता है। ऐसे अपने अपने परिणमन से परिणमते हुए इस शास्त्र और ज्ञान के सम्बन्ध में बताया जा रहा है कि शास्त्र तो अचेतन है और ज्ञान चेतन है। इस कथन से कहीं निरादरता जैसा भाव नहीं लेना है कि आगम तो अचेतन है, वह कुछ जानता नहीं है। स्वरूप बताया जा रहा है, पर जो शास्त्र को पूजना है वह निमित्तदृष्टि से पूजना है।

दृष्टान्त में स्थापनाजिन व्यवहारदृष्टि से – जैसे मूर्ति का स्वरूप कैसा है? हम सीधा यों कहते हैं कि यह आदिनाथ भगवान बैठे हैं और यह नेमिनाथ भगवान बैठे हैं। खण्डवा मंदिर में पीछे प्रतिमावों का बहुत बड़ा समुदाय है, तो वहाँ एक छोटा बच्चा हमें दिखाने के लिये जा रहा था। कहता जाता था कि

देखो यह हमारे बड़े भगवान बैठे हैं। यह हमारे छोटे भगवान बैठे हैं और यह हमारे बिल्कुल छोटे भगवान बैठे हैं। तो क्या मूर्ति माप से भगवान भी छोटे बड़े होते हैं? तो बात क्या है वहाँ? मूर्ति ही भगवान नहीं है। मूर्ति तो अचेतन है, पाषाण या धातु से बनती है। लो इतनी बात सुनकर कोई श्रद्धालु बुरा मान जाये, अरे देखो यह तो अविनय की बात कह रहे हैं । अरे भाई यहाँ अविनय और अपूज्यता की बात नहीं है किन्तु वस्तुस्वरूप की बात लेना। वहाँ भगवान की स्थापना है और है यह साकार स्थापना। ऐसी मुद्रा में कल्याणविधि से जिसकी प्रतिष्ठा होती है वह स्वयं भगवान नहीं है, किन्तु भगवान की स्थापना की हुई है। उन्हें स्थापनाजिन बोलते हैं भावजिन नहीं बोलते। यह तो स्वरूप की बात है।

अक्षरात्मक व शब्दात्मक श्रुत में ज्ञानत्व का अभाव — शास्त्र किस का नाम है? यदि पोथी पत्रों का नाम और जो अच्छे अक्षरों से लिखा हो, छपा हो उनका नाम है तो उनमें परीक्षण कर लो, वे कुछ बोलते भी हैं क्या? हम यदि किसी लकीर का उल्टा अर्थ लगाने लगें तो क्या वह शास्त्र हमें चांटा भी मार सकता है कि तू उल्टा अर्थ क्यों लगा रहा? शब्दरूप में आगत पुद्गल भी अचेतन है। कोई पुरुष शास्त्र की बात सुन रहा है, शब्द बोल रहा है तो वे शब्द यदि शास्त्र हैं तो वे शब्द भी अचेतन हैं, भाषावर्गणा के परिणमन हैं।

अध्यात्म में ज्ञानज्ञातृत्व की प्रतिष्ठा-- यदि भावश्रुत को श्रुत कहते हो, जो अन्तर में श्रुतविषयक ज्ञान होता है उस ज्ञान का नाम यदि श्रुत कहते हो तो उसका ज्ञान नाम कहा जा सकता है पर जिस अध्यात्म में ज्ञानस्वभाव की प्रतिष्ठा की जा रही हो उस प्रकरण में ज्ञानस्वभाव को चेतने में प्रवर्त रहा जो ज्ञान है उसे ही ज्ञान कहा जा सकता है और जो ज्ञान स्वभाव को न चेते, उस के उन्मुखता की तैयारी जहाँ नहीं रहती, पर के आकर्षण में चलता है वह ज्ञान नहीं कहा जाता।

ज्ञान का निर्विवाद जाननस्वरूप — ज्ञान में कभी कोई लड़ाई होती है क्या? नहीं। ज्ञान लड़ाई का कारण नहीं है किन्तु देखा जाता है कि प्राय: ज्ञान पर लड़ाईयाँ हुआ करती हैं। अभी कोई चार समझदार बैठे हों और चर्चा कर रहे हों तो उनमें इतनी जल्दी लड़ाई हो जाती है कि जैसे बच्चों में लड़ाई हो जाती है। कहीं चार पांच बच्चे खेलते हों तो जब तक उनमें लड़ाई नहीं हो जाती तब तक वह खेल छोड़कर घर नहीं जाते। उनका खेल तभी समाप्त होता है जब उनमें कुछ हाथापायी हो जाय। ऐसा हुए बिना उनका खेल ही पूरा नहीं होता है। ऐसे ही चार ज्ञान वाले बैठे हों, चर्चा हो रही हो तो चर्चा के प्रारम्भ में ही तो लड़ाई होती नहीं है खेल खेलने के शुरुवात में तो लड़ाई होती नहीं है किन्तु कुछ समय खेल चलने दो, कुछ समय चर्चा चलने दो, थोड़ी ही देर में गरमागरमी होने लगी और रूपक लड़ाई का बन जायेगा। अच्छा, लो ज्ञान से लड़ाई हुई। क्या ज्ञान से लड़ाई होती है? नहीं होती है। जिस भाव के कारण लड़ाई हो वह भाव ज्ञानभाव नहीं है, अज्ञानभाव है।

स्वसंवेदी ज्ञान का ज्ञानत्व – यह भावश्रुत सम्यग्ज्ञान है क्योंकि वह मोक्षमार्ग के अनुकूल दृष्टि बनाने की बात कहता है और इस ओर लगने की प्रेरणा करता है। इस कारण वह ज्ञान है, पर परमार्थत: जो ज्ञान ज्ञान को चेते उस ज्ञान का नाम ज्ञान है और जो न चेते उसका नाम अज्ञान है। अध्यात्ममार्ग में ज्ञान और अज्ञान की ऐसी व्यवस्था की गयी है तभी तो देखो सामायिकादि की क्रियायें करते जाते हैं

और यह समझ बनती है कि यों यों करना, यह ज्ञान की चेष्टा नहीं है। और इससे अधिक बढ़कर बात क्या होगी ज्ञानी की कि वह सामायिक में मन, वचन, काय को स्थिर बना रहा है और अच्छी कल्पनाएँ करता है, शरीर को बिल्कुल स्थिर आसन वाला रख रखा है फिर भी ज्ञान सही है कि शरीर को ऐसा खम्भे की तरह सीधा रखना, यह ज्ञान की चेष्टा नहीं है और मन में जो ज्ञान की तरंगें, भाव की कल्पना करता है यह भी ज्ञान की चेष्टा नहीं है। यद्यपि ये सब ज्ञान ज्ञानगुण के ही परिणमन हैं, मगर केवल ज्ञान के ही कारण जो ज्ञान की वृत्ति हुई वह तो है ज्ञान की चेष्टा और रागद्वेष की सैन पाकर अपना परिणमन बनाएँ वह है अज्ञान की चेष्टा।

शास्त्र और ज्ञान का भेदसाधक व्यवहार – इस परम भेदविज्ञान के प्रकरण में आचार्यदेव कह रहे हैं कि शास्त्रज्ञान नहीं होता है यह उनका ही शब्द है। सुनने में किन्हीं किन्हीं को ज्यादा अटपट लगता होगा, किन्हीं को कम अटपट लगता होगा और किन्हीं को न भी अटपट लगता होगा। पर जो गाथा में शब्द हैं वे इसी प्रकार के हैं कि शास्त्रज्ञान नहीं होता है क्यों कि शास्त्र कुछ जानता ही नहीं है, जानने वाले जानते हैं। शब्द वहाँ मात्र निमित्त हो रहे हैं। इस कारण शास्त्र अन्य चीज है और ज्ञान अन्य चीज है। कोई शास्त्र की बात पढ़ते पढ़ते उसका जो मर्म है, अर्थ है वह भूल जाय तो भूलने वाला आत्मा कभी तो मस्तक में हाथ लगाकर याद करता है, कभी आँखें मींचकर याद करता है, कभी मस्तक मरोड़ कर के याद करता है पर पन्ना मरोड़कर याद करता हुआ कभी किसी को देखा है क्या? नहीं। अगर पंक्ति का अर्थ नहीं लगता तो पन्ना मरोड़कर कोई नहीं याद करता। सभी मस्तक रगड़कर याद करते हैं। यद्यपि इस मस्तक से ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है फिर भी मस्तक, मन, इन्द्रिय – ये ज्ञान की उत्पत्ति के बाह्य कारण हैं। इन्हें तो रगड़ना थोड़ा बुरा नहीं जंचता है, उसे कोई पागल न कहेगा, पर कोई शास्त्र की पंक्ति का अर्थ न लगा पाये तो उस पन्ने को मरोड़े तो उसे तो लोग पागल ही कहेंगे।

मूल प्रीतियोग्य के बाह्यसाधन से प्रीति — देखो भैया ! जिस मित्र से प्रेम होता है उस मित्र के कपड़ों से भी प्रेम होता है। मित्र की टोपी नीचे गिर जाय तो दूसरा मित्र उठाकर झाड़कर ऊँची जगह रखता है या नहीं? रखता है। तो क्या उसे उस टोपी में अनुराग है? नहीं। उसे तो मित्र में अनुराग है, पर मित्र से सम्बन्धित जो वस्तुएँ हैं उन वस्तुवों में भी अनुराग होता है। तो जि से वस्तु के सहज स्वभाव में अनुराग है, आत्मा के सहज ज्ञायक स्वरूप का अनुराग है उस सहज ज्ञायकस्वरूप को शब्दों में जहाँ लिख दिया गया हो उन शब्दों में क्या अनुराग नहीं करेगा? शास्त्रों के पढ़ने से अपना उपादेयभूत ज्ञानस्वभाव विदित हुआ हो उन से क्या वह अपना नाता न जोड़ेगा? वह क्या पूजा नहीं करता? करता ही है। और इसी कारण देव, शास्त्र, गरु ये तीनों पूज्य स्थान में रखे गये हैं।

देवभक्ति का यथार्थ कारण – वस्तुत:तो हमारा देव भी कुछ नहीं करते। हम कितना ही चिल्लाएँ, गला फाड़कर पूजा करें, पर भगवान की तो जूँ भी नहीं रेंगती। बहुत देर हो गयी, झांझ बजाते, मृदंग बजाते, नाचते, गाते, फिर भी भगवान जरा भी हमें दर्शन नहीं देते। थोड़ा हमारी सुन तो लें, बड़ी देर से टेर लगा रहे हैं, टेर सुनो भगवान अब हमारी बारी है, क्यों नहीं तारते? घंटे भर प्रशंसा तो सर्व प्रकार कर डाली, पर भगवान का रंचमात्र भी हमारी ओर आकर्षण नहीं होता है। भगवान हमारा भला करने नहीं आते हैं,

न हम से कुछ कहते हैं, न हाथ पकड़ कर ले जाते हैं। वे भी पूर्ण उदासीन हैं, जैसे ये शास्त्र उदासीन हैं। ये हम को कुछ प्रेरणा नहीं करते, उदासीन हैं। इतना काम करने के लिए तो जैसे सब अजीव हैं, ये शास्त्र भी हैं वै से ही मेरे प्रति जड़ भगवान बन गए। सुनते ही नहीं जरा भी। तो भगवान की जो पूज्यता है व शास्त्र की जो पूज्यता है वह भगवान और शास्त्र की ओर से कुछ चीज मिलती है इस कारण नहीं है।उन से कुछ भी आता नहीं, किन्तु जिस मूलतत्त्व को हम चाहते हैं, जिस ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन कर के हम अपनी शुद्धपरिणति करते हैं, सदा के लिये संकटों से मुक्ति पाने का उपाय बनाते हैं, वह ज्ञायकस्वरूप जिस के स्पष्ट व्यक्त हो गया है, जो मेरे मोक्षमार्ग में चलने प्रोत्साहन देने के लिये आदर्श रूप है उनमें उपासक की क्या भक्ति नहीं जागती है? बहुत भक्ति जागती है।

प्रभुभक्ति का स्थान – भैया ! मार्ग मिलना चाहिए किसी द्वार से, उसी से चलकर कर हमें भक्ति करनी चाहिए। एक काव्य में तो यहाँ तक कहा है कि हे देव ! शुद्ध ज्ञान हो जाय, शुद्ध चारित्र हो जाय तब भी आप में यदि उत्कृष्ट भक्ति नहीं जगती है अर्थात् मैं आप की उत्कृष्ट भक्ति नहीं कर पाता हूँ तो फिर मुक्ति का किवाड़ बंद है, उनके खुलने का साधन तो आप की भक्तिरूप चाबी थी वह मेरी खो गयी। तो चाहे ज्ञानी बड़ा बन जाय, चारित्र भी पालने लगे, पर मुक्ति के किवाड़ को हम खोल नहीं सकते। मोह के किवाड़ों से मुक्ति का द्वार बंद है। तो जिस दृष्टि से भगवान की पूज्यता है वह दृष्टि संभालना चाहिए। प्रभु स्वच्छ स्पष्ट हो गया, शुद्ध निर्दोष उनका स्वरूप बन गया है और हम हैं इस सहजस्वरूप के रुचिया, सो यहाँ देख लो—हम ही भक्ति का भाव बनाते हैं और हम ही सब कुछ करते हैं।

परमोपेक्षा से ही भगवान की पूज्यता —भैया ! भगवान अपने स्वभाव से चिगकर किसी भी भक्त के लिये कुछ भी अनुराग नहीं करते हैं और तभी भगवान की महिमा है, अगर ये भक्तों से अनुराग करने लगे तो यहाँ भक्तों में लड़ाई हो जायेगी। जैसे यही त्यागी साधुवों के प्रति अनेक कल्पनाएँ की जाती हैं। यह पक्ष करते हैं, इन को बहुत सोचते, इन का ख्याल नहीं करते। तो यह विडम्बना भगवान की भी बन जायेगी। चाहे कितना ही कोई चिल्लायें कि हे भगवान ! हम दो घंटे से चिल्ला रहे हैं, प्यासे हो गए हैं तनिक सुन लो, तो भी वे किसी की सुनने नहीं आते। वे तो अपने पूर्ण स्वभाव में स्थित हैं, यही उन की पूज्यता का कारण है। हम ही स्वयं उनके गुण सोच सोचकर अपना उत्थान किया करते हैं।

प्रभु की महिमा अपरनाम भक्तों का धर्मानुराग – वास्तव में उन्हें भगवान बनाया है, महान् बनाया हैं, भक्त लोगोंने। अरे तो अरहंत सिद्ध अपने आप भगवान नहीं हैं? महान् नहीं है? हाँ नहीं है। अगर हम आप उन की चर्चा करने वाले भक्तजन न होते और अरहंत किसी कमरे में बैठे होते और किसी से कोई वास्ता नहीं, कोई जानता ही नहीं तो उन्हें भगवान कौन कहता? वह तो शुद्धस्वरूप है। कोई शुद्ध आत्मा है तो वह हो गया शुद्ध, हो गया खालिस। संसार में जीव यों हैं तो वह जीव यों है, पर उन्हें जो भगवान बनाया है, उन की महिमा फैलाई है, यह सब तो इन भक्तों की करतूत है। वह तो जैसा है सो ही है, शुद्ध है, उस से मेरे में कुछ भी बात नहीं आती। तो जैसे हमें और तो क्या करना है, अन्य चेतन तत्त्व से भी ज्ञान नहीं आता। वह मेरा ज्ञान नहीं है। साक्षात् अरहंत और सिद्ध भगवान भी मेरा ज्ञान नहीं है, वह तो जो है खुद का है। मेरा ज्ञान तो मेरा मेरे में है। शास्त्र तो मेरा ज्ञान ही क्या होगा ?

स्वाध्याय की हितकर पद्धति — शास्त्र अन्य है और ज्ञान अन्य है, ऐसा जिनदेव कहते हैं। यह बात किसलिए कही जा रही है कि हम अन्य पदार्थों के विकल्पों का भी त्याग कर अपने आप के ज्ञानस्वरूप की महिमा में विराजें? जैसे स्वाध्याय करने का तरी का यह है कि बड़े ध्यान से एक लकीर पढ़ी और उस लकीर को पढ़कर कुछ आंखें मींचकर उस लकीर का अर्थ करें और फिर आंखें बंद कर उस शास्त्र को भी भूलकर कि हमारे आगे क्या धरा है और उस के अर्थ में ऐसा मग्न हो जायें कि जो शास्त्र की पंक्ति ने कहा है वह अपने आप में उतार कर अपने को बतला दें, ऐसा यत्न करना यह स्वाध्याय करने का ढंग है।

घटित पाठ स्मरण – जैसे कहते हैं कथानक में कि एक गुरु कौरव और पाण्डवों को पढ़ा रहे थे। पाठ निकला क्षमा का, क्रोध का, चलो पढ़ो, खोलो पुस्तक पढ़ो गुस्सा न करना चाहिए। अच्छा नकुल ! पढ़ो गुस्सा न करना चाहिए नकुल ने पढ़ दिया कि गुस्सा न करना चाहिए। अच्छा सहदेव ! तुम पढ़ो, पढ़ दिया—गुस्सा न करना चाहिए। अच्छा भीम, तुम पढ़ो। पढ़ दिया—गुस्सा न करना चाहिए। अच्छा युधिष्ठिर तुम अपना पाठ सुनावो। युधिष्ठिर बोला कि अभी याद नहीं हुआ है। गुरु जी को गुस्सा आया, पूछा तुझे क्यों नहीं याद? इसी तरह कई दिन हो गए, युधिष्ठिर यही कहे कि अभी पाठ याद नहीं हुआ। गुरुजी को गुस्सा अधिक आया सो दो चार डंडे जमा दिए। युधिष्ठिर हंसता रहा। गुरु जी ने युधिष्ठिर से पूछा कि मैं तो मारता हूँ और तू हंसता क्यों है? युधिष्ठिर ने कहा कि महाराज अब याद हो गया। हाँ सुनावो, गुस्सा नहीं करना चाहिए। युधिष्ठिर ! इतनी बात आज 7 दिनों में याद कैसे हुई? तो युधिष्ठिर बोले कि गुरू जी इतने दिन तक गुस्सा न करने का खूब यत्न करने के बाद आज पाठ याद हुआ कि गुस्सा नहीं करना चाहिए। देखो आपने मारा फिर भी हमारे गुस्सा नहीं आयी। तब मुझे विश्वास हुआ कि मुझे पाठ याद हो गया। तो स्वाध्याय करने का ढ़ंग यही है, जो स्वाध्याय करते हो उसे अपने में उतार कर देखो।

स्वाध्याय में विदित भाव का सुघटन — स्वाध्याय में आए हुए शब्द मेरे कुछ नहीं हैं। इतना ही नहीं, आंखें मींचकर विचार करो कि सर्व पदार्थ हम से जुदे हैं, सभी अपने आप में परिणमते हैं, यह मैं अपने भावों से परिणमता हूँ, जीव का जैसा स्वरूप है तैसा ही स्वरूप इसका है, अन्य जीवों से इसकी कोई खासियत नहीं है, जीव तो मेरा न कहाये और ये मेरे कहने लगें, ये प्रकट भिन्न हैं। यह बात तनिक उतारने की करो तो फिर घर बैठो और गप्पें खावो, मना कौन करता है? स्वाध्याय करते हो तो स्वाध्याय करते हुए में तो सही मार्ग अदा करो।

धर्म के पार्ट में भी यथार्थता की संयोजना — एक मंत्री ने कहा कि महाराज साहब हम इतनी बातें दिखाते हैं, आप का मन बहलाते हैं तो हम को कोई बड़ा दो चार गांव का राज्य इनाम में मिलना चाहिए। राजा ने कहा कि मिल जायेगा, तुम हम को एक बार साधु का पार्ट दिखा दो। कहा, अच्छा महाराज ! लुप्त हो गए, संन्यासी बन गये। पहिले अपनी महिमा जतायी दो चार जगह चवन्नी, अठन्नी, रुपये गाड़ दिये। लोग आए कोई बोला कि हम बड़े दु:खी हैं। तो साधु ने कहा कि अच्छा जावो वहाँ खोद लो, मिल गया रुपया, फिर किसी के मांगने पर कहा कि वहाँ खोद लो, उसे मिल गयी अठन्नी। लो धीरे धीरे साधु की महिमा बढ़ गयी। किसी ने राजा को बताया कि कोई साधु आया है वह जमीन की

भी बात बता डालता है। राजा भी पता पाने पर वहाँ पहुंचे। बड़े विनय से बड़ी सेवा कर के राजा बोले कि महाराज आप की सेवा में आप जो कहो राजपाट तक तैयार। वह बोला कि हमें कुछ न चाहिए। हम साधु हैं, साथ निष्परिग्रही होते हैं। दूसरे दिन साधुवेष छोड़कर बोला, महाराज कहो हमने दिखा दिया न पार्ट। कब? तीन दिन पहिले जब आप चरणों में पड़ गए थे। उस समय तो सारा राजपाट आप समर्पण कर रहे थे, अब तो दो हमें इनाम। राजा कहता है कि जब सारा राज्य चरणों में धर दिया था तब क्यों न लिया था? तो मंत्री बोला कि महाराज हम उस समय साधु का पार्ट अदा कर रहे थे। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। तो जब साधु का पार्ट अदा किया जा रहा था तब तो यह हालत हुई और जब कोई साधु हो जाय तो क्या उसमें निष्परिग्रहता न होनी चाहिये ?

गाथा 391

सदो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ण जाणए किंचि।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ।।391।।

शब्द और ज्ञान का व्यतिरेक – शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है। इस कारण ज्ञान अन्य बात है और शब्द अन्य बात है, ऐसा जिनेन्द्रदेव निरूपण करते हैं। पहिले द्रव्य श्रुत का ज्ञान न होने का कथन किया था। द्रव्य श्रुत में अक्षर भी आ गए और शब्द भी आ गए, किन्तु वे शब्द तो विशिष्ट शब्द हैं आगम और हितोपदेश सम्बन्धी शब्द हैं। और इस गाथा में शब्द सामान्य की बात कही जा रही है। लोगों को शब्द सुनते ही तुरन्त ज्ञान बन जाता है इस कारण यह भ्रम हो गया है कि शब्द से ज्ञान होता है अथवा शब्द ज्ञान है। शब्द भाषा वर्गणाजाति के पुद्गल द्रव्य का परिगमन है। शब्द अचेतन है और ज्ञानचेतना आत्मा के ज्ञानगुण का परिणमन है, अथवा ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान और शब्द में अत्यन्त पार्थक्य है। कोई मेल नहीं बैठता है, फिर भी शब्द सुन कर जीव को ज्ञान होता है और कुछ व्यवधान रहित मालूम होता है। इस कारण यह भ्रम हो गया है कि शब्द ज्ञान है और पर शब्द ज्ञान नहीं है।

शब्द और ज्ञान के आधारभूत पदार्थ — भाषावर्गणा से शब्द परिणमन की व्यंजना स्कंध के संयोग वियोग से उत्पन्न होती है। संयोग में भी शब्द की उत्पत्ति होती है और स्कंधों के वियोग में भी शब्द की उत्पत्ति होती है। मुख से जो कुछ बोला जाता है वह सब स्कंधों के संयोग वियोग वाली बात ही तो है। जीभ, तालु, ओंठ, मूर्द्धा – ये सब स्कंध हैं, पौद्गलिक हैं, इन का कैसा ही संयोग हो, कैसा ही वियोग हो तो वहाँ शब्द उत्पन्न होता है। यह सब हम प्रयोग कर के देखते ही तो रहते हैं। सो शब्द तो भाव और ज्ञान आत्मा के ज्ञान गुण से प्रकट होता है। भले ही छद्मस्थ अवस्था में बाह्य इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर इस ज्ञान का विकास होता है, पर ज्ञान का विकास ज्ञानगुण में से ही प्रकट होकर होता है। ज्ञानविकास किसी अन्य पदार्थ से नहीं हुआ करता है। ज्ञान अत्यन्त भिन्न है और शब्द अत्यन्त भिन्न हैं।

विवाद में शब्दविषय की प्राथमिकता — भैया ! मनुष्य के अन्य जीवों से राग बढ़ाने के दो ही तो उपाय हैं, देखना और सुनना। जिस का व्यवहार बढ़ता है, गोष्ठी बनती है, मित्रता होती है, प्रेम होता है अथवा दर्शन होता है विरोध होता है किसी भी तरह का जो व्यवहार बनता है उसमें मुख्य कारण दो पड़ते हैं – देखना और सुनना । सो व्यवहार में सब समझते ही हैं। किसी से शत्रुता बढ़ जाय तो उसमें भी दो बातें हुई थीं। कुछ देखा था और कुछ सुना था। किसी से मेल बढ़ जाय तो उसमें भी दो बातें हुई थीं। कुछ देखा था और कुछ सुना था। उसमें भी ये शब्द विषय हमारी प्रीति और दुश्मनी में प्रारम्भिक आचरण रूप हैं। झगड़े भी समाज में या घर में हुआ करते हैं। उनका मूल देखना और सुनना है। उनमें भी सुनना प्रथम कारण है, इसी लिए मनुष्यों को यह बड़ी सावधानी रखनी चाहिए कि हमारा बोल कभी ऐसा न हो कि जि से सुनकर औरों को क्लेश हो। व्यवहार में सबसे बड़ी सावधानी यही रखनी है।

वचनव्यवहार का विवेक — जो शब्द बोलने की सावधानी नहीं रख सकता उस के समान अविवेकी किसे कहा जाये? मनुष्यों में बड़ा वह है जो अपने शब्द संभालकर उपयोग में लाये। कषाय को वश करो और जैसे उचित शब्द हैं वैसा ही बोलने का यत्न करो। कितनी भी गुस्सा क्यों न हो, मन से उस गुस्से को काबू में लाना और वचन उत्तम, सरस, मिष्ठ बोलना, इतनी हिम्मत जो बना सकता है उसे जीवन में आपत्ति नहीं आती। इन शब्दों के दुरुपयोग से बिना ही कारण, कुछ लेनदेन नहीं, कुछ लाभ अलाभ नहीं, पर मूर्खता से अटपट बात बोल दी तो विपत्ति आ गयी, दुश्मनी बढ़ गई और यह मन शल्य में हो गया और कुछ ज्यादा ना किया जाय तो अपने जीवन में एक ही बात ग्रहण कर लें कि कैसी भी गुस्से की स्थिति हो, दूसरे से भली बात बोलना, यह बात यदि कर सकते हो तो यह बड़े हित की बात बनेगी।

बोली से सज्जनता व दुर्जनता की पहिचान - भैया ! बोली से ही मनुष्य की सज्जनता और दुर्जनता जानी जाती है। एक वार्ता चली आयी है कि राजा, मंत्री, सिपाही तीनों कहीं एक जंगल से होकर जा रहे थे, तो एकदम आगे चले गए। फिर मिल गया एक ही रास्ता। इतने में वे तीनों बहुत आगे पीछे हो गये तो उस रास्ते पर एक अंधा बैठा था। उस अंधे से सिपाही ने पूछा कि क्यों बे अंधे, तुझे मालूम है यहाँ से दो आदमी निकल गए क्या? तो अंधा बोला कि नहीं सिपाही जी, अभी तो कोई नहीं निकला। बाद में मंत्री आया, पूछा कि सूरदास, यहाँ से कोई दो आदमी निकल गये क्या? तो अंधा बोला कि नहीं मंत्री जी, एक सिपाही तो निकल गया पहिले और दूसरा कोई नहीं निकला। बाद में राजा निकला, पूछा— भाई सूरदास जी, क्या यहाँ से दो सज्जन निकल गए, तुम्हें कुछ मालूम है? तो अंधा बोला कि राजा साहब! पहिले तो एक सिपाही निकल गया है और अभी – अभी मंत्री साहब भी चले गए। अब वे बहुत दूर पर तीनों मिले और अंधे की बात सुनाई। तो उन्हें अचरज हुआ कि वह अंधा कैसे पहिचान गया कि यह सिपाही है, यह मंत्री है, और यह राजा है। सोचा कि चलकर पूछें तो सही कि कैसे पहिचान गया? तो जब वे पहुंचे तो उस अंधे से राजा ने पूछा कि आप कैसे पहिचान गए कि यह सिपाही है, यह मंत्री है और यह राजा है? तो अंधा बोला कि महाराज हम बोली से पहिचान गए। जिसने अबे तब बोला उसको मैं समझ गया कि यह कोई छोटा मोटा सिपाही है, उसमें कैसे इतनी तमीज आ सकती है कि संभाल कर बात करे। जिन्होंने कुछ संभलकर बात पूछी थी उन्हें मैं समझ गया कि यह कोई मंत्री जी हैं

और जिसने अत्यन्त नम्रता से पूछा उसे मैं समझ गया कि यह सब का मालिक है, राजा है। तो इस बोली से ही सज्जनता और दुर्जनता पहिचानी जाती है।

भैया ! न हो लाखों का धन किन्तु वचन अच्छे बोले जा रहे हों तो गरीबी में भी बड़े अच्छे दिन कटते हैं और खूब वैभव भी हो किन्तु गृहयुद्ध हो, वाक् युद्ध हो तो उस धन वैभव से ही क्या सुख मिला? शब्दों का सदुपयोग इस मनुष्य जन्म में बड़ी सावधानी से करना है। यह तो हुई व्यवहार की बात। पर व्यवहार से परे अध्यात्म के हित में उतारना है तो उस के लिए कह रहे हैं कि शब्द मात्र ज्ञान नहीं है। ज्ञान और कुछ है। हम सर्व शब्दों से उपेक्षाभाव करें तो यहाँ बोलने की बात ही नहीं रहती। बोलो तो अच्छा बोलो, नहीं तो चुप रहो।

शब्द में ज्ञानत्व के भ्रम का एक कारण - ज्ञान और शब्द हैंयद्यपि भिन्न भिन्न तत्त्व, पर लोगों को यह भ्रम क्यों हो गया कि शब्द ज्ञान है। इसका कारण यह है कि ज्ञान और शब्द ये दो कुछ विशेषता के साथ एक साथ रहा करते हैं, देखो भगवान की जो दिव्यध्वनि है वह भी शब्द है। उनका ज्ञान उत्कृष्ट है। प्रभु के ज्ञान से बढ़कर अन्य किसी का ज्ञान नहीं है और उन की ध्वनि से बढ़कर अन्य किसी की ध्वनि नहीं है। और जैसे–जैसे नीची पदवी में जीव हैं तो जैसा-जैसा ज्ञान है उसी के अनुकूल शब्द निकलते हैं। यों ज्ञान और शब्द का मेल होने के कारण यह भ्रम बन गया है कि शब्द से ज्ञान होता है।

शब्द में ज्ञानत्व के भ्रम का द्वितीय कारण – अब भ्रम का एक यह भी कारण है कि मान लो कि कुछ भी ज्ञान करते हैं तो वह हमारा ज्ञान अन्तर में किसी न किसी शब्द को करता हुआ, अन्तर्जल्प करता हुआ प्रकट होता है। खम्भा देखा, ज्ञान किया तो उस खम्भे से नहीं बोला, पर भीतर में खम्भा या जो भी समझ आया उस रूप एक अन्तर्जल्प हो उठता है। मान लो कि बाह्य वस्तु के ज्ञान का आकार अन्तर में शब्द से उठता हुआ उत्पन्न होता है।

शब्द की सर्वस्वता का विभ्रम – शब्द ज्ञान है, यह तो हमारा चढ़ाकर मंतव्य बन गया, फिर भी इसमें आधी गनीमत है। कहीं कहीं ज्ञान भी तत्त्व नहीं रहा, किन्तु एक शब्द ही तत्त्व रहा। इसी सिद्धान्त को कहते हैं शब्दाद्वैतवाद। कोई कहते हैं कि शब्द कुछ नहीं है। ज्ञान ही सब कुछ है। कोई कहते हैं कि ज्ञान ही सब कुछ है। शब्द कुछ नहीं है। इसका नाम है शब्दाद्वैतवाद। सारा विश्व शब्दात्मक है और ज्ञान कुछ चीज नहीं है। ज्ञान भी शब्दात्मक है। शब्द ही व्यापक है और शब्द ही सब कुछ हैं, यहाँ तक मंतव्य उठ खड़ा हो जाता है। शब्द और ज्ञान का परस्पर में व्यवहार में निकट सम्बन्ध है कि लोग शब्द और ज्ञान को एक तुला पर बैठालते हैं, बराबर के मानते हैं और कोई ज्ञान का कुछ महत्व ही नहीं समझते हैं। ज्ञान तो शब्दों के पीछे लगा लगा फिरता है, तत्त्व तो शब्द है। तो कोई इस ज्ञान को कुछ न कह कर अतत्त्व ठहराकर शब्द को ही तत्त्व कहते हैं।

शब्द और ज्ञान का पार्थक्य — इस शब्द के बारे में आचार्य महाराज कह रहे हैं कि ज्ञान अन्य चीज है, शब्द अन्य चीज है, शब्द ज्ञान नहीं है। कोई मनुष्य गालियां देवे, उसे बहुत गालियां याद हों, 10-20 गालियां दे डाले और सुनने वाला कहे कि ये सब गालियां उल्टी तुम्हीं को दे दीं, लो इतने में ही सारी

गालियां उल्टी पड़ गयीं। जैसे चित्रों की कला एक विवेकपूर्ण कला है। बतावो तो सही, एक कागज पर कहो सारी सभा बना दें। कितना मोटा आदमी है यह भी बता दें। अब उस पर मोटाई तो खिंचती नहीं, मगर ऐसी कला बना देते कि सब कुछ उसमें दिखेगा। तो जैसे चित्र की कला होती है ऐसे ही शब्दों में भी बड़ी कलाएँ चलती हैं। कोई किसी के प्रति जरा सी धीरे से कोई खोटी बात कहे और पूछे कि ऐसी तुमने खोटी बात क्यों कही, तो वह कहता है कि हमने नहीं कही खोटी बात। हमने तो उसकी बड़ाई की बात कही है। तो शब्दों में भी ऐसी पैंतरेबाजियां चलती हैं कि कोई पकड़ न पाये और सारे शब्द कह डाले, पर ज्ञानी जीव सोच रहा है कि सर्वशब्दों से मेरे ज्ञान का और परिणमन का रंच भी सम्बन्ध नहीं है। शब्द शब्द है और ज्ञान ज्ञान है।

शब्दों से हलचल – एक बार कहीं साधु महाराज रास्ते में बैठे थे, कोई स्त्री कुएँ में पानी भरने जा रही थी तो वह खड़ी हो गयी। तो संन्यासी कहता है कि यहाँ से हट जा, दूर जा। तो स्त्री बोली कि तुम जानते नहीं हो हम में वह कला है कि कहो तुम्हारी पिटाई करा दें और कहो तुम्हारी रक्षा करा दें। तो साधु ने कहा कि अच्छा बता तू क्या बताती है? वह स्त्री चिल्लाने लगी, दौड़ों-दौड़ों भैया, बाबा ने मार डाला। लोग उसकी चिल्लाहट सुन कर झट लट्ठ लेकर उस बाबा को मारने के लिये आ गए, तो साधु ने कहा, देवी अच्छा अब बचावो। तो लट्ठ लेकर आये हुए लोगों से उस स्त्री ने कहा कि अरे बाबा, अब अभी-अभी इस बिल में घुस गया। लोगों ने समझा कि अरे वह तो सांप था। सांप को देख कर चिल्लायी कि दौड़ों बाबा ने मार डाला। सभी चले गए। तो शब्दों से ही घात हो जाय, शब्दों से ही रक्षा हो जाय, शब्दों से ही कहो लड़ाई हो जाय, शब्दों से कहो सुलह हो जाय।

आशय के अनुसार वचननिर्गमन — हाय, अन्तर में जो कषाय राक्षसी है वह अच्छे शब्द बोलने ही नहीं देती। जब अन्तर में कषाय पड़ी हुई है तो शब्द अच्छे कहाँ से बोले जाये? जो भीतर में योग्यता है उस के अनुकूल ही तो शब्द निकलेंगे। किसी को बहुत समझा बुझा कर रखो-देखो यों रहो, यों बोलो, पर जब समय आता है तो जैसा कषाय होता है तै से ही शब्द निकल जाते हैं। किसी की हंसने की आदत हो, बड़ा विनोदप्रिय हो तो दु:खद समय में भी उस के हंसी आ जाती है। वह हंसी के शब्द बोल देगा और किसी को रोनी बोली आती हो, चाहे बड़ा समारोह हो, वहाँ बोलेगा तो ऐसा ही बोलेगा कि कोई दु:खभरी बात बोल रहा है। बरुवासागर में सेठ मूलचंद के यहाँ एक मनुवा नौकर था। सेठ की सेठानी मर गयी। अब वह मनुवा एक कोने में छिप कर बैठ गया, वह सेठानी उस नौकर पर बड़ा ध्यान रखती थी। सेठ पुकारें अरे मनुवा कहाँ गया, बाजार जायें, यह काम कर, वह काम करना है। वह बहुत देर में निकल कर आया। सेठ जी बिगड़ गए, पूछा कि तू कहाँ चला गया था, अभी ये सब काम करने पड़े हैं। इतनी बात सुनकर हंसता हुआ बोला कि महाराज हमारी आदत हँसने की है। हम इसलिए छिप गये थे कि कहीं वहाँ हंसी न आ जाय। दु:ख के समय में इतना बोला और हंस दिया।

वचन की योग्यतासूचकता — भाई जिसकी जैसी योग्यता है वै से ही शब्द बोलता है। यह समझो कि मेरा अपराध कोई नहीं है। मेरा कोई विरोध करता ही नहीं। जो कोई कुछ करते हैं वे अपनी योग्यता से अपने आप के कषाय का परिणमन किया करते हैं। जिस में जितना ज्ञान है, जितना कषाय है, जैसी

योग्यता है वह उस माफिक ही तो परिणमेगा और बातें कहाँ से लायेगा? जो गालियां देता है उस के हृदय में गालियां ही समायी हैं, सो वह गालियां ही उगलता है, वह और चीजें कहाँ से लायेगा? जो उत्तम है वह उत्तम ही काम करेगा, वह गलत काम कैसे करेगा? सो किसी की बातों को सुनकर मन में खेद न लाना चाहिए। नहीं तो जैसे और हैं वै से ही अपन खुद हो गये, फिर उसमें फरक ही क्या रहा ?

वचन की योग्यतासूचकता — एक साधु महाराज थे, सो वे नदी के किनारे एक सिला पर तपस्या करते थे। भोजन कर के आयें तो उसी सिला पर बैठें। एक दिन उनके आने से पहिले धोबी आ गया और उस सिला पर कपड़े धोने लगा। इतने में ही साधु आ गए। साधु बोला कि हटो यहाँ से, तुम्हें पता नहीं है कि यह मेरा आसन है। तो धोबी बोला महाराज, हमें कपड़े धोने के लिए अच्छी सिला मिल गयी है, आप तो किसी और जगह पर बैठ कर ध्यान कर सकते हो। साधु बोला कि गड़बड़ मत करो, हटो यहाँ से तो धोबी बोला कि महाराज हम नहीं हटेंगे। हम तो अपना काम पूरा कर के जायेंगे। तो साधुपन का तो उसे अभिमान था। साधु ने थप्पड़ जड़ दिया। अब तो दोनों में लड़ाई होने लगी। धोबी पहिने था तहमद, वह छूट कर नीचे गिर गया। बड़ी मुक्केबाजी हो गयी। साधु तो नग्न थे ही, अब धोबी की भी लंगोटी छूट कर गिर गयी। साधु कहता है अरे देवतावों तुम को कुछ खबर नहीं हैं कि यहाँ साधु पर कितना उपसर्ग हो रहा है? तो देवतावों ने कहा कि हम देख तो रहे हैं पर हमें यह भ्रम हो गया कि इनमें से धोबी कौन है और साधु कौन है? कुछ भी अंदाज नहीं लगता है। तुम दोनों की एक सी प्रवृत्ति है तो हम तो इस धोखे में पड़े हैं कि इनमें से साधु कौन है, सो उसे बचावें।

हित मित प्रिय शब्द बोलने की सावधानी को प्राथमिकता – सो भैया ! जैसे औरों के शब्द हैं, औरों की वृत्तियां हैं हम भी वै से ही बन जायें तो फिर औरों में और अपने में क्या अन्तर रहा? विवेक तो वह है जो प्रथम तो शब्द मात्र से अपने को अत्यन्त भिन्न जानकर उनमें राग विरोध की भावना न करे, विकल्प भी न करे और एक ज्ञानमात्र निजतत्त्व का शरण ले, अन्य प्रकार की स्थिति नहीं बनानी है। शब्द कुछ बोलने ही पड़ते हैं तो शब्द ऐसे बोलो कि जिन को सुनकर दूसरों को हित का मार्ग मिले और बुरा न लगे। किसी ने बुरा कह दिया और हम अच्छी भली बात बोलें तो प्रथम तो वही शर्मिन्दा हो जायेगा जिसने बुरा बोला है। और न हो वह शर्मिन्दा तो और लोग जो देखने वाले हैं वे तो जान जायेंगे कि यह तो दुर्जन है और यह सज्जन है। और न भी हो कोई देखने वाला तो मधुर बोलने वाले के शांति तो बनी रहेगी। वह तो कष्ट में न आयेगा। इस कारण शब्द का उत्तम उपयोग करना इस मनुष्यभव में सर्वप्रथम आवश्यक है। इतनी हिम्मत बनावो कि कोई कितना ही विरोध करे, कुशब्द कहे, फिर भी कुछ अपने आप में क्रोध को पीकर उस से वचन बोलो तो ऐसे वचन बोलो कि जिन को सुनकर वह शांत हो जाय। और अपने बैर विरोध की भावना को तज दे। ऐसे अत्यन्त निकट सम्बन्ध वाले शब्दों में सावधानी करो और ज्ञान ऐसा रखो कि शब्द तो भिन्न चीज है, यह मैं नहीं हूँ। मैं ज्ञानमात्र हूँ।

शब्द, अन्तर्जल्प व विकल्पों की अज्ञानरूपता– शब्द ज्ञान नहीं है, और जिस उपादेय ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से वर्णन चल रहा है उस दृष्टि में यह भी निरखा जा रहा है कि शब्दों को सुनने पर जो विकल्प रूप ज्ञान किया जाता है, संकल्प, विकल्प, रागद्वेष, इष्ट, अनिष्ट भावात्मक है वह भी ज्ञान नहीं है। वह

अज्ञान है, परमार्थत:। अन्य बाह्य सर्व देशरूप से अज्ञान है। जहाँ रागद्वेष का मिश्रण नहीं है। और मात्र ज्ञानवृत्ति ही चल रही हो वो परमार्थत: ज्ञान है। यह शब्द ज्ञान नहीं है इस कारण ज्ञान बात अन्य है, शब्द बात अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने निरूपण किया है। सो शब्द में आत्मीयता का भाव कर के रागद्वेष इष्ट अनिष्ट भाव बनाना, यह अज्ञान है, यह मुख्य उपदेश है।

गाथा 392

रूवं णाणं ण हवइ जम्हा रूवं ण जाणये किंचिं।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति।।392।।

रूप और ज्ञान में व्यतिरेक – रूप वर्ण नहीं है। यहाँ रूप से मतलब रंग से न लेना, किन्तु रूप रस गंध स्पर्शमयी जो मूर्तता है उस मूर्तस्वरूप को ग्रहण करना अर्थात् मूर्तिकता का ज्ञान नहीं है क्योंकि वह मूर्तिकता कुछ भी नहीं जानती। इसलिए ज्ञान अन्य है और रूपीपना अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने भाषित किया है। मोही जीवों को जो कुछ यह दिख रहा है जिस से इसने अपना निकट सम्बन्ध बनाया है, उनमें यह आपा मानता है।

स्वपर के एकत्व की अज्ञानमयी कल्पना — इन बाह्य पदार्थों में आत्मा के साथ मानी गई एकमेकता दो रूपों में फूटती है। एक तो बाह्य को मैं माना और मैं को बाह्य माना। यद्यपि यह बात कुछ थोड़ी सी ऐसी है कि जैसे कोई कहे दाल में शाक मिलाया, यद्यपि वहाँ एक ढंग हो गया फिर भी पद्धति में अन्तर है। ऐसे ही कोई पुरुष समस्त विश्व को आत्मारूप मानता है। एक मंतव्य में स्वरूप का अस्तित्व नहीं माना गया है और एक मंतव्य में पररूप से नास्ति नहीं माना गया है। ऐसे एकमेक हो रहे हैं। मुग्ध प्राणियों के प्रति कहा जा रहा है कि ये सब रूप रंग नहीं;किन्तु यह सब मूर्तिकता ज्ञान नहीं है। ज्ञान अन्य है और यह रूपीपना अन्य है। आत्मा अपने द्रव्यरूप है और यह रूपी पदार्थ अपने द्रव्य रूप है। आत्मा के गुण अन्य हैं, इन रूपी पदार्थों के गुण अन्य हैं। आत्मा अपने गुणों में ही समवायी बनकर परिणमता रहता है और ये रूपी पदार्थ अपने गुणों में ही समवायी रहकर परिणमते रहते हैं।

ज्ञेयभूत विश्व से ज्ञान का पार्थक्य — सभी संसारी जीव द्रव्येन्द्रिय के द्वारा इन रूपी पदार्थों को जानते हैं। इतने मात्र से रूपी पदार्थ और यह ज्ञान आत्मा एक नहीं हो सकता। वह द्रव्येन्द्रिय भी तो अचेतन है। जिस साधन से ज्ञान किया गया है और द्रव्येन्द्रियों के साधनों से जो भावेन्द्रिय रूप परिणमन हुआ है अर्थात् बाह्यवस्तुविषयक ज्ञान होता है वह ज्ञान ही तो औपाधिक है, विनाशीक है, एकांगी है, आंशिक है। मेरा ज्ञानस्वरूप तो ऐसा नहीं है। मैं ज्ञानमय निरुपाधि हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, अखण्ड हूँ, परिपूर्ण हूँ, इस नाते से भी यह रूपी पदार्थ मैं नहीं हूँ और फिर केवलरूपी पदार्थ ही तो ज्ञान में नहीं आते । ज्ञान में सर्व विदित होता है। फिर भी ज्ञान सर्वरूप नहीं होता, ज्ञान तो ज्ञानरूप है। ये सर्व भौतिक पदार्थ, रूपी पदार्थ, रूप मूर्तिकता मैं नहीं हूँ। मैं तो ज्ञान मात्र हूँ। ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है।

रूपी पदार्थों में शरीर से भेदविज्ञान की कठिनाई – भेया ! सबसे अधिक अड़चन पड़ती है शरीर को अपने से भिन्न परखने में, क्योंकि यदि थोड़ा फोड़ा हो, बुखार हो, सिर की नस चढ़ गयी हो तो भी यह क्षुब्ध हो जाता है। भेदविज्ञान करना यहाँ कुछ कठिन मालूम होता है, पर मोही जीव को तो इससे भी और बाहर का भेदविज्ञान करना कठिन लग रहा है। किसी का कोई इष्ट गुजर जाय तो यह आत्मा अपने प्राण गंवा देता है, आत्महत्या कर डालता है। वहाँ भी यह धैर्य नहीं रख सकता, भेदविज्ञान नहीं कर सकता और शरीर से यदि भेद की बात समझ में आये तो बाहर के भेद की बात सुगमतया समझ में आ जाती है। जब मेरा इस शरीर के साथ भी सम्बन्ध नहीं है तो अन्य पदार्थों के साथ मेरा सम्बन्ध कैसा? तो शरीररूप है, रूपी है। इस रूपी पदार्थ से यह मैं ज्ञान भिन्न हूँ। रूपी पदार्थ को जानते तो हैं पर जाननहार यह ज्ञान इस रूपी से अलग है और ये रूपी पदार्थ भिन्न हैं। अब इन रूपी पदार्थों के एक–एक गुणों को लेकर आगे भेद बताते हैं कि मैं वर्णादिक रूप भी नहीं हूँ।

गाथा 393

वण्णो णाणं ण हवइ जम्हा वण्णो ण जाणये किंचि।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति।।393।।

वर्ण और ज्ञान में व्यतिरेक — वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि ये वर्ण कुछ जानते ही नहीं हैं। कोई ऐसा तो नहीं करता कि जाते समय चौकी से कह जाय कि चौ की तुम इन की बातें सुनते रहना, हम आकर तुम से सब हाल पूछ लेंगे। अगर ये वर्ण ज्ञान करते होते तो अच्छी व्यवस्था बनती। कोई झूठ बोल ही न सकता था। खम्भा से पूछ लो, चौकी से पूछ लो कि क्या बात है? वर्ण कुछ जानता नहीं है। इससे ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है।

एक जज की युक्ति — युक्तिबल से कोई अचेतनों के नाम से कुछ निर्णय कर ले, किन्तु अचेतन जानता कुछ नहीं है। एक जज ने तो पेड़ से पूछ लिया था कि यह पुरुष सच बोलता है या झूठ? कैसे कि एक साहूकार ने एक बरगद के पेड़ के नीचे एक मनुष्य को 500) रुपये उधार दिया था। लिखा पढ़ी कुछ नहीं। साहूकार ने बहुत दिन हो गए, पैसा न दिये थे नालिस कर दी। अदालत में बयान हुए। तो जज बोला कि तुमने रुपये कहाँ दिये थे, बोला कि एक जंगल में दिये थे। उस समय और कौन था गवाह? कोई न था हम थे, यह था और बरगद का पेड़ था, जिस के नीचे बैठकर रुपये दिये थे। तो वह झूठमूठ नाराज होकर बोला कि ऐ साहूकार, तुम इसको ठगना चाहते हो, तुम अपने पेड़ को बुला कर लावो। वह पेड़ के पास गया। तो जरा देर में वह आ न पाया तो जज कहता है कि वह बदमाश है, अभी पेड़ को बुलाकर नहीं हाजिर हुआ। कर्जदार पुरुष जल्दी में कह गया कि महाराज ! वह पेड़ तो यहाँ से तीन मील दूर है। जज ने मालूम कर लिया कि हां उसने इसे रुपये दिए हैं। तो कहीं पेड़ ने नहीं बताया, उसने तो अपने ज्ञान से ही जान लिया।

देहरूप इन्द्रजाल — ये वर्णादिक यदि कुछ जानते होते तो या तो विडम्बना बनती या एकदम सच्चाई पैदा हो जाती। ये वर्ण जानते नहीं हैं और यह वर्ण है क्या चीज? आंखों से तो बढ़िया दिखते हैं और इन को थोड़ा पकड़ने जावो तो पकड़ने में नहीं आते हैं। क्या है यह रूप और यहाँ तो कुछ समझ में भी थोड़ा आता है कि यह रंग लगा है, यह अटपट क्या है? इस शरीर पर तो कुछ समझ में ही नहीं आता। न चूना जैसा उखड़े, न हाथ में आये किन्तु कोई काला है, कोई गोरा है, कोई मिलता है नहीं। यह रूप कुछ जानने वाला है क्या? जब आदमी सो जाते हैं तो चोर लोग बेखटके चोरी करते हैं वे जानते हैं कि ये सो रहे हैं, यह शरीर तो जान ही नहीं रहा है। जाननहार तो शरीर में आत्मा है यहाँ मुर्दा नहीं। यह वर्ण नहीं जानता है।

वर्ण की पुद्गल में तन्मयता व ज्ञान से भिन्नता — वर्ण पुद्गलद्रव्य के वर्ण गुण की स्वतंत्र–स्वतंत्र पर्याय है काला, पीला, नीला, लाल, सफेद, हरा, स्वतंत्र रंग नहीं है। नीला और पीला मिलाने से हरा बनता है। तो यह वर्ण पर्याय और वर्ण नामक गुण यह पुद्गल में ही तन्मय है। आत्मा से इसका सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान इस वर्ण विषय को जाने भी तो ज्ञान एक वर्ण विषय आया, पर यह ज्ञान खुद वर्ण नहीं बन गया। वर्ण आकार का बनना, वर्ण ज्ञेय का झलकना यह ज्ञानगुण का ही एक परिणमन है, वर्ण का परिणमन नहीं है। यहीं बैठे-बैठे पचासों चीजों को जान ले तो यह हमारी कला है,हमारी परिणती है । हम में पचासों चीजें आ नहीं जाती हैं, यह पचासों चीजों का असर नहीं है। वर्णादिक पदार्थ सब भिन्न हैं। यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा भिन्न हूँ। वर्ण अन्य चीज है और ज्ञान अन्य चीज है। इसी प्रकार गंध के विषय में बतला रहे हैं कि गंध भी ज्ञान नहीं है।

गाथा 394

गंधो णाणं णा हवइ जम्हा गंधो ण जणाए किंचि।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति।।394।।

गंध और ज्ञान का व्यतिरेक – गंध ज्ञान नहीं होता है क्योंकि गंध कुछ जानता नहीं है। कैसा यह विषयों का खेल है कि अन्तर में तो यह आत्मा है जो मात्र जाननहार है और ये विषय भी कितने सूक्ष्म हैं कि देखो गंध को कोई न पकड़े, न देखे, न दूसरे को दे दें, किन्तु गंध के ये परमाणु नाक में प्रवेश करते हैं और नाक में किस जगह से बांस आने लगती है? कोई ऐसी एक जगह है थोड़ा अन्दर में आंख से कुछ नीचे की जिस का स्पर्श होते ही गंध का ज्ञान होने लगता है। वह गंध पुद्गल द्रव्य का गुण है। पुद्गल की पर्याय है। बिल्कुल जुदा है।

गंध और गंधसंबंधित तत्त्वों से ज्ञान का व्यतिरेक — भैया ! ज्ञान चेतन है, गंध अचेतन है। चेतन और अचेतन का तीन काल में भी मेल नहीं हो सकता अर्थात् वे कभी एक नहीं हो सकते। न गंधवान द्रव्य मैं हूँ, न गंध गुण मैं हूँ, न गंध पर्याय मैं हूँ, और गंध का जो ज्ञान किया जा रहा है द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रियरूप से गंधरूप से प्रतीत हो रहा है वह भी मैं नहीं हूँ। मैं सबको जानता हूँ, तिस पर भी मैं सर्वरूप नहीं हूँ।

सर्व को जानकर भी मैं मैं ही रहता हूँ और सब सब ही रहते हैं, ऐसा तत्त्वभेद है। तो ज्ञेय और विषय का साथ है पर यह अपनी ही जगह पर पड़े-पड़े कल्पना कर के बेचैन होता है और अन्तर में कितनी ही कल्पनाएँ बना डालता है।

भोग की व्यर्थता — अरे इन विषयों के भोगने में क्या सुख है? लेकिन इस मोही जीव को भोगते समय बस वही-वही सार मालूम होता है, वही सुखमय प्रतीत होता है। खा चुकने के बाद फिर तो यह खबर आ सकती है कि न मिष्ठ खातेसाधारण खाते तो ठीक था, क्योंकि पेट में पहुंचने पर मीठा कड़वा सब बराबर। कोई चाहे बंदर और ऊँट की तरह पेट में से निकाल-निकालकर स्वाद लेते जाएँ। बंदर और ऊँट पेट में से नहीं निकालते किन्तु वे दाढ़ के पास भर लेते हैं। थोड़ा तो हम आप भी भर लेते हैं पर ज्यादा नहीं, आधा कौर किसी दाढ़ के नीचे रख सकते हैं और धीरे-धीरे जरा-जरा खाकर स्वाद ले सकते हैं, पर इस बंदर का और ऊँट का बड़ा खजाना है दाढ़ के पास। वे तो इतना भर लेते हैं कि कहो बड़ी देर तक खाते रहें। ऐसा अगर पेट का हिसाब होता तो बड़ा अच्छा था, कैसे कि यहाँ खूब खाया और दो तीन दिन तक थोड़ा थोड़ा निकाल कर स्वाद लेते रहते। तो बतलाओ भोग भोगने के बाद फिर क्या है? भोगा और न भोगा बराबर है। बल्कि भोगों में पछतावा ही रहता है।

भोग से बरबादी - भैया ! भोग को भोगने की स्थिति तो सुहावनी मालूम होती है, उस समय तो सुहाना लगता है पर बाद में उन से विपदा ही आती है। पर की ओर दृष्टि है सो बेचैनी बराबर चलती रहेगी। अपने को भूले हुए हैं। वस्तुत: पदार्थ तो अलग ही पड़े रहते हैं, पर मोह की इतनी तीव्रता है कि कुछ भी ख्याल नहीं है। सो उसी का स्वाद लेते हैं और उसमें आसक्त रहते हैं। यह गंध ज्ञान नहीं है। कैसा गंध का शौक है, बना बनाकर अच्छे तैल मिलाए। कुछ ऐसे कागज भी बन गये हैं कि जेब में धर लिया और खुशबू ले रहे हैं। कितने श्रृंगार के साधन बने हैं कि जरा सी नाक में बदबू आ जाय, इसके लिये ना जाने क्या क्या करते हैं? इसके बाद मिलता कुछ भी नहीं । खुशबू से स्वास्थ्य नहीं बढ़ता, बल्कि कहीं खुशबू ऐसी तेज होती है कि जिस में रहकर कहो दुर्बलता आ जाय। जो गंधीगर होते हैं वे देखो खुशबू में ही बने रहते हैं पर उनका चेहरा मुरझाया बना रहता है। इस जीव को उस से लाभ क्या है? हो गया सामान्यतया ठीक है। स्वच्छ हवा होनी चाहिए। पर कितना उस ओर लोग आसक्त रहते कि उन भिन्न भिन्न प्रकार के तालों से अपनी अलमारी सजा देते हैं।

यह गंध ज्ञान नहीं है और गंध विषय का जो विकल्प हो जाये वह भी ज्ञान ज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञान ने जो ज्ञानवृत्ति की है वह ज्ञान है। गंध अन्य चीज है और ज्ञान अन्य चीज है। चेतन और अचेतन का मेल क्या है? इस ही प्रकार रस गुण की बात है।

गाथा 395

ण रसो हु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणए किंचि।

तम्हा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ।।395।।

रस और ज्ञान में व्यतिरेक — रस ज्ञान नहीं होता है क्योंकि रस जानता कुछ नहीं है। यह मोही जीव रस लेते समय इसको कुछ नहीं जानता किन्तु कल्पना से रस में एकमेक बनकर एक कल्पित सुख का अनुभव लूटा करता है। उसे यह खबर नहीं है कि यह रस गुण भिन्न चीज नहीं है और यह मैं अनुभवन वाला, स्वाद लेने वाला, ज्ञान करने वाला कोई भिन्न वस्तु हूँ। आत्मा में है ज्ञान रस। इसने अपने ज्ञानरस को खो दिया है और यह पौद्गलिक रसों का भिखारी बन गया है।

संतोषरूप भोजन रस का महत्व —भैया ! धैर्य हो तो रूखा सूखा भोजन हो, उसमें भी स्वाद है, रसवान हो तो उसमें भी उतना ही स्वाद है। विवेक और धैर्य हो तो दोनों के स्वादों में समता रहती है कभी बड़े साधुजन रूखे सूखे चौके में आहार कर जाय तो बताया है कि रूखा भोजन भी रसीला हो जाता है। जो खायेगा उसे ही उसमें रस मालूम होता है और ऋद्धि में तो घृत और दुग्ध का भी स्वाद आने लगता है। भावों का भी बड़ा महत्व है। तृष्णा हो तो उसे रसीले भोजन में भी संतोष नहीं और न तृष्णा हो तो साधारण भोजन में भी संतोष होता है। रही स्वास्थ्य की बात। बोलते हैं आजकल फला विटामिन खावो। अरे संतोषपूर्वक कुछ भी खावो उस से स्वास्थ्य बनेगा। कोई विटामिन की तृष्णा से खूब बादाम चबा डाले तो दूसरे ही दिन उसे सब कसर मालूम पड़ जायेगी। पेट दर्द हो जायेगा। संतोषपूर्वक जो भी खाने में आता है उसमें ही स्वास्थ्य बढ़िया हो जाता है।

विवेकी के रस में अनासक्ति —रस रस की जगह है, आत्मा आत्मा की जगह है, रस पुद्गल द्रव्य का गुण है। रस पुद्गल की पर्याय है, उस से आत्मा का सम्बन्ध नहीं है और विटामिन तो कभी कभी लंघन भी बन जाती है। वैध दवा देते हैं तो कहते हैं कि भोजन न खाना। न खाया तो लो वह लंघन शक्तिदायक हो गई, विटामिन बन गया। ठीक हो गया। तो प्रकृति से रहने पर और साधारण रहन-सहन और भोजनादिक में वे सब तत्त्व बने हुए हैं जो इसको अपने स्वास्थ्य के लिये चाहियें। रस की आसक्ति भी इतनी कठिन आसक्ति है कि उतने समय में निज स्वरूप के स्मरण की पात्रता नहीं रहती है।

ज्ञानी की दृष्टि में भोजन एक संकट —भैया ! भोजन से पहिले लोग णमोकार मंत्र पढ़ते हैं और बाद में भी पढ़ते हैं। तो ज्ञानीजन तो इसलिए णमोकार मंत्र पढ़ते हैं कि भोजन करने की आफत में हम पड़ रहे हैं, जहाँ हम अपने आप को भूल जायेंगे, इसलिए भगवान का यहाँ स्मरण किया जा रहा है कि मैं वहाँ भी अपना लक्ष्य बनाये रहूं। उसकी रस में आसक्ति नहीं होती, परन्तु शायद मोहीजन इसलिए पढ़ते होंगे कि हे भगवान तुम्हारे प्रसाद से बढ़िया हलुवा पूड़ी मिले। अन्त में भी ज्ञानी यह समझ कर णमोकार मंत्र पढ़ता है कि यह मुझ से दोष बना है, सो माफ हो और अज्ञानी भगवान को शायद आशीर्वाद देने के लिये पढ़ता होगा कि हे भगवन् ! आप का नाम लेने पर मुझे स्वादिष्ट भोजन मिला है। तो रस ज्ञान नहीं है, रस अन्य है, ज्ञान अन्य है, ऐसा संत जन कहते हैं।

ज्ञान में रस का अत्यन्ताभाव —ज्ञान रस नहीं है। रस पुद्गलद्रव्य से भिन्न है। रस गुण आत्मा में नहीं पाया जाता है। पुद्गलद्रव्य से यह ज्ञानमय आत्मतत्त्व अन्य है। आत्मा में तो ज्ञानगुण है जो कि पुद्गलद्रव्य के रसगुण से अत्यन्त जुदा है। जिस समय यह जीव, मोही पुरुष किसी फल में रस का स्वाद लेता है वहाँ यद्यपि यह उपयोग में एकमेक बनाता है, लेकिन निरन्तर रस अपने द्रव्य में ही तन्मय

है और ज्ञान अपने ही द्रव्य में तन्मय है। जैसे अपने-अपने शरीर की कैद में कैदी होने पर भी प्रेमी लोग अपना उपभोग दूसरों में डालते हैं और दूसरे को अपने में एकमेक मानते हैं, याने फिर भी उनका कैदखाना न्यारा-न्यारा है। इस प्रकार यह ज्ञानगुण अपने स्वरूप में केन्द्रित है। यह परवस्तु में अपना उपयोग देकर चाहे अपने को रीता मान ले और पर में गया हुआ मान लें, फिर भी ज्ञान अपने स्रोतभूत अपने आत्मा में ही रहता है और रस अपने स्त्रोतभूत पुद्गल में ही रहता है।

ज्ञान के रस का स्वामित्व, अधिकारित्व व भोक्तृत्व का अभाव —यह रस का स्वामी भी नहीं है, फिर यह रस कैसे बने? रस का स्वामी वह है जिसमे रस शाश्वत रहे। रस गुण आत्मा से नहीं परिणमता है और आत्मा में शाश्वत रहने का तो कोई सवाल ही नहीं है। यह रस द्रव्येन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है। इतने मात्र से कहीं रस ज्ञान नहीं बन जाता। द्रव्येन्द्रिय भी अचेतन है, रस भी अचेतन है, ज्ञान चेतन है, यह न्यारा है और रस न्यारा है। यह ज्ञानरस का ज्ञान करता है। इस कारण रस को ज्ञानरूप मानने का भ्रम लग गया तो वह भी एक व्यामोह है। क्या यह आत्मा केवल रस को ही जानता है? यह तो अन्य सब ज्ञेयों को भी जानता है, यह तो शुद्धात्मक हो गया। सब को जानकर भी उन रूप परिणमता नहीं है। ज्ञानरस को जानकर भी रसरूप परिणमता नहीं है। जैसे हमने चौ की को जान लिया तो क्या हम चौकीरूप परिणम गए? नहीं। तब चौकी, चौ की है और ज्ञान, ज्ञान है। इसी तरह रस, रस है और ज्ञान, ज्ञान है।

पुद्गल के गुण का आत्मगुणत्व होने का त्रिकाल अभाव —भैया ! यह रस कुछ जानता नहीं है। इस कारण रस ज्ञानगुण नहीं हो सकता। ऐसा जिनेन्द्रदेव के आगम में बताया गया है। और कुछ प्रज्ञा का उपयोग करे तो यह बात अपने को भी विदित हो जाती है कि पुद्गल का गुण पुद्गल को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं रहता है। तब पुद्गल का रस गुण ज्ञान में अथवा ज्ञानी में कैसी चला जायेगा? ज्ञान रस के आकार को ग्रहण करता है पर रसरूप नहीं हो जाता। न रस ज्ञान में आता है और न ज्ञान रस में जाता है। इस मर्म का मोही जीव को कुछ पता नहीं है। वह तो खाता हुआ अपने सारे अंगों को टन्नाकर एक चित्त होकर मस्त रहता है, ओह मैंने बहुत मिष्ट भोजन किया। ज्ञानी की बात को अज्ञानी कहाँ पा सकता है ज्ञानी रस का ज्ञान करता हुआ भी रस में अनासक्त है और अपने आत्मा की रुचि में अन्तर नहीं डालता है। जबकि अज्ञानी जीव भूतकाल के भोगे हुए रस में भी शान बगराता है और वर्तमान काल के रस को भोगता हुआ अपना बड़प्पन मानता है और भावी काल के भोग के ख्याल में अपने वर्तमान समय का भी दुरुपयोग करता है।

ज्ञानी और अज्ञानी के आशय का आहारविषयक अन्तर —देखा होगा जिन के खाने की बड़ी तीव्र रुचि है उनके घर में बस खाने ही खाने का सारा कार्यक्रम रहता है। खाना तो जिन्दगी को रखने के लिए है ओर जिन्दगी धर्म की साधना के लिए है और धर्म की साधना शरीर के सारे संकट और अशुद्धियों को मिटाने के लिए है। एक वह पुरुष है जो जो जीने के लिए खाता है और एक ऐसा पुरुष जो खाने के लिए जी रहा है। इस आत्मा के और उस आत्मा के आशय में कितना अन्तर है? यहाँ वस्तुस्वरूप को स्वतंत्रता की दृष्टि से निरखें तो रस रस में है, ज्ञान ज्ञान में है, रस ज्ञान गुण नहीं होता

अब यह बतलाते हैं कि यह रस ज्ञान नहीं है, ऐसे ही स्पर्श भी ज्ञान नहीं है। किसी इष्ट और अनिष्ट स्पर्श को छूकर तुरन्त ही यह जीव ज्ञान करता है और अज्ञान में स्पर्श और ज्ञान का विवेक नहीं कर पाता। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि स्पर्श भी ज्ञान नहीं हैं।

गाथा 396

फासो ण हवइ णाणं जम्हा फासो ण याणए किंचि।

तम्हा अण्णां णाणं फासं अण्णं जिणा विंति।।396।।

स्पर्श और ज्ञान में व्यतिरेक —स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं है। इस कारण ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है, ऐसा जैन आगम में बताया है। इस प्रकरण में इन पांच इन्द्रियों के 5 विषयों में सबसे पहिले शब्द का वर्णन किया था कि शब्द ज्ञान नहीं है और सबसे अंत में स्पर्श का वर्णन कर रहे हैं कि स्पर्श ज्ञान नहीं है। शब्द तो इस जीव के किसी उलझन में आने के लिये एक पहिला धंधा है। मनुष्यों को समझाया जा रहा है, इसलिए पंचइन्द्रियों को बात कही है, उनमें सबसे पहिले शब्द की बात रखी है और अंत में स्पर्श की बात कही है। यह जीव सबसे अधिक आसक्ति स्पर्श में रखता है और यह स्पर्श विषय बड़ी निकटता को लेकर सोता है। आग पड़ी है आंखों दिख रही है। कोई यह कह दे कि आग गरम नहीं है आग तो ठण्डी हुआ करती है, उसे कितना ही समझावो समझ में नहीं आता? और समझ में न आये तो आग का एक तिलगा उठाकर हथेली में धर दो, फिर तो तुरन्त कहेगा कि अरे रे रे, हाँ आग गरम है। कैसा बढ़िया स्पष्ट बोध होता है? कसर रही हो तो और ज्ञान करा दो कि पूरी गरम है।

स्पर्शविषयक सर्वचेष्टाओं में ज्ञान का अत्यन्ताभाव —स्पर्श का अलंकार अनुभव को दिया जाता है। आत्मा का स्पर्श करना अर्थात् आत्मा का अनुभव करना। जिस आत्मा के अनुभव में बड़ी निकटता का बोध होता है, ऐसे ही इन बाह्य बोधों में स्पर्श का बोध बड़ी निकटता से होता है और इस स्पर्श के विषय में ठण्डा गरम आदि के छूने की ही बात नहीं कही गयी किन्तु इसमें काम भोग की भी बात गर्भित है। उन सब में जो ज्ञान होता है उस ज्ञान के समय में यह जीव अपने ज्ञान से अपने को न्यारा नहीं समझ सकता है। यह स्पर्शविषयक जितना भी ज्ञान है वह ज्ञान भी ज्ञान नहीं है परमार्थ से और स्पर्श तो प्रकट अचेतन है। वह अचेतन स्पर्श ज्ञान कैसे होगा? स्पर्श भिन्न चीज है और ज्ञान भिन्न चीज है। अब पंचइन्द्रियों के विषय का वर्णन कर के द्रव्यों के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि यह ज्ञान अन्य द्रव्योंरूप भी नहीं है।

गाथा 397

कम्मं ण हवइ णाणं जम्हा कम्मं ण याणए किंचि।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति।।397।।

कर्म का ज्ञान में अत्यन्ताभाव —कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म अचेतन है। वह कुछ जानता नहीं है, इसलिए ज्ञान भिन्न बात है और कर्म भिन्न बात है। लोग तो यहाँ तक कह डालते हैं कि ज्ञान भी कर्म से मिलता है, भाग्य से मिलता है। भाग्य बढ़ा हो तो ज्ञान मिलेगा, परन्तु ज्ञान भाग्य से नहीं मिलता, बल्कि भाग्य के फूटने से मिलता है। आनन्द भी भाग्य से नहीं मिलता, किन्तु भाग्य के फूटने से मिलता है। शायद कुछ लोगों को बुरा लगा हो कि हम को कह रहे हैं कि इन का भाग्य फूट जाय। अरे भाग्य फूट जाय तो सब लोगों को तुम्हारे हाथ जोड़ने पड़ेंगे। यदि बहुत ही भाग्य फूट जाय तो बड़े बड़े मुनीश्वर राजा महाराजावों को तुम्हारे हाथ जोड़ने पड़ेंगे।

कर्म का विवरण —भाग्य मायने है कर्म। जिन्हें पुण्य के फल में रुचि है उन्हें भाग्य के फूटने की बात नहीं सुहाती। पर जि से सुख और दु:ख समान मालूम होते हैं और सुख दु:ख का कारणभूत पुण्य और पाप भी एक समान विदित होते हैं तथा पुण्य पाप का कारणभूत शुभभाव और अशुभ भाव एक समान विदित हुए हैं वही ज्ञानी संत ऐसा साहस कर सकता है कि मुझे एक भी कर्म न चाहिए। मुझे यह कर्म अवस्था हित रूप नहीं है। ये कर्म कार्माणवर्गणाएँ नामक पुद्गल है। इन वर्गणावों में ऐसी योग्यता है कि जीव विभाव का निमित्त पाये तो यह कर्मरूप हो जाता है।

कर्म का कर्म से बन्धन —देखिए कर्म-कर्म से ही बँध गए हैं, जीव से बँधे हुए नहीं है। वे बँधे हुए कर्म जीव के साथ निमित्तनैमित्तिक रूप बंधन को लिए हुए हैं। एक तो बंधन होता है मिलकर, जुड़कर और एक बंधन होता है इस निमित्तनैमित्तिक भाव का लगना। इस शरीर का बंधन है मिलकर भिड़कर जुड़कर और हमारा किसी से वात्सल्य हो, प्रीति हो तो हमारा उसका भी बंधन हो गया। वह बंधन, भिड़कर, मिलकर जुड़कर नहीं है किन्तु निमित्तनैमित्तिक रूप है। इसका एक मोटा दृष्टांत लीजिये जैसे गिरमे से गाय बाँधी जाती है तो गिरमा का बन्धन मिलकर जुड़कर, भिड़कर, डटकर गांठ उस गिरमा से ही है, गाय से नहीं है, पर गिरमा का और गाय का बंधन निमित्तरूप है। जैसे गिरमा का एक छोर दूसरे छोर के साथ बांध दिया जाता है, गांठ लगा दी जाती है, ऐसी ही गांठ कर्मों की कर्मों से जुड़ी हुई है। इसलिए जुड़कर मिलकर भिड़कर बंधन, कर्म का कर्म के साथ है और उन पुद्गल कर्मों का जीव के साथ बंधन निमित्तनैमित्तिक भाव के रूप में हैं।

उदयागत कर्म में कर्मसम्बन्धन की निमित्तता —चूँकि कर्म का बन्धन कर्म से है, इसी कारण सूक्ष्मदृष्टि से आप जानेंगे कि नवीन कर्मों के बंधन का निमित्त उदयागत कर्म है। जीव के रागद्वेष मोह भाव नहीं है पर उदयागत कर्मों में नवीन कर्मों के बंधन का निमित्तपना आ जाय, इस बात का निमित्त होता है जीव का रागद्वेषमोहभाव। जैसे मालिक तो कुत्ते को सैन करता है—छू-छू और सीधा आक्रमण करता है कुत्ता। ऐसे ही रागद्वेष मोह भाव तो उदयागत कर्मों को सैन करता है, सीधा निमित्त बनना, आक्रमण करना, नवीन कर्मों का लेना, ये सब कलाएँ बनती हैं उदयागत कर्मपुद्गलों में । ये कर्म कामार्णवर्गणा जाति के पुद्गलद्रव्य हैं, इन में कर्मत्वरूप होने की योग्यता है, इस प्राकृतिकता से सब हैरान हो गये। यह बात नहीं बदली जा सकती है। कृत्रिमता अपने मन की कल्पना के अनुसार दृष्टपदार्थों में बना लीजिए, किन्तु

यह प्राकृतिकता नहीं टाली जा सकती है। निमित्तनैमित्तिक भाव का सही रूप में बनना इसे कौन टाल सकता है? जैसे कर्मों के उदय के निमित्त से जीव में विभाव होते हैं ऐसे ही जीव के शुद्ध भावों के निमित्त से अनन्तभवों के बांधे कर्म भी क्षणमात्र में खिर जाते हैं।

अनन्त भवों के बद्ध कर्मों के वर्तमान में सत्त्व की संभवता —आप कहेंगे अनन्तभवों में बाँधे कर्म कैसे? तो इतना तो अंदाज होगा कि 60 - 65 कोड़ा कोड़ी सागर तक की स्थिति के कर्म तो होंगे, हो सकते हैं। अब वह 50,60 कोड़ा- कोड़ी सागर कितना समय होता है, उन समयों के बीच में जरा एक सागर तक ही यह निगोद अगर बन जाय तो कितने भव हो जायेंगे? जो अवधिज्ञान के विषय परे है उसका भी नाम अनन्त है। एक अनन्त उसे कहते हैं जिस का अंत न हो और अनन्त नाम उसका भी है जो अवधिज्ञान के विषय से परे हो।

दृश्यों की प्राकृतिकता – जब कभी लोग कहते हैं पहाड़ नदियों का दृश्य देख कर शिमला मंसूरी की घाटी निरखकर कि देखो कितना सुहावना प्राकृतिक दृश्य है? यह सब प्रकृति का खेल है। प्रकृति का खेल, इसका क्या मतलब? कुदरत का खेल। तो वह प्रकृति और कुदरत क्या है जिसकी यह सृष्टि है, खेल है, रचना है? वह सब प्रकृति कर्म प्रकृति है, रंग बिरंगे फूलों का होना, झाड़ियां, लतावों के रूप में इन वनस्पतिकायों का फैलाव, नुकीले पाषाणों का बनना, वृक्ष और हरियाली का खूब होना, यह सब प्रकृति का ही तो खेल है। विभिन्न कर्म प्रकृतियां, उनके उदय में स्थावर काय की ये विभिन्न रचनाएँ हैं। उन्हीं बनियों में चिड़ियां भी चैं चैं करती हों, तालाब भी बना हो;सारस हंस भी कल्लोल कर रहे हों, ये सब भी तो प्राकृतिक दृश्य हैं। उनमें भी सब कर्मप्रकृति का परिणाम है। तो जो यह सब सुहावना लगता है यह कर्मप्रकृति का खेल है। इसी को प्रकृति कहते हैं, कुदरत हैं, प्राकृतिक दृश्य कहते हैं।

कार्माण वातावरण – भैया ! एक ऐसा सूक्ष्म कार्माण वातावरण है कि जहाँ जीव ने रागद्वेष विभाव किया कि उसकी सैन पाकर उदयागत पुद्गल नवीन कर्म बंध का कारण हो जाते हैं। ऐसे ये कर्म जो जीव में एक क्षेत्रावगाहरूप स्थित हैं और इतना निकट सम्बन्ध है कि जैसे घड़ी की चाभी भर दें और घड़ी का ख्याल भी न रहे तो भी घड़ी अपना काम नहीं रोक सकती। इसी तरह ये कर्म जहाँ जैसे बद्ध हैं और ये विभाव हैं, इन का परस्पर जहाँ जैसा निमित्तनैमित्तिक योग है, यह सब काम चल रहा है। मनुष्य यश के लिए बड़ा श्रम करता है और अन्तर में हो अयश: कीर्ति प्रकृति का उदय तो अयश ही चलता है। लोग इष्ट विषय चाहते हैं और हो असातावेदनीय का उदय तो वह इष्ट सामग्री नहीं मिलती। जो न चाहिए ऐसे ही अनिष्ट का समागम होता है, इसमें इतना निकट सम्बन्ध है।

निकट सम्बन्ध होने पर कभी कर्म की ज्ञान से भिन्नता —जीव का कर्म के साथ निकट सम्बन्ध होने पर भी यह भ्रम नहीं करना कि कर्म ज्ञान है अथवा कर्म प्रभु है या मेरा पालनहार है, वह तो अचेतन है। कर्म कुछ जानता नहीं है। इस कारण कर्म न्यारा पदार्थ है, ज्ञान न्यारा पदार्थ है। इस कर्म का रंग किसी ने देखा है? नहीं देखा होगा। इस कर्म का रंग सफेद बताया है। जब यह जीव मरकर दूसरे भव में जाता है तो रास्ते में उस कार्माण शरीर का शुक्ल रंग बताया है। करणानुयोग जानने वाले समझते होंगे कि कार्माणशरीर का शुक्ल रंग है, और कुछ ऐसा अनुमान आता है कि जो सूक्ष्म से सूक्ष्म स्कंध हों उन्हें

सफेद रंग पसंद है। पर वह दिख नहीं सकता। उन 6 प्रकार के स्कंधों में सूक्ष्म स्कंध बताये गये हैं। ये कर्म जो कि रूप रस गंध स्पर्शमय हैं, इस आत्मा के साथ, जब मानी हुई दुनिया से बिलगाव बन गया है याने मरकर जीव अन्य भव में जाता है तो साथ जाता है, ऐसा अत्यन्त निकट सम्बन्ध वाला भी कर्म ज्ञान नहीं है। कर्म अन्य तत्त्व है, ज्ञान अन्य तत्त्व है। ऐसा जैन आगम में स्पष्ट बताया है। इसलिए कर्म मात्र से राग मत करो, चाहे शुभ कर्म हों, चाहे अशुभ कर्म हों, वहाँ आत्मा की स्वच्छता का आवरण होता है, उन से विविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व ही अनुभव करने का यत्न करना चाहिये।

शुभ अशुभ कर्मों के ज्ञातृत्व की प्रेरणा —कार्माणवर्गणा जाति के द्रव्यकर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि वे कुछ जानते नहीं हैं। द्रव्य कर्म से उदय का निमित्त पाकर होने वाला भावकर्म भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह कुछ जानता नहीं है। इस कारण ज्ञान अन्य बात है और कर्म अन्य बात है, ऐसा जानकर किसी भी प्रकार के कर्म में चाहे वह पुण्य कर्म हो अथवा पापकर्म हो, चाहे वह शुभ भावकर्म हो, चाहे वह अशुभ भावकर्म हो, ये सब चेतना जाति से परे हैं। इस कारण इन में किसी में भी रागबुद्धि और विरोध न करो किन्तु सब के ज्ञाता द्रष्टा रहो।

सकलकर्म भेदभावना — कार्माण द्रव्यकर्म अथवा ये भावकर्म अपनी पदवी के अनुसार ये अशुभ अथवा शुभ रूप से बँधते रहते हैं। शुभ और अशुभ दोनों का बंधन तो दशम गुणस्थान तक सम्यग्दृष्टि के भी चलता रहता है। घातिया कर्म बँधते हैं दशम गुणस्थान तक। तो घातिया कर्म क्या पुण्य कर्म है? घातिया कर्म को पाप कर्म माना गया है और साथ ही विशिष्ट पुण्य कर्म भी बँधता है। सो बँधने वाले कर्म तो दृष्टि ध्यान में नहीं हुआ करते हैं, जो भावकर्म है वह भाव कर्म अनुभवन के रूप से आता है, उन्हें यह भिन्न समझता है, अपने को केवल चैतन्य मात्र मानता है।

सकलकर्मभेदभावना —अब धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार अमूर्त पदार्थों के सम्बन्ध में भेद विज्ञान का वर्णन चलेगा, उनमें प्रथम कहते हैं—

गाथा 398

धम्मो णाणं ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति।।398।।

धर्मद्रव्य और ज्ञान में व्यतिरेक —धर्म ज्ञान नहीं होता है क्योंकि धर्म जानता कुछ नहीं है। धर्म से यहाँ प्रयोजन धर्मास्तिकाय से है। धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य ज्ञानरूप नहीं है। इस ज्ञान में धर्मास्तिकाय ज्ञेय तो होता है पर धर्मास्तिकाय को जानने के कारण कहीं यह ज्ञान धर्मास्तिकाय नहीं बन जाता है। लोगों की ऐसी प्रकृति है कि वे जिस ज्ञेय को जानते हैं वे उस ज्ञेयरूप अपने को मानते हैं अथवा दूसरे को कहते भी हैं। जैसे कोई चने बेचने वाला जा रहा हो तो चने खाने की इच्छा वाला पुरुष उसे यों कह कर बुलाता है कि ऐ चने ! यहाँ आवो, और वह चने वाला खड़ा होकर अपनी ठेली के चनों से कहे कि ऐ चनो, जावो तुम्हें अमुक बुला रहा है ऐसा नहीं देखा जाता है। उसने बुलाया और वह पहुँच गया, यहाँ तो

चने का और पुरुष का निकट सम्बन्ध भी नहीं है, फिर भी वह आदमी चना बन गया। उसे लोगो ने चना बना डाला। यों ही ज्ञेय पदार्थ से इस ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन यह मोही प्राणी अपने को ज्ञेयभूत बना डालता है।

तत्वचर्चा में विवाद का कारण ज्ञेयविकल्प में आत्मत्व का प्रत्यय —जब धर्मास्तिकाय के बारे में चर्चा हो रही हो—एक कोई कहे कि धर्मद्रव्य नहीं है, न मानो धर्मद्रव्य तो क्या हर्ज है, दूसरा कोई धर्मद्रव्य की सिद्धि कर रहा है अथवा धर्मद्रव्य में निमित्त के सम्बन्ध में चर्चा चल रही है और चर्चा चलते-चलते कुछ गरमागरमी हो जाय, झगड़ा तू तू बन जाय, तो भाई बतावो यह झगड़ा किस बात पर हो गया? इस बात पर हो गया कि अपने को धर्मास्तिकाय मान लिया। धर्म के सम्बन्ध में जो बात हम कह रहे है उसको दूसरा न माने तो वह इतना अधिक महसूस कर डालता कि मानो वह बीमार ही हो गया। वह यों सोचता है कि मैं कुछ भी नहीं रहा। तो ज्ञेय पदार्थों के जानने में भी यह आत्मा ऐसा भ्रममय हो जाता है कि अपने सत्त्व को मना कर डालता है और ज्ञेयरूप बन जाता है।

धर्मद्रव्य का संक्षिप्त विवरण —यह धर्मद्रव्य एक अमूर्त पदार्थ है, समस्त लोकाकाश में एक है और व्यापक है। यह चलते हुए जीव पुद्गल के चलने में सहकारी कारण होता है अर्थात् निमित्त होता है। निमित्त का और उपादान का परस्पर में अत्यन्ताभाव है, तभी ये निमित्त कहलाते हैं और यह उपादान कहलाता है। एक हो जायें उनमें कोई किसी को करने लगे भोगने लगे तो निमित्त उपादान की संज्ञा नहीं रह सकती। निमित्त और उपादान की संज्ञा रह सकती है तो इस ही बात का द्योतन कर के रह सकती है कि निमित्त का और उपादान का परस्पर में अत्यन्ताभाव है।

धर्मद्रव्य व आत्मा में सादृश्य व वैलक्षण्य —यह मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व चेतन हूँ, धर्मास्तिकाय मैं नहीं हो सकता। यद्यपि धर्मास्तिकाय और मुझ में अनेक बातों का सादृश्य है। धर्म द्रव्य अमूर्त है तो मैं भी अमूर्त हूँ । धर्मद्रव्य असंख्यातप्रदेशी है और मैं भी असंख्यातप्रदेशी हूँ। धर्मद्रव्य बाह्य जीव पुद्गल के गमन में निमित्त होकर भी उन से न्यारा रहता है और यह मैं भी अनेक पुद्गल परिणमनों में निमित्त होकर भी उन से न्यारा रहता हूँ। फिर भी एक असाधारण लक्षण महान् अन्तर है जिस से धर्मद्रव्य और इस ज्ञानमात्र आत्मद्रव्य में अत्यन्ताभाव बना हुआ है। यह मैं चेतन हूँ और धर्मद्रव्य अचेतन है। मैं धर्मद्रव्य नहीं हूँ और धर्मद्रव्य के सम्बन्ध में होने वाले जो विकल्प हैं वे विकल्प भी मैं नहीं हूँ, वे विकल्प भी अचेतन हैं, किन्तु यह मैं ज्ञान स्वरस निर्भर चैतन्य पदार्थ हूँ। इस कारण ज्ञान अन्य चीज है और धर्म अन्य चीज है, धर्मासतिकाय अन्य पदार्थ है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। धर्मद्रव्य का भेद बताकर अब अधर्म द्रव्य के सम्बन्ध में कह रहे हैं।

गाथा 399

णाणमधम्मो ण हवइ जम्हाऽधम्मो ण याणए किंचि।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति।।399।।

धम्माधम्म —यह धम्माधम्म की चर्चा है। लड़ के ऊधम करते हैं तो कहते हैं कि देखो इन लड़को ने धम्माधम्म मचाया। धम्माधम्म उठने और ठहरने के बिना नहीं होता। यहाँ धर्मद्रव्य का काम है उठने में, चलने में निमित्त होना और अधर्मद्रव्य का काम है ठहरने में निमित्त होना।

पदार्थों की सन्मात्रता —भैया ! जरा सर्वव्यापी एक सिद्धान्त को मानने वालों के दोस्त बनकर थोड़ा उनकी ही सिफारिश करते हुएएक इस तत्त्व के बाबत सोचो और इस रूप से सोचो कि आखिरकार वे ऋषि भी तो जानते हैं, बुद्धिमान हैं, उन को यह बुद्धि क्यों हुई कि ये समस्त पदार्थ एक ब्रह्ममात्र हैं, दूसरे कुछ भी नहीं हैं। अब इसके बारे में सोचिए जितने जो कुछ पदार्थ हैं उन सब पदार्थों में सामान्य रूप से पाया जाने वाला धर्म एक अस्तित्व है, जिस अस्तित्व की रक्षा करने वाले वस्तुत्व आदिक शेष गुण हैं। उस अस्तित्व साधारणगुण की अपेक्षा सर्व विश्व सद्भावरूप है और उस सत्त्व के नाते चैतन्य व परमाणु में भी रंच अन्तर नहीं है किसी पदार्थ में परस्पर में रंच अन्तर नहीं है। क्योंकि सर्व सन्मात्र है। इस तत्त्व को दृष्टि में रखकर जब देखो तो सब कुछ एक सत्स्वरूप प्रतीत हुआ। उस सत् का नाम ब्रह्मा रख लो।

अर्थक्रियाकारिता की दृष्टि से भेद —यों सद्भाव की दृष्टि से सब कुछ एक ब्रह्म है, यहाँ तक तो यह दृष्टि चली। अब जैन सिद्धान्त तो अर्थक्रियाकारिता की दृष्टि से सत् के भेद करता है, पर सद्ब्रह्मवादिवों की मित्रता निभानी हो तो थोड़ा अर्थक्रियाकारिता के विषय को न रखकर इस दृष्टि से भेद करो कि जगत् में जो कुछ होता है वह षडात्मक होता है, नामात्मक, स्थापनात्मक, द्रव्यात्मक, क्षेत्रात्मक, कालात्मक और भावात्मक।

तत्त्व की षडात्मकता —जैसे सामायिक 6 प्रकार की है—नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्यसामायिक, क्षेत्र सामायिक, कालसामायिक और भाव सामायिक। सामायिक का नियम है बैठ गये सामायिक करने, बच्चे भी पास बैठे हैं बच्चे ऊधम मचा रहे हैं सो बच्चों को भी बैठाते जाते और माला भी फेरते जाते हैं—तो यह सब है नाम सामायिक। चलो नाम सामायिक तो किया। स्थापना सामायिक वह है कि सामायिक करते बने अथवा न बने, ऐसी बुद्धि हो कि मैं सामायिक कर रहा हूँ। नाम सामायिक वाले को कुछ फिक्र नहीं रहती, उन्हें तो केवल सामायिक का नाम पूरा करना है। पर स्थापना सामायिक वाले को अपनी पोजीशन का कुछ ध्यान रहता है। अगर टेढ़े-मेढ़े रद्दी आसन से सामायिक में बैठे हों, दो आदमी पास में आ जायें तो कमर जरूर थोड़ी ऊँची हो जायेगी, और आँखे बंद हो जायेंगी क्योंकि उन्हें स्थापनासामायिक करना है। द्रव्य सामायिक माला आदि लेकर करना अथवा सामायिक की विशेष तैयारी बनाना सो द्रव्यसामायिक है। क्षेत्रसामायिक—सामायिक की जगह में, क्षेत्र में सामायिक करना अथवा योग्य क्षेत्र में बैठने के भाव से सामायिक की बात बोलना, सो क्षेत्रसामायिक है, और समय पर सामायिक होना और समय का सामायिक के भाव से सामायिक बनाना, सो कालसामायिक है और भावपूर्ण सामायिक, समतापूर्ण सामायिक करना सो भाव सामायिक है।

षडात्मकता का तथ्य व अलंकार —हर एक पदार्थ में 6 बातें लगती हैं नाम भगवान, स्थापना भगवान, द्रव्यभगवान, क्षेत्र भगवान, काल भगवान और भाव भगवान। यों ही मान लो सारा विश्व सद्ब्रह्म है।

यद्यपि यह सद्ब्रह्म तिर्यक्सामान्य की अपेक्षा है, जाति में है, निगम रूप है, फिर भी एक उस साधारणजाति से बढ़ कर पहिले तो बनाया व्यक्ति का अलंकार फिर धीरे धीरे अलंकार की बात भूलकर व्यक्तिरूप ही बन गया। जैसे हम आप कुछ एक एक हैं इस तरह से उस सिद्धान्त में एक सद्ब्रह्मपरिपूर्ण एक व्यक्ति है, जो सर्वत्र व्यापक है। लो वह भी अब 6 रूप हो गया। नामसत, स्थापनासत, द्रव्यसत, क्षेत्रसत, कालसत, भावसत।

सद्ब्रह्म के षडात्मकपद्धति से विकल्प —नाम ब्रह्म क्या हुआ? इस प्रकरण के रहस्य को खोज के लिए समझना है। इसमें कुछ ठीक है, कुछ गैर ठीक भी है। नाम होता है चलाने वाला। कहते भी हैं लोग कि हमारा नाम चला दो। जब बुढ़िया मरती है और घर में धन हो तो मरते समय कह जाती है कि भाई ऐसा कार्य करना कि हमारा नाम चले। तो नाम चला करता है। नाम न हो तो चहलपहल सब खत्म। इतने भाई बैठे हैं, नाम किसी का न हो तो आप क्या कहेंगे? कैसे व्यवहार चलेगा, कैसे बुलावोगे? ओ ए करते रहोगे क्या? ओ ए यहाँ आवो? तो नाम जो है वह चलाने वाला होता है और चलाने का निमित्त है धर्मद्रव्य। तो उस एक व्यापक सद्ब्रह्म में नामब्रह्म, स्थापनाब्रह्म, द्रव्यब्रह्म, क्षेत्रब्रह्म, कालब्रह्म और भावब्रह्म निकला। यहाँ उस एकांतवाद में और अनेकान्तवाद में यह समन्वय और संधि का फैसला किया जा रहा है। कुछ अपन गम खा रहे हैं, कुछ अपनी ओर उसे ला रहे हैं। संधि में पूरी बात एक की नहीं हो सकती। यहाँ नाम ब्रह्म धर्मद्रव्य का हुआ।

स्थापना में क्या होता है? उसमें किसी चीज को बैठाला जाता है। जैसे मूर्ति में भावना से पार्श्वनाथ को फिट कर दिया, इसही का नाम स्थापना है ना। अपनी भावना द्वारा किन्हीं पदार्थों में अन्य पदार्थों को फिट कर ले सोई तो स्थापना है। ऐसी स्थापना का काम यह अधर्मद्रव्य करता है। इस जीव पुद्गल को एक जगह फिट कर देता है। ठहर जावो। स्थापना भी ठहराता है और अधर्मद्रव्य ने भी ठहरा दिया। यों यह अधर्मद्रव्य स्थापनासत या स्थापनाब्रह्म हुआ।

सद्ब्रह्म में द्रव्य क्षेत्र काल भाव के विकल्प —अब चलो—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। तो द्रव्यरूप तो पुद्गल में प्रसिद्ध ही है। ये पिण्डरूप नजर आते हैं, इसे धरो, फैंको, यह द्रव्य की मुख्यता से नजर आ रहा है और क्षेत्र की मुख्यता से नजर आता है आकाश। वह क्षेत्रात्मक है और काल रूप से देखा जाता हैं कालद्रव्य और भाव की मुख्यता से देखा जाता है जीव। इसलिए इसे भावब्रह्म में ले जाइए।

भावप्रधानता से जीव का परिज्ञान —जीव का ग्रहण, परिज्ञान, द्रव्य, क्षेत्र काल के उपाय से नहीं होता है। यह जीव कैसा है? यह जीव दो चार हाथ का लम्बा चौड़ा है कि नहीं? अरे आदमी तीन चार हाथ का तो लम्बा है और देखो एक पौन हाथ का चौड़ा भी है। तो जीव का प्रदेश इतना बड़ा है कि नहीं? है। यही जीव की लम्बाई समझिए। समझ गए आप? अभी नहीं समझ पाये। जीव कुछ ग्रहण में नहीं आया। भले ही 3.5 हाथ का लम्बा है, ऐसे मूर्तरूप में भी दृष्टि डालकर निहारें, 3.5 हाथ तक के आकार का फैलाव होता है, यह जीव है। लो अब भी ग्रहण में नहीं आया तो फिर ये जीव कैसा है? अरे यह जीव क्रोधी है, घमंडी है, लोभी है, इतना बताने पर भी ध्यान में नहीं आया, क्योंकि जानने वाला तो ज्ञान है और जानन में आ रहे हैं ज्ञान के दुश्मन क्रोध मन आदिक तो अब ये विकल्प कैसे ज्ञान बनेंगे? अच्छा

तो यों समझलो, यह जीव कैसा है? अनन्त पर्याय अनन्त गुणों का पिण्ड है। इतने कहने पर भी जीव ग्रहण में नहीं आया। जब यह बताया जाय कि जीव तो ज्ञानमात्र है, जाननमात्र है, जानन स्वरूप है। हाँ कोशिश करो। जानन कि से कहते हैं केवल जानन में राग द्वेष की बात नहीं होती, ऐसा जाननमात्र जीव है? ऐसा जब भावों की प्रधानता से जीव का स्वरूप बताया जाता है तो समझ में आता है कि ओह, यह मैं जीव हूँ।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव की प्रधानता में विशिष्ट अर्थ जाति का सुगम परिज्ञान- यह जीव भावप्रधान है और पुद्गल द्रव्यप्रधान है, आकाश क्षेत्रप्रधान है और काल कालप्रधान है। अब धर्म और अधर्म द्रव्य बचे सो ये अन्य चारों की अपेक्षा भी बहुत देर में समझ में आते हैं। सबसे पहले झट समझ में आता है पुद्गल। यह धरा है, सब आ गया समझ में और उस से कुछ देर में समझ में आता है जीव, और कुछ और श्रम कर के समझ में आता है आकाश। उस के बाद और श्रम करें तो काल भी समझ में आ जाता है, किन्तु ये धर्म और अधर्म बहुत युक्ति और श्रम से श्रद्धा से ज्ञान में आते हैं। इन धर्म और अधर्म रूप भी मैं नहीं हूँ। ज्ञान भिन्न है और यह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य भिन्न है। ऐसा जैन शासन में कहा है। अब काल के सम्बन्ध में भेदविज्ञान बताते हैं।

गाथा 400

कालो णाणं ण हवइ जम्हा कालो ण याणए किंचि।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति।।400।।

कालद्रव्य व ज्ञान में व्यतिरेक — काल ज्ञान नहीं होता है, क्यों कि काल द्रव्य जानता कुछ नहीं है। कालद्रव्य एक प्रदेशप्रमाण अथवा एक परमाणु प्रमाण अपने स्वरूप को लिये हुए लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर अवस्थित है और उस काल द्रव्य का परिणमन समय है। जिस से व्यवहार काल बनता है, अपने-अपने कालाणु पर अवस्थित जो पदार्थ हैं उन पदार्थों के परिणमन में वह समयपर्यायपरिणत कालद्रव्य निमित्त कारण है।

आलोकाकाश के परिणमन का बाह्य निमित्त —एक यहाँ शंका की जा सकती है कि आकाश द्रव्य तो बड़ा व्यापक है। लोकाकाश में भी वह आकाश है, लोक के बाहर भी वही आकाश है। तो लोकाकाश में रहने वाले कालाणु लोकाकाश के आकाश को परिणमाने में निमित्त कारण हो जायेंगे, ठीक है, पर लोकाकाश के बाहर जो अनन्त आकाश पड़ा हुआ है वह तो परिणमन के बिना रह जाएगा, क्योंकि वहाँ कालद्रव्य तो है नहीं। समाधान उसका यह है कि आकाश द्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है। जैसे एक अखण्ड बांस का एक छोर हिला देने पर सारा बांस हिल जाता है, उस सारे बांस को हिल जाने के लिये पूरे बांस भर में निमित्त के चिपकाने की आवश्यकता नहीं है, इसी प्रकार यह आकाश अखण्ड द्रव्य है, इसके परिणमन के लिये लोकाकाश में अवस्थित काल निमित्त है और उसका निमित्त पाकर आकाश जो परिणमा तो चूंकि वह अखण्ड है इसलिए समस्त आकाश परिणमा और वह परिणमन एक है, क्षेत्रभेद से

भिन्न नहीं है। जो परिणमन लोकाकाश में हुआ है वही का वही परिणमन सर्वत्र आकाश में है। इस तरह एक जगह अवस्थित काल द्रव्य आकाशद्रव्य के परिणमन का निमित्त कारण है।

गाथा 401

आयासंपि ण णाणं जम्हाऽयासं ण याणए किंचि।

तम्पा यासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति।।401।।

आकाश व ज्ञान में व्यतिरेक —अपने स्वरूप में परिणमता हुआ यह आकाशद्रव्य इस ज्ञान में ज्ञेय तो होता है, पर यह ज्ञान आकाश नहीं बन जाता है। आकाश-आकाश है और ज्ञान-ज्ञान है। ये दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, ऐसी जैन शासन में आकाश और ज्ञान के सम्बन्ध में भेदविज्ञान की बात बतायी गयी है। मैं आकाशरूप नहीं हूँ किन्तु ज्ञानमात्र हूँ, ऐसे भाव से इस आधारभूत आकाश से भी अपने को न्यारा कर के मैं ज्ञानमात्र के ही अनुभव में रहूं।

गाथा 402

णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।

तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं।।402।।

अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है। इस कारण ज्ञानतत्त्व और है और अध्यवसान बात और है।

अध्यवसान शब्द का तात्पर्य- अध्यवसान नाम है विभावों का। ज्ञानातिरिक्त जितने भी परिणमन हैं विभावरूप, वे सब अध्यवसान कहलाते हैं। अध्यवसान शब्द का अर्थ कितनी ही प्रकार से लगावो। अध्यवसान नाम निश्चय का भी है। वस्तुस्वरूप से अधिक निश्चय करना, सो अध्यवसान है, अधि+अवसान। जैसा है उस से भी ज्यादा ज्ञान कर लेना सो अध्यवसान है। पदार्थ जितने हैं, जो हैं, स्वतंत्र हैं, अपने रूप हैं, इससे आगे और बात तो नहीं है, पर और भी ज्यादा जान लेना, जैसे कि शरीर मैं हूँ, मकान मेरा हूँ, परिवार मेरा है, ये अधिक जानकारी हैं, ऐसी अधिक जानकारी का नाम अर्थात् ऐसे अधिक अध्यवसान का नाम अध्यवसान है। जितने हम हैं उतना ही माने, जितनी बात है उतनी ही माने तब तो भला है, उस से ज्यादा मानने चले उसही का नाम अध्यवसान है।

अध्यवसान शब्द का चरित अर्थ —अथवा अधिवसान अवसान नाम है खत्म हो जाने का, बरबाद हो जाने का। जिस में बरबादी हो उसका नाम है अध्यवसान। रागद्वेषादिक परिणाम अचेतन हैं। यद्यपि ये चेतन के विकारपरिणमन हैं पर ये स्वयं अचेतन हैं, चेतन नहीं हैं। विभाव भी होता है अचेतक गुण के

विकाररूप। जैसे श्रद्धा, चारित्र, आनन्द जो स्वयं चेतन का, समझने का, जानने का माद्दा नहीं रखता है, ऐसे गुण के विकार का परिणमन हो सकता है। जानन और देखन गुण ये विकार को प्राप्त नहीं होते, फिर भी इसके अपूर्णविकास का नाम भी विभाव है।

अध्यवसान से ज्ञान का व्यतिरेक —यहाँ यह कह रहे हैं कि रागद्वेषादिक अज्ञानमय परिणाम ज्ञान नहीं हो सकते। ज्ञान अन्य चीज है और अध्यवसान अन्य चीज है। अध्यवसान के स्वरूप के सम्बन्ध में इसी ग्रन्थ में पहले के अधिकारो में विस्तृत वर्णन आया है। यह कर्मविपाक की माया से उत्पन्न होते हैं। औपाधिक भाव हैं, अशुचि हैं, दु:ख रूप हैं, दु:ख के कारण हैं विरुद्धस्वभावी हैं। ये सब अध्यवसान परिणाम अचेतन हैं। यह जानते कुछ नहीं हैं। मैं अध्यवसान से भिन्न हूँ।

मोही जीव की पर्यायबुद्धता —इस मोही जीव की सबसे अधिक एकता इस विभावपरिणाम में है अथवा अन्य पदार्थ में तो एकता है ही नहीं। विभावपरिणाम में यह एकता कर रहा है अपने आप के स्वरूप का स्मरण न रहने से अथवा परिचय न रहने से यह अपने को नानारूप मान रहा है। जैसे कोई सिद्धान्त कहता है कि 'एकोहं बहु स्याम्।' यह ब्रह्म एकरूप है किन्तु जब ही इसने अपने आप में यह इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, सो यह नाना सृष्टियों रूप हो जाता है। इस बात को अपने आप में घटावो। यह मैं ज्ञायक एकस्वरूप हूँ, स्वरसत:, स्वभाव से जैसा हूँ, वहीं एक हूँ चैतन्यस्वभावमात्र, पर यह अपने को इस एकरूप नहीं समझ पाता। इस एक से विपरीत अन्य बहुरूप मानता है, वही इसका मर्म है। मैं यह शरीर हूँ, मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक काल का हूँ, अमुक मजहब का हूँ, इस घर का हूँ, इस गांव का हूँ, इस गोष्ठी का हूँ, इस प्रदेश का हूँ इत्यादि नाना प्रकार से अपने आप को मानता है और इसके फल में नाना इसकी गतियां हो रही हैं। अज्ञान को आत्मरूप माना तो इसके फल में यह अज्ञानी बनकर संसार में रुलता है।

ज्ञान और अध्यवसान का प्रकट कार्यभेद- अध्यवसान ज्ञान नहीं है। राग हुआ, सुहा गया। इस काल में भी ज्ञान कुछ काम कर रहा है, इसलिए यह जानने में कठिन हो रहा है कि वाह सुहा रहा है, जान रहे हैं तभी तो सुहा रहा है। तो सुहाना राग का काम है, और वह जानने को लिये हुए है, किन्तु वहाँ जितना जाननरूप परिणमन है वह तो है ज्ञान का कार्य और जितना अनजानन रूप परिणमन है वह है राग का कार्य। पर वह राग ही रहे और ज्ञान का कुछ परिणमन न हो, ऐसा तो कभी होता ही नहीं है यह साथ है इसलिए यह कठिन पड़ गया है कि हम यह जान सकें कि रागादिक अचेतन हैं, किन्तु स्वरूपदृष्टि के द्वार से हम इस बात को स्पष्ट जान सकते हैं कि रागादिक विभाव अन्य हैं, अचेतन हैं, यह मैं ज्ञान चेतन हूँ, रागादिक से विविक्त हूँ, इसके स्वलक्षण का निश्चय कर के यह निर्णय करना कि अध्यवसान भाव अन्य है और ज्ञान भाव अन्य है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, अध्यवसान नहीं हूँ। मैं फिर क्यों अध्यवसान में रमकर घात करूं ?

इस प्रकार शब्द, रूप, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, कर्म, अध्यवसान—इन से इस आत्मा को भिन्नपने से निश्चय कराकर अब वह ध्यान क्या है? ऐसा प्रतिपादन करते हैं।

गाथा 403

जम्हा जाणइ णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी।

णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं।।403।।

आत्मा शब्द का तात्पर्य – जब कि यह सब भाव इस जीव से भिन्न हैं, इस कारण यह जीव तो ज्ञायक है, परिज्ञानी है, क्योंकि यह ज्ञायकस्वरूप ज्ञानमय तत्त्व निरन्तर जानता रहता है। जैसे कोई पुरुष कभी चलता है, कभी नहीं चलता है। इस तरह यह आत्मा कभी जानता है, कभी नहीं जानता है ऐसा नहीं है, किन्तु यह निरन्तर जानता रहता है, किस ही प्रकार जाने, इस कारण इस जीव का नाम आत्मा रखा है। आत्मा कहते हैं, 'अतति सततं गच्छति इति आत्मा।' जो निरन्तर जानता रहे उसका नाम आत्मा है।

जाना और जानना, इन दोनों के प्रयोग में संस्कृत में प्राय: एक धातु आती है। गच्छति मायने जाता है और अवगच्छति मायने जानता है। थोड़ा उपसर्ग लगाकर जरा भेद डाल देते हैं, पर उस धातु में दोनों को बताने का भाव पड़ा है। अन्य अन्य भी गत्यर्थक जो धातुयें हैं वे सीधा जानन का भी अर्थ रखती हैं और कुछ अपने आप की समझ में भी ऐसा आता है कि कोई पदार्थ तो जाने का काम धीरे-धीरे करता है, किन्तु यह आत्मा तो बहुत जल्दी चला जाता है। आत्मा है ज्ञानमात्र। अभी यहीं बैठे बैठे ही बम्बई का ख्याल आ जाय तो हवाई जहाज को तो 5 घंटे लग जायेंगे किन्तु आत्मा को पहुंचने में पाव सेकण्ड भी नहीं लगता है, बम्बई पहुंच गया। तो यह आत्मा ज्ञान द्वार से बहुत तेज जाता है, ऐसा व्यवहार होने में भी कुछ यह बात ठीक बैठती है कि जाने और जानने – इन दोनों की मूल धातु एक है।

आत्मा का व ज्ञान का अभेद – यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। सो यह ज्ञान इस ज्ञायक से अभिन्न जानना चाहिए। ज्ञान का समस्त ही परद्रव्यों के साथ भेद है, यह पूर्णतया निश्चित हो गया। अब ज्ञान के बारे में ऐसा जानना कि यह एक जीवस्वरूप ज्ञान है, क्योंकि जीव चेतन है, ज्ञान और जीव भिन्न-भिन्न बातें नहीं हैं। कोई भी परमार्थभूत द्रव्य अर्थात् इकहरा पदार्थ मात्र स्वयं अपने लक्षणरूप ही होता है। जैसे कुछ स्कंधों में यह व्यवहार कर डालते हैं कि इस खम्भे में अमुक रूप है। तो ये खम्भादिक पदार्थ बहुत मिलकर एक द्रव्यपर्याय बने हैं। उसमें कुछ ऐसा लगता है कि यह सही है और इसमें रूप है। प्रथम बात तो यह है कि स्कंध में भी ऐसा भेद रूप का नहीं है। यह खम्भा है और इसमें रूप है यह व्यवहार में लगता है, पर परमाणु में ऐसा सोचना कठिन है कि परमाणु में अमुक रूप है वह इकहरा द्रव्य है, परमार्थ वस्तु है। वहाँ तो ऐसा लगता है कि रूपमात्र है परमाणु, मुर्तिकतामात्र है परमाणु। आत्मा कुछ अलग से कोई पदार्थ हो और उसमें ज्ञान आता हो, भरा जाता हो, ऐसा तो है नहीं। ज्ञान ही आत्मा है। जब से ज्ञान है तब से आत्मा है अथवा ज्ञानभाव का ही नाम आत्मा रखा गया है।

अलंकार की पद्धति से भी कथनभेद – वह ज्ञान कैसा है? सूक्ष्म है। यह ज्ञान कैसा है? अमूर्त है। यह ज्ञान कैसा है कि आत्मा से निरन्तर वृत्तियां उत्पन्न हो रही हैं। जिस रूप में आत्मद्रव्य को आप उपस्थित कर सकते हो उस रूप में इस ज्ञान को भी मैं उपस्थित कर सकता हूँ। ज्ञानमात्र भाव का नाम जीव है। लो अब चाहे जीव शब्द को कहो या ज्ञान शब्द को कहो। जैसे कुछ गुण्डे लोग ऊधम मचाने लगें तो कोई तो व्यक्ति का नाम लेकर कहते हैं कि अब गुण्डों ने ऊधम मचाया और कोई यों कहते हैं कि देखो कुछ अनिष्ट तत्त्वों ने ऊधम किया। बात एक ही पड़ी। पहिले हुआ पदार्थ रूप से कथन, अब हुआ भाव रूप से कथन। तो ज्ञान का कथन भाव रूप से है और जीव का कथन पदार्थरूप से है । जीव स्वयं ज्ञानस्वरूप है। जीव के ज्ञानरूपता है। इस कारण जीव से भिन्न कोई ज्ञान होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए।

आत्मा और ज्ञान के भेद का मन्तव्य – क्या कोई ऐसी शंका भी करता है कि जीव एक पूर्ण वस्तु है और ज्ञान उसमें ऊपर से लादा गया है, किसी का क्या ऐसा मंतव्य है? हाँ, एक सिद्धान्त ऐसा कहता है कि पुरुष का स्वरूप चैतन्य है, ज्ञान नहीं है। ज्ञान प्रकृति की तरंग है। आत्मा की वस्तु नहीं है और राग, द्वेष अहंकार – ये जीव से न्यारे हो जाते हैं तब मोक्ष मिलता है, इस ही भांति जब जीव से ज्ञान भी अलग हो जाता है तब इसे मोक्ष मिलता है ऐसाभी एक मंतव्य है। उनका कहना है कि जीव यदि ज्ञान का काम करे तो वह आपदा में ही पड़ेगा। उसे ज्ञान मैल सब दूर करना चाहिए और आराम से रहना चाहिए। यह है उनका सिद्धान्त।

ज्ञानस्वरूपता के अभाव में चैतन्यस्वरूप का अभाव – अब इस पर विचार करो—जानना कुछ है नहीं तब फिर जानना नाम किस बात का है? यह पुरुष चेतता है। कि से चेतता है? उस चेतने का रंग ढंग क्या है? यद्यपि जैसा हम लोग जानते हैं ऐसा जानना मेरा स्वरूप नहीं है। वह चेतने की शुद्ध वृत्ति नहीं है, ऐसे ज्ञान से हम दु:खी रहते हैं। पर यह ज्ञान का असली स्वरूप नहीं है। इसके साथ रागद्वेषादिक अनेक विभाव लग बैठे हैं, इस कारण वहाँ एक मिथ्या रूपक बन गया है। ये कल्पनाएँ ज्ञान का स्वरूप नहीं है। ज्ञान का स्वरूप शुद्ध जानन वृत्ति है। इस अशुद्ध ज्ञानस्वरूप को हम बोलते हैं लेकिन शुद्ध ज्ञान और इससे सूक्ष्म सामान्यरूप व्यापक कोई जानन होता है, इसका परिचय न हो तो यह कथन ठीक बैठता है, मेरे उपयोग में, किन्तु ऐसा तो है नहीं। ज्ञान न हो तो चेतने का स्वरूप भी नहीं रह सकता है। यह ज्ञान जीव ही है जीव से भिन्न कुछ ज्ञान है, ऐसी रंच शंका न करनी चाहिए।

ज्ञान की व आत्मा की समता –यह जीव ज्ञानमात्र ही है। न तो ज्ञान से कम है यह जीव और न ज्ञान से अधिक है यह जीव। यदि यह ज्ञान से कम हो अर्थात् ज्ञान तो हो गया बड़ा और जीव रह गया छोटा तो जितना यह जीव है उतने में तो यह ज्ञान है ना, पर इस जीव से बाहर भी जो ज्ञान पड़ा है उस ज्ञान का आधार क्या है? क्या कोई भाव आधारभूत द्रव्य के बिना भी हुआ करता हैं? नहीं। जब आधार नहीं है तो ज्ञान का अभाव होगा। यदि ज्ञान छोटा और जीव बड़ा है तो जितना यह ज्ञान है वहाँ तो जीव है ही क्योंकि जीव बड़ा है, ज्ञान छोटा है। तो जहाँ तक ज्ञान है वहाँ तक के जीव में तो हमें शंका नहीं है

पर उस ज्ञान से आगे जो जीव और फैला हुआ है जहाँ कि ज्ञान नहीं है उस जीव का स्वरूप क्या है? क्या स्वभाव के बिना भी पदार्थ रहा करता है? नहीं। इससे यह सिद्ध है कि यह जीव ज्ञानमात्र है।

ज्ञानभावना से आत्मनिर्णय —अच्छा अब जरा प्रयोग करके देखो अपने आप में यह मैं यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, जो जाननस्वरूप है उतना ही मैं हूँ ऐसी बार बार भावना बनाए और इस ज्ञानमात्र को अपनाए याने यह मैं आत्मा हूँ, इस तरह का अनुभव करे तो समग्र आत्मा जो कुछ है एक साथ हमारे ग्रहण में आ जाता है। जैसे हम किसी पुरुष को देखते हैं तो केवल रूप ही तो दिखता है, किन्तु रूप को रूप में देखने पर हमें केवल अपने आप में निर्णय उस के बारे में केवल रूप का नहीं होता है किन्तु उस पूरे मनुष्य का निर्णय हो जाता है। ज्ञानमात्र रूप से आत्मा का अनुभव किया जाने पर फिर आत्मा का कोई तत्त्व छूटता नहीं है, समग्र वस्तु ग्रहण में आ जाती है। इस ही कारण एक ज्ञानभाव को अपनाने से हमारे भविष्य के सारे निर्णय हो जाते हैं।

ज्ञानानुभूति की पद्धतिपर अपनी सृष्टि की निर्भरता —हम किसी परवस्तु के वियोग होने पर इस ज्ञान को इस रूप से अपनाते हैं कि हम दु:खी हो जाते हैं और कोई उस ही वियोग में अपने ज्ञान को इस रूप से अपनाते हैं कि उन्हें सम्यक्त्व हो जाता है। ज्ञान को अपनाने की कला में ही हमारी सारी सृष्टि का निर्णय है। बाहर बाहर ही बैठने पर हमारी सृष्टि का निर्णय नहीं है, इस ही बात को अब आगे कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस गाथा में कह रहे हैं—

गाथा 404

णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्मंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पब्बज्जं अब्भुवंति बुहा ।।404।।

ज्ञान का सम्यक्त्व —ज्ञान जीव से भिन्न नहीं है, जीव ज्ञानरूप ही है इसलिए सर्वव्यवसाय करके इस ज्ञानमात्र आत्मतत्व को देखें। इस उपाय से, यहाँ के विपरीत आशय सब दूर हो जाते हैं। ज्ञान में विपरीत आशय का दूर हो जाना, स्वच्छता का होना यही सम्यग्दर्शन है। पानी में स्वच्छता गुण है, उस स्वच्छता का विकार परिणमन है और स्वभाव परिणमन है। स्वच्छता का विकार परिणमन तो विधिरूप से समझ में आता है कि इसमें मैल है, कीचड़ है, गंदगी है, पर स्वच्छता का जो स्वभाव परिणमन है उसे विधिरूप में क्या कहा जाय? वहाँ यही कहना होता है कि उस गंदगी का न रहना ही स्वच्छता है। इसही प्रकार आत्मा में एक श्रद्धा गुण है, सम्यक्त्वगुण है इसका शास्त्रपरम्परागत नाम है सम्यक्त्व गुण। उस सम्यक्त्व गुण की दो परिणतियां होती हैं—एक मिथ्यात्वरूप परिणमन और एक सम्यक्त्वरूप परिणमन। सो मिथ्यात्वरूप परिणमन तो विधि रूप में समझाया जा सकता है। खोटा आशय रहे उसे मिथ्यात्व कहते हैं। ये समस्त परपदार्थ भिन्न-भिन्न हैं और उन्हें अपना मानने का आशय हो तो इसे मिथ्यात्व कहते हैं। किन्तु सम्यक्त्व को समझाने के लिए विधि रूप में कुछ शब्द नहीं है। वहॉ इस प्रकार बताया जायेगा कि जहाँ विपरीत अभिप्राय का अभाव हो गया है ऐसी शुद्धता का नाम है सम्यग्दर्शन। गंदा जल और

साफ जल। इसी प्रकार मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। पानी का साफ हो जाना इसका नाम है साफ जल, निर्मल जल। यों ही आत्मा में मिथ्यात्व का मल दूर हो जाय, इसका नाम है सम्यक्त्व।

ज्ञान के आश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का स्वरूप —सम्यक्त्व के इसी मर्म के कारण अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का जो लक्षण किया है उसमें उत्पादव्ययध्रौव्य जैसी स्थिति बतायी है। विपरीत अभिप्राय को दूर करके और निज तत्त्व को निर्णीत करके इस ही निज तत्त्व में स्थिरता से ठहर जाना सो रत्नत्रय है। इसमें तीन अंश हैं। विपरीत अभिप्राय को दूर करना यह तो हुई सम्यग्दर्शन वाली बात, जो कि निषेध रूप में व्यय रूप में समझाया है और भली प्रकार निश्चय करके निज तत्त्व का निश्चय करना सो ज्ञान, इस अंश को उत्पादरूप से बताया है यह है सम्यग्ज्ञान वाली बात, तथा उस ही में स्थिर हो जाना यह है स्थिति वाली बात। इसे सम्यक् चारित्र कहा है।

ज्ञान के ही संयमपना व श्रुतपना – यह ज्ञान ही विपरीत अभिप्राय से रहित स्वरूप में देखा जाय तो यही हुआ सम्यग्दर्शन और यह ज्ञान जैसा कि सम्यग्दर्शन में देखा गया है उस ही रूप से ज्ञान का ज्ञान बनाए रहना, यही हुआ संयम। सो ज्ञान ही संयम हुआ और श्रुत, आगम, अंगपूर्ण श्रुत ये सब क्या बाहर है? पाथी पन्नों का नाम अंगसूत्र नहीं है है। जो शब्द बोले जाते हैं उन शब्दों का नाम अंगसूत्र नहीं है, किन्तु एक विशिष्ट प्रकार का जो अवबोध है, जिस को शब्दों द्वारा समझाया गया है, वह विशिष्ट बोध ही ज्ञान है, श्रुत है, सूत्र है। यहाँ ज्ञानदेव की भक्ति में सर्व कुछ ज्ञान में ही समाया हुआ है। यह महिमा बतायी जा रही है।

भक्त को प्रभुता के विराट् दर्शन —महाभारत में एक प्रकरण आया है कि अर्जुन का एक संदेह दूर करने के लिए कि मैं ही भगवान हूँ, मैं ही विराट् रूप हूँ, कृष्ण ने अपना विराट् रूप दिखाया और उस विराट में सारा लोक समा गया। उसका मर्म क्या है? कि वह विराट् रूप अर्जुन जैसे स्वच्छ हृदय वाला (अर्जुन कहते हैं चांदी को) जैसा चांदी का स्वच्छ रूप है ऐसे स्वच्छ आशय वाले भक्त अर्जुन को काम, क्रोधादिक के ध्वस्त करने में कृष्ण रूप लेकर अर्थात् कषायध्वंसिता को लेकर उपस्थित हुआ यह ज्ञान देव अपना विराट् रूप दिखा रहा है। यह ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है, यह ज्ञान ही संयम है, यह ज्ञान ही सूत्र है।

लोकव्यवहार में भी सर्वत्र ज्ञान की विराट्ता —अरे लोकव्यवहार में भी इस ज्ञानदेव की विराट्ता निरखो, ज्ञान ही कुटुम्ब परिवार है, ज्ञान ही लाखों और करोड़ों का वैभव है, ज्ञान हीसम्मान, अपमान, प्रशंसा, निन्दा, भला, बुरा सब कुछ है। बाह्य पदार्थों की परिणति से यह ज्ञान लखपति करोड़पति नहीं बना है किन्तु ज्ञान में जब जब यह विकल्प समा जाता है कि मैं लखपति हूँ, मैं करोड़पति हूँ, तो इस विकल्प से वह लखपति, करोड़पति बना है। यह बात आश्रयभूतपने की अवश्य है कि हो पास में पुद्गल का ढेर तो उसका आश्रय करके यह विकल्प बना है कि मैं लखपति और करोड़पति हूँ। कुटुम्ब परिवार बाहर नहीं है, यह निश्चय से व्यवहार की बात बता रहे हैं, लोक व्यवहार की बात है। ज्ञान में विकल्प बना हो कि मैं कुटुम्ब वाला हूँ तो वह 'कुटुम्ब वाला हूँ' ऐसा अनुभव करता है और ज्ञान में यह विकल्प

न बना हो तो बाहर में कितने ही कुटुम्ब पड़े हों वह तो कुटुम्ब वाला अपने को अनुभव नहीं करता। ज्ञान का विराट्रूप देखते जाइए। कहीं भी जाय यह ज्ञान, अपने विराट्रूप की प्रकृति को नहीं छोड़ता है।

ज्ञान का विस्तार – मेरा तो मेरे ज्ञान भाव से अतिरिक्त जगत में अन्य कुछ नहीं है। किसी परपदार्थ में भ्रम करके कुछ विकल्प बनाऊँ तो वह भी ज्ञान के विराट् रूप की एक कला है, कहीं असुहावनी कला है, कहीं सुहावनी कला है, पर ज्ञानदेव सर्वत्र अपने विराट् ज्ञान रूप में समाया हुआ कभी सुखी होता है, कभी दु:खी होता है और कभी शुद्ध आनन्द रस में मग्न होता है। हमारा यह विराट्रूप कहीं तो लोक में दूसरे की निगाह में फैलता हुआ व्यक्त होता है और कहीं अपने आप में बुझता हुआ, संतुष्ट होता हुआ, ज्ञानानन्दरस मग्न होता हुआ अपने स्वाभाविक विराट्रूप को ग्रहण करता है। ज्ञान विषय नहीं है, विषयभूत बाह्य पदार्थ ज्ञान नहीं है, किन्तु यह ज्ञानस्वरूप अपने आप उस विषयविषयक रूप को बनाता है। लोकव्यवहार में भी इसकी विराट्रूपता है और अपने आप के धर्म-पथ में भी इस ज्ञान की विराट्रूपता है।

स्वच्छता का उपाधिनिषेधमुखेन विवरण —ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है, ज्ञान ही स्वच्छ जल है। कूड़ा कचड़ा हट गया ऐसे स्वच्छ जल में वह स्वच्छता हाथ पर रख कर बताई नहीं जा सकती। वहाँ तो यही दिखता है कि जो अब यह केवल जल रह गया है, यही इसकी स्वच्छता है ।

अनादि की भूल और अचानक झक्काटा —भैया ! इस जीव पर मिथ्यात्व का विकट भार अनादिकाल से चला आ रहा है। अपने आप की कुछ सुध भी नहीं रही। किस-किस बाह्य पदार्थ को यह अपनाता रहा, आज भी बता नहीं सकता। अनन्त शरीर पाये और अनन्त भवों में परिजन, बच्चे, मित्र, अचेतन समागम सर्व कुछ मिला, इस 343 घनराजू प्रमाण लोक में प्रत्येक प्रदेश पर यह जन्मता रहा, मरता रहा, अनेक कर्मों के बीच पड़ा पड़ा यह पर की ओर दृष्टि बनाकर अपने को भूला रहा। कितना मिथ्यात्व का इस पर बोझ था? जहाँ ही ज्ञानानन्दरस मात्र अमूर्त भावस्वरूप एक निज तत्त्व का श्रद्धान हुआ कि अब झक्काटा हुआ, वह सब अंधेरा विलीन हो गया, एकदम स्पष्ट दिखने लगा कि सर्व परपदार्थ मुझ से अत्यन्त भिन्ना हैं, किसी भी परपदार्थ का मुझ से रंच मात्र सम्बन्ध नहीं है, सब जुदे हैं। जहाँ यह प्रकाश हुआ कि मोह समाप्त हुआ। मोह जहाँ नहीं रहा ऐसा जो ज्ञान का परिणमन है उसका ही नाम है सम्यग्दर्शन ।

ज्ञान की संयमता का वर्णन —संयम की बात भी देखो। इस जीव के साथ अनादि से चले आ रहे जो क्रोध, मान, माया, लोभ हैं, इन कषायों में से बदल बदल कर कभी कोई किसी कषाय में, कभी कोई किसी कषाय में यह बर्तता चला आ रहा था, सो जिस ही इस ज्ञानभावना के प्रसाद से मोह विलय को प्राप्त हुआ था उस ही ज्ञानभावना के प्रसाद से ये कषायें भी पृथक हो जाती हैं, तो वहाँ ज्ञान ज्ञान में स्थिर हो जाता है। अब वहाँ संयम नाम की चीज कुछ अलग से है भी क्या? अरे ज्ञान, ज्ञानरूप स्थिर हो गया ऐसे ज्ञान की इस महिमा को ही संयम कहा जाता है। ज्ञान का प्रसाद अतुल है। कोई भव्य पुरुष अपने को केवल ज्ञान मात्र ज्ञानमात्र ही भाता चला जाय तो इस ज्ञानभावना के प्रसाद से वह ज्ञानरस का अनुभव करता हैं और वहाँ जो अतुल आनन्द प्रकट होता है उस आनन्द के स्वाद से वह

समझ लेता है कि अब मुझे इस कार्य के अतिरिक्त कुछ भी कार्य करने को नहीं रहा। यह ज्ञान ही संयम है।

ज्ञान में ही ज्ञेय के सद्भाव का व्यवहार —यह ज्ञान ही अंगपूर्व रूप सूत्र है, और क्या कहा जाय? यह मैं तो अपनी ओर से अपनी बात को देखकर यह निर्णय करता हूँ कि जो कुछ भी जगत में बताया जाता है—चाहे सूक्ष्म धर्म अधर्म द्रव्य हो, पदार्थ हो और चाहे स्थूल पुद्गल स्कंध हो, पर्याय हो, सब कुछ ये ज्ञान ही है। यह ज्ञान की महिमा के प्रकरण में और इस संचालक ज्ञान की कला में यह बात कही जा रही है कि न मुझे पता पड़ता तो मेरे लिये कहीं कुछ न था। स्थूल पदार्थ के सम्बन्ध में तो यह ज्ञानरूपता की बात इस प्रकरण में कुछ देर में आयेगी क्योंकि आंखों तो देखते हैं कि यह पड़ी है भींत, यह पड़ा है खम्भा, किन्तु सूक्ष्म धर्म, अधर्मद्रव्य के सम्बन्ध में जब कुछ चर्चा करते हैं तो हमें दूर में कहाँ क्या नजर आता है, और समझ में खूब आ भी रहा है कि लोकाकाश में व्यापक एक अमूर्त धर्मद्रव्य है, पर बाहर यह विशद नहीं हो रहा है, भीतर में ही यह स्पष्ट नजर आ रहा हैं। लो यह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य भी ज्ञान स्वरूप है।

पुण्यपापरूप ज्ञानपद्धति — अथवा पुण्य और पाप ये और बात हैं क्या? ज्ञान मात्र स्वरूप वाला यह आत्मस्वरूप अपने ज्ञान को किस रूप परिणमाये तो वहाँ पाप होता है और अपने ही ज्ञान को किस रूप परिणमाये तो वहाँ पुण्य होता है। ये सब बातें भी इस ज्ञान में भरी हुई हैं।

प्रव्रज्या की ज्ञानमयता — यहाँ प्रव्रज्या और दीक्षा भी ज्ञान है। हो इस भूले भट के ज्ञानी ने जब अपने ज्ञानस्वरूप को संभाला तो यह उत्कृष्ट रूप से अपने आप में चला, इसी ही काम का नाम प्रव्रज्या है। दीक्षा को प्रव्रज्या कहते हैं। उत्कृष्ट रूप से जो व्रजे व्रजधातु गमन करने के अर्थ में है व्रज गतौ। बाह्य दीक्षा कोई ले रहा हो, नग्न हुआ, कमण्डल लिया, पीछी लिया ये बाह्य बातें बन गयी हैं, मगर जिस भव्य आत्मा के अन्तर में ज्ञान की ज्ञान में प्रव्रज्या के कारण बाहर की ये बातें बन रही हैं उस के लिए तो भली बात है किन्तु जहाँ ज्ञान की ज्ञान में प्रव्रज्या नहीं बन रही है और बाह्य में यह सब बातें बन रही है, वह सब एक व्यवहारिक बातें हैं। उसे परमार्थ से प्रव्रज्या न कहेंगे।

वैराग्य का आतिथ्य — भला एक मोटीसी बात तो बतावो—किसी को वैराग्य या मुनि दीक्षा लेने का भाव पहिले से तिथि तय करके हुआ करता है क्या कि अब फलाने साहब फलाने दिन वैराग्य धारण करेंगे, सातवें गुणस्थान में आवेंगे फिर छटे में आवेंगे दीक्षा लेंगे। चारों ओर निमंत्रण गए, लोग जुड़े, बड़े ठट्ट लग गए, अब क्या होगा? ये साहब वैराग्य धारण करेंगे। अरे वैराग्य आता है चुप के से, कोई न जाने तब। तिथि दिन समय मुकर्रर करके वैराग्य दिन नहीं आया करता है। इसी कारण पुराणों में जिन-जिनने दीक्षा ली है उन सब ने अचानक ली है। महीना भर या साल भर पहले से तिथि, दिन, समय मुकर्रर सब जगह निमंत्रण भेज करके कि इस समय दीक्षा ली जायेगी, ऐसा हमें कहीं किसी ग्रन्थ में पढ़ने को मिला नहीं है।

वैराग्य के आमंत्रण - पत्रिका की अधीनता का अभाव—कोई ऐसा कथन भी हो कहीं वैराग्य का विचार बताने वाला तो वह वैराग्य के लिये तिथि नियत का कथन न होगा किन्तु अपने झंझटों वाली बात की अन्दाजिया व काल्पनिक तिथि हुई होगी। हम इन झंझटों से इतने दिन में निपट पायेंगे, सोच लिया

होगा कि हम तीन चार महीने बाद इस बात को करेंगे। शोरगुल करके दुनिया को आमंत्रण देकर यह बात नहीं होती। यह तो बड़े पुरुषों की विलक्षणता है कि अचानक ही वैराग्य हुआ और 10 मिनट में या 10 घंटे में ही सारा ठट्ठ जुड़ जाय। जैसे मरने की कोई तिथि नहीं बताता, पर बड़े पुरुष मरें तो 24 घंटे में ही लाखों का समुदाय जुड़ जाता है। हुआ भी आप के यहाँ ऐसा गांधी, नेहरू गुजरे कि 24 घंटे में ही लाखों की संख्या जुड़ गई। तीर्थंकर प्रभु जिस समय दीक्षा लेते हैं, पता ही नहीं पड़ता लोगों को कि क्या होगा? सभा में बैठे थे। नीलांजना का नृत्य हो रहा था, बड़ी मस्ती से सब देख रहे थे, अचानक ही वैराग्य हो गयाऔर बड़े पुरुष थे ना, सो थोड़े ही समय में लाखों की जमात जुड़ गई। जुड़ जावो पर यहाँ यह बात कही जा रही है कि प्रव्रज्या ज्ञान ही का नाम है और ज्ञान का इस रूप में परिणम जाना यह पहिले से तिथि मुकर्रर करके नहीं होता। ज्ञान ही प्रव्रजा है।

ज्ञान की संभाल में सर्वस्व संभाल — ऐसे ज्ञान का समस्त पर्यायों के साथ की अभिन्नता निश्चय से समझ लेना चाहिए, यह ज्ञान सर्व विषयों से जुदा है और अपने आप के अन्तर की रत्नत्रय की कलावों से अभिन्न है। ज्ञान की संभाल में सब संभाल जाता है। तप, व्रत, रत्नत्रय, समिति, गुप्ति, सब कुछ, इस ज्ञान की संभाल से ही संभालते हैं। एक ज्ञानभाव को संभाला और बाहरी क्रिया करतूत मन, वचन, काय की करता रहे तो वह प्रव्रज्या नहीं है और वह साधुता भी नहीं है। इस प्रकरण में यह बात कही गयी है कि जो तुझ से भिन्न हैं वे सब अहित रूप हैं, जो हितरूप हैं वे सब तुझ ज्ञानमात्र से अभिन्न हैं, वे सब तेरे हितरूप हैं। तू हित की खोज बाहर मत कर, अपने आप में अपने आप की ही रुचि करके अपने आप के सिवाय अन्य सब को भुला करके अपने आप के ज्ञानरस में मग्न हो तो तुझ में अपने आप के सर्वविलाश विकास के चमत्कार अनुभूत होंगे और तू सर्व प्रकार के संकटों से मुक्ति पायेगा।

भेदाभेद का यथातथ्य अथवा त्रिदोषता का अभाव — इस प्रकार समस्त परद्रव्यों से भिन्न रूप से और समस्त ज्ञान दर्शन आदिक जीवों के स्वभाव में अभिन्न रूप से इस आत्मतत्त्व को देखना चाहिये और ऐसे लक्षणों से पहिचानना चाहिये जिन में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का दोष न हो। जीव का निर्दोष लक्षण क्या बना है? जीव में धर्म बहुत से पाये जाते है। साधारण धर्म से पदार्थ का लक्षण नहीं बनता और साधारणासाधारण धर्म से भी पदार्थ का लक्षण नहीं बनता, किन्तु जो अपनी जाति में तो साधारण रूप से पाया जाये और भिन्न अचेतन में न पाया जाय वहाँ असाधारण हो, ऐसे लक्षण से पदार्थ की पहिचान होती है।

अव्याप्त के लक्षणत्व का अभाव — जीव का लक्षण राग नहीं है, क्योंकि राग समस्त जीवों में नहीं पाया जाता है। जो अपनी समस्त जातियों में साधारण रूप से रहे और अन्यत्र रंच भी न रह सके उसे लक्षण कहते है। यह राग यद्यपि इस जीव में पाया जाता है और जीव को छोड़कर अन्य पदार्थों में कभी नहीं पाया जाता है, फिर भी समस्त जीवों में साधारण न होने से अर्थात् वीतराग, मुक्त जीवों में राग नहीं पाया जाता। सो राग जीव का लक्षण नहीं है पदार्थ का लक्षण वह है जो पदार्थ में शाश्वत रह रहा हो। जीव का लक्षण अमूर्तिकता भी नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि जीव अमूर्त है और जीव के अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी तो अमूर्त हैं इस कारण अमूर्तपना जीव का लक्षण नहीं है। जो जीवादिक सर्व

परद्रव्यों से भिन्न रूप से रहे, किसी परद्रव्य में न रहे और जीव जीव में सम रहे बराबर एक समान रहे उसे जीव का लक्षण कहा जायेगा।

जीव का निर्दोष लक्षण — जीव का लक्षण है ज्ञान। ज्ञान सामान्य सब जीवो में पाया जाता है। ज्ञानविशेष की बात नहीं कही जा रही है कि जैसा हम जानते हैं वैसा जानना जीव का लक्षण हो किन्तु ज्ञानस्वभाव, जिस का आश्रय कर करके ज्ञान की वृत्तियां अर्थात् जानन प्रकट होता है, उसे जीव का लक्षण कहा है। यह ज्ञान जीव को छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं रहता है और समस्त जीवों में रहता है। ऐसे अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से दूर रहने के स्वभाव वाले चित्स्वरूप आनन्दमयी आत्मतत्त्व को देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त पुण्यरूप अथवा पापरूप शुभ अथवा अशुभरूप जितने भी परिणमन हैं यह परिणमन सब स्वरसत: नहीं है। वे सब परपदार्थ का निमित्त पाकर विभाव रूप है। स्वयमेव ही ज्ञान स्वरूप में ज्ञान गमन करे, ऐसी दीक्षा को भव्य पुरुष ग्रहण करता हा। दीक्षा वास्तव में निज ज्ञानरूवरूप में जो गमन करना, इस ही का नाम है प्रवज्या।

अपने अपराध के होने पर बाह्यसाधनों का प्रभुत्व — कर्म का बंधन, कर्म का निर्जरण इस जीव के भाव का निमित्त पाकर होता है। जो जीव अपने आप के ज्ञानस्वभाव में गमन करता है तो ये पर लोग मेहमान परबिरादरी के लोग इन की हिम्मत इतनी नहीं हो पाती है कि वे इसके साथ अर्थात् जहाँ उपयोग जाय वहाँ ये भी पहुंच जायें अर्थात् बंधन हो जाय, ऐसी परपदार्थों में हिम्मत नहीं है। ये बाहर ही बाहर रह कर उपद्रव के निमित्त होते हैं। जैसे कोई पुरुष बाहर से घर आ रहा है तो जब तक बाहर है तब तक रास्ते में प्राय: कुत्ते भोंकते हैं, छेड़ते, परेशान करते हैं। जैसे ही उसका मकान आया, दरवाजे में घुसा तो वे कुत्ते विवश होकर लौट जाते हैं। जब यह उपयोग बाहर चलता फिर रहा है तो ये कर्म, विधि उपद्रव करते हैं, बंधन होते हैं, लगे रहते हैं, किन्तु जैसे ही यह उपयोग इस सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूप के महल में प्रवेश करता है तो यह द्रव्यकर्म फिर विवश होकर रह जाता है।

पुण्य पाप की अटक — पुण्य और पाप भावों में जिन की अटक है, जो उन को आत्मरूप मानते हैं, उन्हें हितरूप मानते हैं, उनके अभी द्रव्यकर्म की भी उलझन यथावत् बनी हुई हैं। ज्ञानी जीव के भी पुण्य भाव होता है, किन्तु पुण्य भाव में आत्मीयता नहीं करता है। पुण्यभाव को हितरूप मानने का अर्थ यह है कि उसे आत्मरूप मानते हो। हितरूप तो आत्मतत्त्व है। औपाधिक भाव हितरूप नहीं है किन्तु जो शुभ भाव पहले के अहित को बचाकर होते हैं ऐसे भाव को हितरूप कहा जाता है। जैसे 104 डिग्री बुखार से पीड़ित मनुष्य 100 डिग्री बुखार में आ जाय तो वह अपने को स्वस्थ मानता है। कोई पूछे अब कैसी है तबीयत है तो वह कहता है कि अब तबीयत अच्छी है। परमार्थ से अब भी 2 डिग्री बुखार है। इस ही प्रकार कितने-कितने कठिन पापों से निकलकर पुण्य रूप भाव में आये, जहाँ संक्लेश नहीं है किन्तु खेद अवश्य है। उस भाव को हितरूप यों कहा जाता है कि विषय कषाय पापों के परिणाम से कुछ बरी हुए हैं।

परसमय का वमन — भैया ! परमार्थत:रागभाव जब तक है तब तक इस जीव का स्वास्थ्य उत्तम नहीं कहा जा सकता। अत: पुण्य पाप शुभ-अशुभ भाव रूप परसमय का उद्वमन करते हुए स्वसमय का ग्रहण करना चाहिये। वमन की हुई चीज फिर ग्रहण में नहीं ली जाती है उसी तरह विभाव भाव को ऐसी

दृढ़ता से आत्मीयरूप मान लेना कि फिर ग्रहण न किया जाय, यही इसका वमन है। अब किसी भी विभाव को आत्मरूप नहीं माना जाता है। मान ले तो वह ज्ञानी नहीं रहेगा। जैसे कोई वमन किये हुए को फिर से ग्रहण कर ले तो वह स्वस्थ दिमाग वाला नहीं रहा, पागल की गिनती में आ गया इस ही तरह पुण्य पापरूप समस्त विभावों को अनात्मीय मानकर फिर कोई यदि आत्मीय मान ले तो वह अब ज्ञानियों की गोष्ठी में नहीं रहा। वह अज्ञानी हो गया।

प्रव्रज्या और अप्रव्रज्या — यह प्रव्रज्या इस जीव के स्वयमेव अंतरंग में होती है। उस प्रव्रज्या रूप को प्राप्त करके अब दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित रहने रूप स्वहित की प्राप्ति करो। इस जगत में चारों ओर सब क्लेश ही क्लेश हैं, क्लेश बाहर नहीं है किन्तु जहाँ यह आत्मा अपने स्वरूप से चिगता है और बाह्य पदार्थों में इष्ट अनिष्ट रागद्वेष भाव को करता है तो यह क्लेश में पड़ जाता है। ऐसे निर्बाध स्वरूप महल में विराज कर फिर जहाँ आग पानी बरस रहा हो, सो इस बाहर के मैदान में निकले तो उसे कौन विवेकी कहेगा? बाहर घोर वर्षा चलती है जिस वर्षा में आग भी बरसती है और पानी भी बरसता है, पानी तेज बरस रहा है उसी बीच में जब आग बरस जाती है तो जिस पर वह आग गिरती है वह मनुष्य या पशु मर जाता है। तो ऐसे बड़े तूफान में आग पानी बाहर बरस रहे हैं, बिजली तड़क रही है, गाज गिर रही है, ये सब उपद्रव जहाँ हो रहे हो वहाँ यह भागने लगे तो उसकी बरबादी का ही समय समझिये। ऐसे ही ज्ञानानन्द करि परिपूर्ण निज आत्मतत्त्व के महल में सुख शांति से विराजने की बात रहती है, फिर भी ऐसे आराम को छोड़कर रागद्वेष इष्ट अनिष्ट कल्पनावों के द्वार से इन विषय कषायों के पानी और बिजली में कोई भागने लगे तो वह विवेकी नहीं है, उसकी बरबादी निकट है।

आत्मा की ज्ञानघनता – अपने आप के दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप में स्थिर होना यही है मोक्षमार्ग। इस ही मोक्षमार्ग को अपने आप में ही परिणत करके देखे अपने अन्तर में विराजमान परमार्थरूप एक इस शुद्ध ज्ञानस्वभाव को, जो ज्ञानगुणभाव को लिए हुए है। इस आत्मा में ठोस ज्ञान पड़ा है। ठोस कहो, घन कहो एक ही अर्थ है। इसका अर्थ वजन नहीं है किन्तु इस चीज के अतिरिक्त अन्य चीज को न छूना, इसका ही नाम ठोस है, घन है। एक ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भाव, अज्ञानभाव, अज्ञान पदार्थ इसमें कुछ नहीं है। यह तो ज्ञान ज्ञान से भरा हुआ है। अन्य सब धर्म जो बखाने जाते हैं वे इस ज्ञान धर्म की सिद्धि के लिये बखाने जाते हैं। हमें सूक्ष्मत्व गुण से क्या पड़ी है; पर ज्ञान ही स्वरूप से सूक्ष्म है। कैसा है स्वयं? जैसा है सो है।

भेदकथन की आवश्यकता —जब हम ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का निरूपण करने बैठते हैं तो गुणभेद हो जाता हैं, किन्तु अनुभवन में पहुंचने के लिये तो आत्मा के सम्बन्ध में एक ज्ञानभाव का ही आराधन चला करता है। वह ज्ञान कैसा है? ज्ञायक स्वभाव क्या है? वह आत्मस्वरूप क्या है? उसकी समझ जिन्हें है उन्हें तो वहाँ भी एकत्व नजर आता है किन्तु जब वह दूसरे को समझाने के लिए पुरुषार्थ करता है तो उसमें ही भेद करके और ऐसा भेद करके जो उस एकत्व का वर्णन कर सके, कहा गया है। इसही का नाम गुणभेद है। उन गुणों की भी जब समझ नहीं बैठती है तो गुणभेद से आगे बढ़कर पर्यायभेद में उतरकर समझाया जाता है। जगत के जीव सब व्यवहार के लोलुप हैं। व्यवहार में जो बताया गया है उसको छोड़कर अन्य कुछ भी पहिचाना ही नहीं गया, तब उन्हें आत्मस्वरूप समझने की पद्धति यह है

कि पहिले पर्यायमुखेन इस आत्मतत्त्व का वर्णन कर दिया जाय। जब पर्यायमुखेन यह जीव जीव के सम्बन्ध में विशेष परिचित हो जाता है तब उसे उन पर्यायों के आधारभूत जिस का कि परिणमन हुआ है उस आधारभूत शक्ति के परिज्ञान की प्रमुखता बनाये तब उस ज्ञान में यह पर्यायरूप ज्ञान विलीन हो जाता है। फिर भेदरूप अभेदरूप से जाने गये ये गुणपुञ्ज इन के स्रोतभूत एक अखण्ड जीव में विलीन हो जाता है और वह योगी पुरुष उस समय केवल ज्ञानभाव को ग्रहण करता है।

अद्वैतरूपता – भैया ! परभाव के त्यागरूप और अपने आप के सब कुछ ग्रहण रूप इस आत्मतत्त्व को निरखना है अथवा न वहाँ किसी का त्याग है, न वहाँ किसी का ग्रहण है, वह तो जो है सो ही है, ऐसे त्याग और ग्रहण के श्रम से रहित साक्षात् समयसारभूत परमार्थरूप एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप स्थित है ऐसा देखना चाहिए। यह ज्ञान अन्य परद्रव्यों से अत्यन्त जुदा है, अपने आप में यह नियत है। उस नियत का भेद क्या है? यह ज्ञान ही आत्मा है। यहाँ गुण गुणी का भी भेद स्वरूप की सही दृष्टि करने वाले को सहन नहीं है। यह आत्मा एक पदार्थ है उसमें ज्ञान पाया जाता है, ऐसा वहाँ कुछ भेद नहीं है। समस्त वस्तुवों के स्वरूप में एक ही कायदा है। बस है। पदार्थ है और उसका यह स्वभाव है ऐसी बात वस्तु में नहीं है। वहाँ तो है यह है—यह है—अब जो यह है उसे समझाने के लिए अपन व्यवहार मार्ग में आते हैं तो इस स्वभाव को स्वभावी का भेद किया जाता है। यह पदार्थ है और इसका यह स्वभाव है।

अभेद में प्रथम भेदोपक्रम —एक आत्मा को ही देखिए, प्रथम तो यह अद्वैतरूप है और अद्वैतरूप में ही अनुभूत है। अद्वैत कहो, एकत्व कहो, एक ही बात है। इस अद्वैतस्वरूपी आत्मा को जब हम समझने के लिए चलें तो स्वभाव-स्वभावी का भेद किए बिना हम समझ नहीं सकते हैं। यह है, यह है। मेरे ज्ञान में आ गया, यह है, यह है, इतने मात्र से कोई काम नहीं चलता है या कह दिया कि आत्मा है आत्मा है। इतने मात्र से काम नहीं चलता है। उन्हें समझाना होता है कि देखो जो जानता है, जो देखता है, जो रमता है, जहाँ आनन्द का अनुभवन होता है ऐसे पदार्थों को जीव कहते हैं। तो सर्वप्रथम इस स्वभाव-स्वभावी में भेद करना पड़ा।

सामान्य विशेष का भेद – अब और विशेष वर्णन करने के लिए स्वभाव में भेद करने की आवश्यकता हुई। आत्मा तो एक स्वभावरूप है। उसे हम चित् स्वभाव शब्द से कहा करते हैं। यह चित् सामान्यविशेषात्मक है। तब सामान्य चित् का नाम दर्शन हुआ और विशेष चित् का नाम ज्ञान हुआ। देखिए यहाँ तक स्वभाव में द्वैत चला। यह आत्मा चिदात्मक है, यह आत्मा ज्ञानदर्शनात्मक है।

ज्ञान ज्ञेय का भेद — अब ज्ञान की ही बात निरखिए । ज्ञान का काम जानना है। जहाँ जानन हुआ वहाँ द्वैत हो गया कि एक तो जाननहार तत्त्व और एक जानने में जो कुछ आया हुआ है वह तत्त्व। अब यह ज्ञान और ज्ञायक का द्वैत हो गया। अब धीरे धीरे छूटकर यह द्वैतभाव कैसी बरबादी के वातावरण में पहुंचाता है, देखते जाइए। ज्ञान ज्ञेय के भेद के बाद इस ज्ञेयरूप जीव को ज्ञेयों में भी द्वैत होने लगा है। अमुक मेरे लिए इष्ट है, और अमुक मेरे लिए अनिष्ट है। यह विपदा की बात अब चलने लगी। सबसे बड़ी विपदा है—अन्तर में किसी पदार्थ के प्रति इष्ट की कल्पना बन जाय और किसी पदार्थ के प्रति अनिष्ट की कल्पना बन जाय। इससे बढ़कर और विपदा इस जीव पर क्या हो सकती है ?

भेदविस्तार में विपदा का प्रसार — मोही जीव को तो इस भावात्मक विपदा का भी भान नहीं है, सो बाहरी वस्तुवों के संयोग और वियोग से विपदा समझता है। वहाँ उस के विपदा है कहाँ? वह तो बाहरी पदार्थ है। वहाँ विपदा नहीं है। विपदा तो इसके अन्तर में ही है। यह अपने ज्ञानस्वभाव से चिगा, चित्स्वरूप के अनुभवन से हटा, बाहरी पदार्थों में इष्ट और अनिष्ट की बुद्धि की कि बस यही सबसे भयंकर विपदा है क्योंकि इस भाव के होने पर इस भाव के साथ ही होड़ मच जाया करती है।

ज्ञानी के आत्मस्वभाव की निर्दोषता का भान — ज्ञानी जानता है कि यह ज्ञान अन्य सब भावों से, पदार्थों से पृथक् है, सो वह ज्ञानी अपने स्वरूप में ही नियत है। वह अन्य किसी को ग्रहण करे और अन्य किसी को छोड़े ऐसी अटपट बात भी पड़ी हुई नहीं है। यह निर्मल है। जैसा इसका स्वरूप है वैसा ही अवस्थित है। आदि अंत के विभाग से मुक्त सहज ही जो इसमें ज्ञानप्रभा है उस प्रभा से देदीप्यमान् ज्ञानज्योति से सदा चकचकायमान् यह शुद्ध ज्ञानघन आत्मा, जिसकी महिमा सदा उदित है, स्वभाव अन्तर में सदा उदित है, निर्दोष है। जैसे जल कीचड़ से गंदा भी हो जाय तो गंदा होने पर भी जल का स्वभाव उस ही जल में निर्मल है और सदा उदित है। पर जानने वाले लोग उपाय करके उस निर्मल जल को प्रकट कर लेते हैं। इस ही प्रकार इस संसारी अवस्था में भी यह आत्मा अपने निर्मल स्वभाव को लिए हुए सदा प्रकाशमान् है। जो पहिचानता है वह प्रज्ञा के उपाय से इसे प्रकट कर लेता है।

आत्मोपलब्धि में — जिस जीव ने निजस्वरूप को, निजरूप को जान लिया है और पुद्गलादिक समस्त परद्रव्यों को और पुद्गल उपाधि के निमित्त से होने वाले भावों को, परभावों को जिसने पररूप से मान लिया है ऐसा यह जीव सब कुछ अपने आप में अपने ज्ञानतत्त्व को देख रहा है। जो कुछ मेरा है वह सब मेरे में है, मेरे से बाहर कहीं कुछ नहीं है। ऐसा जानकर परसमय का वमन करता है, स्वसमय को प्राप्त करता है और वह ज्ञानमात्र आत्मा में स्थिर होता है। तब यह समझिये कि इस ज्ञानी जीव को जो कुछ छोड़ने योग्य है वह सब कुछ छोड़ देता है और जो कुछ ग्रहण करने योग्य है वह सब कुछ ग्रहण कर लेता है, क्योंकि अब इस आत्मा ने अपनी सर्वशक्तियों को संग्रहित करके इस निज पूर्ण आत्मतत्त्व को अपने आप में ही धारण कर लिया है। यही तो मोक्षमार्ग है।

आत्मवृत्ति में मोक्षमार्ग — भैया ! मोक्षमार्ग कहीं बाहर शरीरादिक की चेष्टा में नहीं है। छूटना है जीव को, तो मार्ग भी मिलेगा जीव में , अचेतन में मार्ग न मिलेगा, पर इस भावमोक्षमार्ग में चलने वाले जीव के साथ जब तक शरीरादिक का सम्बन्ध लगा हुआ है तब तक शरीरादिक किस तरह चलते, बैठते, उठते हैं? यह लौकिक जनों में विलक्षणता को लिए हुए बात है। इस प्रकार समस्त परद्रव्यों से यह ज्ञान बिल्कुल भिन्न व्यवस्थित हो चुका है। जो ज्ञान पुद्गलादिक समस्त पदार्थों से भिन्न है उस ज्ञान को फिर आहारक कहना, आहार करने वाला बताना, यह कैसे युक्त हो सकता है? इस ज्ञान को इस आत्मतत्त्व को आहारक होने की शंका नहीं की जानी चाहिए। इस ही बात को कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं।

गाथा 405

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एवं।

आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पुग्गलमओ उ ।।405।।

अमूर्त में मूर्ताहार की असंभवता — शुद्धनय के अभिप्राय से आत्मा मूर्तिक नहीं है, आत्मा के स्वरूप और स्वभाव को देखकर विचार करो तो यह आत्मा मूर्तिक नहीं है, अमूर्त है: रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित है। जब ऐसा यह अमूर्त है आत्मा तो फिर यह आहारक कैसे हो सकता है? आहार तो स्पष्ट मूर्त है। यह स्वरूप देखकर बात कही जा रही है। अपने आप में परख लो, तुम्हारा आत्मा रूप रस गंध स्पर्श वाला है क्या? वह तो ज्ञानमात्र अमूर्त तत्त्व है। तो उसमें भोजन रोटी, लड्डू, क्या चिपक सकते है? क्या इसका ग्रहण कर सकते हैं? इस कथन में स्वभावदृष्टि को न छोड़ना, उसको नजर में रखकर यह सब उपदेश ग्रहण करना। यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा भोजन ग्रहण नहीं करता हूँ पर हुई कुछ खामी इस मुझ में जिस के कारण धीरे-धीरे बढ़कर यह इसकी नौबत आ गयी है कि आज कल अब तो भोजन ही सर्व कुछ है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह—इन चारों संज्ञावों से पीड़ित ये जीव पाये जा रहे हैं, पर स्वरूप को देखें तो तुरन्त ही यह विवेक हो सकता है और उत्साह जग सकता है। आत्मा का भोजन से तो कुछ सम्बन्ध ही नहीं है।

अपनी प्रभुता की स्मृति में बलप्रयोग — एक क्षत्री पुरुष था और एक बनिया था। क्षत्री तो दुर्बल शरीर का था और बनिया हृष्ट पुष्ट शरीर का था। दोनों में हो गयी लड़ाई। उस लड़ाई में बनिया ने क्षत्रिय को पटक दिया और फिर छाती पर बैठ गया। बहुत देर तक उसने हैरानी सही, आखिर वह एक बात पूछता है कि यह बतावो कि हो तुम किस के बेटा? वह बोलता है कि मैं बनिये का बेटा हूँ। अरे तू बनिये का बेटा है, इतना सुनते ही उस के ऐसा जोश आया कि जैसे ही उसने हिम्मत की कि वह बनिया नीचे और वह क्षत्रिय ऊपर हो गया। यह विभाव परिणाम रागद्वेषादिक भाव ये ही प्रभु पर लदे हुए क्षोभ बनाए हुए इसे हैरान किए जा रहे हैं। बहुत हैरान होने के बाद यह प्रभु भीतर से आवाज देता है कि यह बतावो कि तुम हो किस के बेटा? तो विभावों के पास कोई उत्तर मजबूत है ही नहीं और कुछ है तो जैसी दृष्टि बनावो तैसा उत्तर है। उन्हें चाहे पुद्गल के बेटा कह लो, चाहे विकारों के बेटा कह लो, कुछ पता ही नहीं है कि किसके बेटा हैं, ये कैसे हो गए हैं? चाहे इन्हें फालतू बेटा कह लो और प्राय: पुद्गल के उद्भव समझें, जैसे ही उनका लप्पड़ उत्तर सुना कि यह प्रभु ज्ञानदेव अपने अन्तर में उत्साह करता है कि इन व्यर्थ के राग द्वेषों से मैं क्यों दबूं? ये कुछ नहीं हैं। एक अन्तर में उपयोग को संभालने भर की ही तो बात है। फिर सन्मार्ग इसका निर्वाध पड़ा हुआ है।

आत्मा का व आहार का अत्यन्ताभाव होने पर भी कल्पना में एकरसता — यह मैं आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित हूँ, अमूर्त हूँ और ये पुद्गल द्रव्य मूर्त हैं, इन का ग्रहण करने वाला आहार करने वाला मैं नहीं हूँ, इतना तो भेद है, पर इस मोही जीव में भोजन के प्रति इतना अधिक आकर्षण है कि ये क्षुधा के विनाश के प्रयोजन से भी नहीं खाता किन्तु खूब मजा हो, सुख हो इसलिये नाना तरह के भोजन बना -बनाकर खाता है। भोजन की विविधता का क्या ठिकाना है? अभी देख लो बेसन से बनने वाली कोई 50 तरह की चीजें होती हैं, एक ही गेहूं के आटे से पचासों तरह की चीजें बनायी जाती हैं, किन्तु शक्ल भी अच्छी हो, रूप भी अच्छा हो, रस भी बढ़िया हो और कैसे कैसे रसों से यह मोही जीव बंधा हुआ है। सम्बन्ध कुछ है नहीं। इस समय की हालत में यह भी एक कठिन बात है कि बाहर की कुछ परवाह नहीं

करके केवल अपने आप के प्रयोजन की बात कर लें। आत्महित के लिए आवश्यक है कि वर्तमान कमजोरी में शरीर का कुछ स्वस्थ रहना, इसके ही प्रयोजन से बात हो तिस पर भी यह जानता रहे कि मैं आत्मा अमूर्त हूँ। ये पुद्गल, भोजन सब अमूर्त हैं, इनका मेरे साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। इस विषय को बढ़ाते हुए अब और कह रहे हैं।

गाथा 406

णवि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तं जं य जं परद्दव्वं।
सो कोवि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वावि।।406।।

आत्मा में आहारकत्व का अभाव — आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं है जिस गुण के द्वारा यह आत्मा आहारादिक परद्रव्यों को ग्रहण कर सके अथवा छोड़ सके। न तो आत्मा में स्वभाव से ऐसा गुण है और न किसी के प्रयोग से ऐसा गुण उत्पन्न होता है। हे आत्मन् ! यह आत्मा जब केवल अपने ही परिणमन को ग्रहण करता है और अपने ही परिणमन को विलीन करता है, अर्थात् पदार्थ के नाते से जैसे कि सभी पदार्थ यह काम करते हैं, यह मैं भी कर रहा हूँ, तब इसमें परद्रव्यों को ग्रहण करने की और त्यागने की बात कहाँ से कही जा सकेगी ?

प्रायोगिक गुणसंबंधी शंका समाधान — यहाँ शंका हो सकती है कि देख तो रहे हैं कि समस्त लोग आहार करते हैं। कर्मजनित एक प्रायोगिक गुण हुआ है अन्य आत्मा में जिस के कारण ये सब आहार ग्रहण किये जा रहे हैं और तुम कहते यह आत्मा ज्ञान अनाहारक है। यह आहार को ग्रहण नहीं करता है, यह बात कैसे समझ में आए? इसका उत्तर है कि बात तो तुम्हारी ठीक है, भोजन बिना गुजारा नहीं देखा जा रहा है और यहाँ सभी जीव उसमें प्रवृत्त भी हो रहे हैं, लेकिन स्वरूप की बात कही जा रही है, क्या यह ज्ञान अथवा आत्मा उस पौद्गलिक आहार में तन्मय होता है? यह व्यवहार की सब बात है कि जीव खाता है, चलता है, फिरता है, बैठता है, उठता है, यह सब व्यवहारनय का कथन है। व्यवहारनय के कथन का अर्थ यह है कि स्वभाव वाली बात नहीं है, किन्तु परपदार्थजनित ये सब चेष्टाएँ हैं। यह तो निश्चय का आलम्बन स्वरूप दृष्टि से कथन किया जा रहा है।

ज्ञान की वृत्ति — ज्ञान पौद्गलिक आहार को ग्रहण नहीं करता है इतनी बात खा चुकने के बाद भी समझलें तो भी गनीमत है। खाते समय तो ध्यान कुछ न रहता होगा, और जो ज्ञान खाते समय भी ध्यान में रख सकते हैं खाते जा रहे हैं और यह दृष्टि बराबर भी बनी जा रही है कि यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूँ, इस आत्मा में तो इस भोजन रस का सम्बन्ध भी नहीं होता है, आकाशवत् निर्लेप यह ज्ञानमात्र आत्मा हूँ, इतना ध्यान यदि बना रह सके तो इसी को ही तो कहते हैं आहार करते हुए भी आहार नहीं करता है। जीव का जो कुछ करना हो रहा है वह ज्ञान गुण के द्वारा हो रहा है। यह ज्ञान जिस ओर प्रवृत्त होता है कार्य करना वही कहलाता है। जि से स्वभाव की खबर है और इस ओर जिसकी दृष्टि है वह अपने आप में अपने आप का दर्शन ज्ञान आचरण करने वाला है। वै से कर्मोदयजनित प्रायोगिक गुण के निमित्त से जो कुछ आहार गुण की क्रिया हो रही है उस के करने वाले इस ज्ञानमात्र आत्मा को नहीं

देख सकते हैं। यह आत्मा यह ज्ञान आहारक नहीं है। जब ऐसी बात है तब इसका निष्कर्ष क्या निकला? इस बात को शेष सम्बन्धित इस तीसरी गाथा में कह रहे हैं।

गाथा 407

तम्हा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि।

णेव विमुंचइ किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं।।407।।

आत्मा के अनाहारकत्व का सिद्धान्त पक्ष — निश्चयनय से यह जीव आहारक नहीं होता है, परन्तु जो विशेष रूप से शुद्ध रागादिक रहित परिणमन करता है अथवा ऐसा ही जिस का स्वभाव है वह किसी भी प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करता है। इस सचित्त और अचित आहार का यह आत्मा ग्रहणकर्ता नहीं है। आहार होते हैं 6 तरह के—1 कर्माहार, 2 नोकर्माहार, 3 लेप्याहार 4 ओजाहार, 5 मानस आहार, 6 कवलाहार।

कर्माहार व नोकर्माहार — कर्माहार, कर्मों का ग्रहण किया जाना। जैसे विग्रह गति में इसके कर्माहार ही तो मात्र रह गया। एक होता है नोकर्माहार अर्थात् शरीरवर्गणावों का ग्रहण करना। यह आहार होता है सयोग केवली भगवान के और सब के भी। अरहंतदेव के शरीर में शरीरवर्गणा के स्कंधाणु आते रहते हैं। और इस ही शरीर परमाणु के आते रहने रूप आहार के बल पर ही लाखों करोड़ो वर्ष तक मुख से आहार किये बिना, पौद्गलिक आहार किये बिना जीवित रहते हैं।

लेप्याहार — एक आहार होता है लेप्याहार। जैसे ये वृक्ष अपनी जड़ों से कीचड़ मिट्टी पानी को खींचकर आहार करते हैं और जीवित रहते हैं। इन पेड़ों के कहाँ मुख है, वे जड़ से ही आहार ग्रहण करते हैं और देखो जड़ से तो सभी आहार लेते हैं। क्या मनुष्य जड़ से आहर नहीं लेता है? पर मनुष्य की जड़ ऊपर है, पेड़ों की जड़ नीचे हैं, यह मनुष्य मानों उल्टा पेड़ है, जो आहार लेने का मूल स्थान है उसका नाम जड़ है, मूल है। मूल कट जाये तो फिर वह जीव जिन्दा नहीं रहता है। जैसे वृक्ष की जड़ कट जाय तो वृक्ष फिर नहीं रहता यों ही मनुष्य की जड़ है सिर। इसी से ही भोजन का आहार ग्रहण करता है। ये पेड़ जड़ से आहार लेते हैं और लेप्य आहार लेते हैं। ये पेड़ मिट्टी, कीचड़ पानी आदि का ही आहार करते हैं।

ओजाहार — एक आहार होता है ओजाहार। जैसे ये चिड़िया अंडे सेया करती है। उनमें जीव कई दिनों तक भीतर पड़ा रहता है। उन को आहार कहाँ से चिड़िया दें, तो अंडों पर बैठे रहती हैं और अपनी गर्मी को, अपने ओज को उन अंडों में पहुँचाती रहती हैं।

मानसाहार — एक होता है मानसिक आहार। जैसे देवता लोग भूखे प्यासे होते हैं तो मन में उनके वाञ्छा हुई कि कंठ से अमृत झड़ गया। वह अमृत क्या है? कुछ हम आप के थूक से जरा बढ़िया थूक होता होगा। हम आप लोग भी तो जब थूक गुटकते हैं तो कितना अच्छा लगता है? जब कंठ से ही थूक झरता है तो हम आप लोग कुछ संतुष्ट से हो जाते हैं, कुछ ठंडा दिमाग हो जाता है, भूख प्यास नहीं रहती, कुछ ऐसा उनमें भान बन जाता है, उनके कोई और विलक्षाण झर जाता है।

कवलाहार और आत्मा के आहारकत्व का अभाव — तो ये उक्त 5 प्रकार के आहार हैं—इन आहारों में जो एक आहार शेष रहा छटवां कवलाहार—खाकर आहार लेना उसकी यहाँ चर्चा चल रही है। पुद्गलद्रव्य सचित्त अचित्त पदार्थ इन का आहार यह जीव ग्रहण करता है, भोगता है। इस कारण नोकर्म आदारमय यह शरीर जीवस्वरूप मेरा नहीं है और जब शरीर ही नहीं रहा तो शरीरमय ये जो द्रव्यलिङ्ग हैं, साधु हो गए, नग्न हो गए, चर्या कर रहे हैं, व्रत पाल रहे है, तपस्या कर रहे हैं यह भी जीव का स्वरूप कहाँ से होगा? जब शरीर ही जीव का स्वरूप नहीं है तो शरीर का भेष, साधुभेष यह जीव का स्वरूप कैसे होगा ?

धर्मविक्रियाओं में पर्यायबुद्धता — भैया ! स्वभाव की दृष्टि करिये, जो जीव अपने स्वभाव को नहीं परखता और ऐसा ही कल्पना में बना हुआ है मैं साधु हूँ, मुझे देखकर चलना चाहिए, ऐसी पर्यायमयी कल्पना बन रही है विविक्त अन्तस्तत्त्व की प्रतीति ही नहीं है तो उस साधु के मिथ्यात्व बना हुआ है। सम्यक्त्व ही अभी नहीं जगा, साधुता तो बहुत आगे की बात है। जैसे गृहस्थ जन या अन्य कोई मिथ्यादृष्टि जीव अपने आप में ऐसा विश्वास रखता है कि मैं अमुक गांव का हूँ, अमुक नाम का हूँ, इतने परिवार वाला हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ, और मैं चिदानन्दस्वरूप चैतन्यतत्त्व हूँ इसकी खबर नहीं है तो जैसा वह मिथ्यादृष्टि है इस ही प्रकार जिस के यह कल्पना लगी है कि मैं साधु हूँ, मैं मुनि हूँ, मुझे यों चलना चाहिए अब गरमी में बैठकर खूब तपस्या करनी चाहिये, अब इन कर्मों को जलाया जाय ऐसी कल्पना बनती है, पर्यायमयी और चिदानन्द स्वरूप मैं चेतन तत्त्व हूँ, जिसकी वृत्ति केवल जानन देखन है, इस स्वरूप की खबर नहीं है तो वह भी लौकिक पुरुषों की तरह मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए।

देहमय लिंग का आत्मा में अभाव - यहाँ स्वरूपदृष्टि का प्रतिबोध करा के उपदेश दिया जा रहा है कि जरा सोचो तो सही, यह अमूर्त आत्मा क्या है पौद्गलिक आहार को ग्रहण कर सकता है? नहीं। तो आहार से या अन्य से शरीरवगर्णावों से बना हुआ यह शरीर मुझ आत्मा का कुछ है क्या? नहीं। तो क्या यह शरीर हमारा नहीं है? नहीं है। तो शरीर का जो भेष बनाया गया है वह चाहे गृहस्थ का भेष हो और चाहे साधु का भेष हो, चाहे धोती दुपट्टा ओढ़कर, चाहेकमण्डल पीछी उठाकर भेष बना हो या लंगोटी चादर लेकर पिछी कमण्डल लेकर भेष किया गया हो या सब कुछ उतारकर नग्नरूपधरा गया हो, यह भेष क्या जीव का है? नहीं है। विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी परमात्मा के इस ज्ञायकस्वरूप आत्मदेव के जब नोकर्म आहार ही नहीं होते तब इन नोकर्माहारों में कमलाहार भी समझ लेना। तो फिर आहारमय देह ही इस जीव के कैसे भी नहीं है।

देहमय लिङ्ग की मोक्षहेतुता का अभाव —जब देह भी जीव के नहीं है तो देहमय द्रव्यलिङ्ग ही जीव के नहीं है। और जो चीज जीव की नहीं है वह मोक्ष का कारण नहीं है। निश्चय से ज्ञानवृत्ति ही मोक्ष का कारण है। शुद्ध ज्ञानदृष्टि रहना, निश्चय के साथ व्यवहार का मेल कैसे होता है? यह भी एक रहस्य है। पर यह स्वरूपदृष्टि रखकर यह सब वर्णन चल रहा है। इस प्रकार इस शुद्ध ज्ञान के देह ही नहीं है तो देहमय कोईसा भी भेष और लिङ्ग इस ज्ञाता के मोक्ष का कारण नहीं होता। इस गाथा के भाव को अब अगली गाथा में ही कुन्दकुन्दाचार्यदेव सीधे स्पष्ट शब्द बोलकर बता रहे हैं।

ज्ञान में परद्रव्य का असम्बन्ध, अग्रहण, अविसर्ग —ज्ञान किसी भी परद्रव्य से न कुछ भी ग्रहण करता है और न कुछ भी छोड़ता है, न उनमें प्रायोगिक गुण की सामर्थ्य है और न उनमें कोई वैस्रसिक गुण है ऐसा जिस के कारण परद्रव्य को ग्रहण करने में आत्मा समर्थ हो सके या परद्रव्य के छोड़ने में यह आत्मा समर्थ हो सके, परद्रव्यपना ज्ञान में नहीं है। वह तो परद्रव्य में ही है। ऐसा परद्रव्यरूप जो मूर्त पुद्गल द्रव्य है उसका आहार जीव के नहीं होता। और यों यह ज्ञान आहारक नहीं है। जब ज्ञान आहारक ही नहीं है तब यह ज्ञान शरीरवर्णावों को और मूर्त पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण ही नहीं करता है। तो फिर इसके देह है ऐसी तो शंका ही न करना चाहिए। ज्ञान तो केवल जाननस्वरूप को ही लिए हुए रहता है। शुद्ध के ज्ञान में देह ही नहीं है तो आत्मा के देहमय लिङ्ग उस दोष के कारण कैसे होंगे? इस विषय का वर्णन अब कुन्दकुन्दाचार्य देव अगली दो गाथावों में कर रहे हैं।

गाथा 408,409

पाखंडीलिंगणि व गिहलिंगणि व वहुप्पयाराणि।
घित्तं वदंति मूठा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति।।408।।
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाण चरित्ताणि सेयंति।। 409।।

व्यवहार में धार्मिक दो लिङ्ग— जैन सिद्धान्त में मोक्षमार्ग के दो लिङ्ग कहे गए हैं—एक पाखण्डी लिङ्ग और एक गृहस्थों का लिङ्ग अर्थात् एक तो धर्म है पाखंडियों का और एक धर्म है गृहस्थों का धर्म। पाखंडी का अर्थ है मुनि महाराज। पाखंडी शब्द सुनकर गालीरूप भाव न लेना। पाखंडी शब्द का असली अर्थ है मुनि महाराज जो पाप का खंडन कर दे। पर न जानें कैसी प्रथा चल गयी है कि खराब धारणा वाले को लोग पाखंडी कहा करते हैं। पर पाखंड का अर्थ है शुद्ध 28 मुलगुणों का पालन करने वाले मुनि महाराज। तो दो धर्म हैं—एक पाखंडियों का एक गृहस्थों का। ये मोही जीव इन लिङ्गों को धारण करके ऐसा मानते हैं कि यह ही मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष का मार्ग वास्तव में भावलिङ्ग है। रागादिक विकल्प उपाधिरहित परमसमाधिरूप भावलिङ्ग मोक्ष का मार्ग है, ऐसा ज्ञान नहीं है। तो इस द्रव्य **लिङ्ग** को ही मुक्ति का कारण मानते हैं।

पाखण्डीलिङ्ग की विशुद्धता —इन लिङ्गों में पाखंडीलिङ्ग तो एक ही प्रकार का है और गृहस्थों के लिङ्ग कई प्रकार के हैं। गृहस्थ अविरत भी होते हैं और प्रतिमाधारी भी होते हैं और पाखण्डी महाराज केवल एक ही प्रकार के होते हैं, शुद्ध 28 मूलगुणों का पालन करने वाले होते हैं। इसी कारण साधु महाराज में कोई भी मूल त्रुटि नजर आये तो वह साधु नहीं कहला सकता । साधु तो परमेष्ठी का नाम है। परमेष्ठी का दर्जा कितना विशुद्ध होता है ?उन साधुजनों से गृहस्थों को कुछ मिलता नहीं, गृहस्थों को दुकान नहीं करा देते, गृहस्थों के शादी विवाह नहीं करा देते, कुछ भी लाभ नहीं है, फिर भी उन साधुवों के चरणों में मस्तक झुकाते, अपना सर्वस्व त्याग करते हैं। तो उन साधुवों में बड़ी विशुद्धि होनी चाहिए।

साधु की निरारम्भरता — साधुवों के किसी भी प्रकार के विषयों की चाह नहीं होती, किसी भी प्रकार का आरम्भ परिग्रह नहीं होता। उनके तो जो 6 आवश्यक कार्य हैं वंदना, प्रतिक्रमण, स्तुति आदिक बस इतना ही मात्र उनका आरम्भ है और पिछी, कमण्डल, पुस्तक इन को ही ग्रहण करना इन को ही समितिपूर्वक धरना, उठाना इतना ही मात्र आरम्भ है, सो ये आरम्भ नहीं कहलाते। ये तो साधना के उपकरण कहलाते हैं। इसके अलावा अन्य किसी भी प्रकार का आरम्भ हो तो वह साधु नहीं है; आरम्भी साधु के द्रव्यलिङ्ग भी नहीं है, भावलिङ्ग की बात दूर रही। गृहस्थजन नाना प्रकार के कर्तव्यों में रहते हैं। उनके लिङ्ग प्रकार बहुत हैं। उनमें कोई कितनी चूँकि रहा ही करती है तभी तो वह गृहस्थ हैं। पर गृहस्थ अन्तर में श्रद्धान् का इतना विशुद्ध होता है कि मेरा जो आदर्श है अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये मेरे आदर्श निर्दोष हैं। स्वयं आचरण कुछ नहीं कर पा रहा गृहस्थ, मगर जिन्हें पूज्य माना गया उन्हें निर्दोषता के कारण ही पूज्य माना करता है। यों साधु लिङ्ग और गृहस्थ लिङ्ग दो प्रकार के धर्म व्यवहार में जिनशासन में कहे हैं।

व्यवहारमुग्धों की व्यवहार में अटक — द्रव्य लिङ्गों को धारण करके मूढ़जन ही कृतार्थता का ख्याल करके संतुष्ट होते हैं, जैसे कि गृहस्थ संतुष्ट हो जायें। हम रोज पूजा कर लेते हैं, थोड़ा स्वाध्याय कर लेते हैं, सुन लेते है, हमने तो हित का काम पूरा निभा लिया है, और इसी से ही हम तिर जायेंगे। यों गृहस्थों के व्यवहारिक कर्तव्यों में मोक्षमार्ग मान लेना जैसे गृहस्थ का अपराध है, इसी तरह साधु के व्रत निर्दोष पालन करने में निर्दोष समिति में कहीं बाधा न हो, देखकर चलें, भाषा भी बहुत प्रिय बोलें कि लोग सुनते ही अपना भय समाप्त कर लें, हित की वाणी बोलें। यों बड़ा निर्दोष चारित्र पाल रहा है कोई साधु और अन्तर में यह दृष्टि न बन स की कि मैं तो अमूर्त एक चिदानन्दस्वरूप हूँ, मेरा कर्तव्य तो ज्ञाता दृष्टा रहने का है और केवल ज्ञानवृत्ति विशुद्ध बने, यही मोक्षमार्ग है, ऐसी निर्विकल्प समाधिरूप अन्तरङ्ग चारित्र की भावना जिन के नहीं है, उसे जानते ही नहीं हैं, वे इतना ऊँचा बाह्य चारित्र पालते हुए भी उनके लिए आचार्य महाराज कहते हैं कि 'इदं लिङ्ग मोक्षमार्ग; ऐसा मूढ़ ही कहते हैं ।

पर्यायमूढ़ की वृत्ति — भैया ! मूढ़ नाम मोही का। जो पर्याय में मुग्ध हो उसका नाम मूढ़ है, चाहे गृहस्थ हो और चाहे साधु हो। पर्याय मायने शरीर और शरीर की चेष्टाएँ, इन में ही जो मुग्ध हो ऐसे मूढ़जन गृहस्थ लिङ्ग को धारण करके कहते हैं कि यह मोक्षमार्ग है और पाखंडी लिङ्ग को भी धारण करके कहते हैं कि यह मोक्षमार्ग है, किन्तु भावलिङ्गरहित यह द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं हो सकता। साधु नाम है ज्ञान की मूर्तिका, चारित्र की मूर्तिका। जैसे ज्ञान अंतरङ्ग ज्ञायक को संकेत करता है इसी प्रकार चारित्र अंतरङ्ग चारित्र को संकेत करता है। मोक्षमार्ग कहीं बाहरी वृत्तियों में नहीं है। जो बाहिरी वृत्तियों में मोक्षमार्ग मानते हैं वे पर्याय मूढ़ हैं।

द्रव्यलिङ्ग में ममता न करने वालों के उदाहरण — जिस कारण अरहंत भगवान देह से निर्मम होकर, लिङ्ग आधारभूत शरीर की ममता को छोड़कर दर्शन, ज्ञान, चारित्र की सेवा करते थे, भावना करते थे, इससे भी सिद्ध है जीवों के देह के आश्रित जो चिन्ह हैं, लिङ्ग हैं, भेष है, वे मोक्षमार्ग नहीं हैं। यदि शरीर का कपड़ा रहित हो जाना मोक्ष का मार्ग होता तो पुराण पुरुषों ने इस शरीर की दृष्टि छोड़कर आत्मा में दृष्टि क्यों लगायी? जब शरीर का भेष मोक्ष का मार्ग है, तो शरीर पर ही दृष्टि बनाए रहते, किन्तु ऐसा

किसी ने नहीं किया, ऐसा करके कोई मोक्षमार्ग पा नहीं सका। इससे यह जानिए कि यह द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं है।

द्रव्यलिङ्ग में मोक्षमार्गत्व की प्रसिद्धि का कारण —द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का मार्ग है, ऐसा प्रसिद्ध क्यों हो गया? इसका कारण यह है कि भावलिङ्ग का और बाहर में होने वाले इस द्रव्यलिङ्ग का कोई मेल सम्बन्ध है। वह किस प्रकार? जिस पुरुष को आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप की रुचि तीव्र हुई है उस मनुष्य की वृत्ति ज्ञान और आनन्द स्वरूप में मग्न होने के लिए होगी। जो पुरुष ज्ञानानन्द स्वरूप में मग्न होने का यत्न करेगा वह धन वैभव मित्रजन देश कैसे चिपका सकेगा? उसकी तो रुचि निज शुद्ध आत्मतत्त्व की ओर लगी है। औरों की तो बात जाने दो, जो आत्मस्वभाव का प्रबल रुचिया है, उसे एक धागे का उठाना और बांधना भी विपत्ति मालूम होती है, ऐसी जिस के अपने आत्मस्वभाव की तीव्र रुचि जगी है उस के समस्त बाह्य पदार्थों से हटे रहने का ढ़ंग बन गया और जिस के आत्मकल्याण की ही धुनि है उस के अभी शरीर लगा है ना, क्षुधा, तृषा, आदिक बाधाएँ भी लगी है और काम करना है इस मनुष्य भव में अभी आत्मकल्याण का। बहुत दिन तक इस शरीर को रखना भी एक गौणरूप से आवश्यक हो गया है। इस ही हेतु यह सब द्रव्यलिङ्ग भी हो जाता है।

द्रव्यलिङ्ग की साधनासहायकता — भैया ! जब चलेंगे साधुजन तो क्या ऊपर को सिर उठाकर चलेंगे? जिन का इतना विशुद्ध ज्ञान वैराग्य है कि अपने आत्मा की दृष्टि से रंच भी नहीं हटना चाहते, वे कभी कारणवश तो क्या अगल बगल में बातचीत हंसी ठट्ठा करते हुए चलेंगे? क्या जहाँ चाहे सिर उठाकर चलेंगे? यह वृत्ति नहीं हो सकती। गमन होगा नीची दृष्टि रखकर, मौन लेकर। वहाँ तो केवल जीव रक्षा का ख्याल होता है। तो यह वृत्ति बनती है पर कोई अपने अंतरंग प्रयोजन को तो जाने नहीं और इन बाहरी वृत्तियों में ही मोक्ष मार्ग है, ऐसा श्रद्धान रखें तो कहते हैं कि वे पर्यायमूढ़ हैं। इस वृत्ति से वे मोक्षमार्ग में नहीं हैं और उन की साधुता है, न गृहस्थापना है। बहुत मोटी युक्ति यह जानना कि जोअरहंत भगवान हुए हैं उन्होंने क्या द्रव्यलिङ्ग धारण नहीं किया, मगर द्रव्यलिङ्ग की ममता त्याग करके शुद्ध ज्ञायकस्वभाव में दृष्टि जगाई, इससे यह विदित होता है कि द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु मोक्ष की साधना करने वाले भावलिङ्गी पुरुष को यह द्रव्यलिङ्ग का वातावरण उस के कर्त्तव्य में सहायक है।

भैया ! बाह्य क्रियाएँ द्रव्यलिङ्गी और भावलिङ्गी मुनि के यद्यपि एक सी होती है, फिर भी अन्तर में संवर और निर्जरा का कारण भावलिङ्ग है। ज्ञानी शुद्ध अन्तस्तत्त्व का आश्रय कर रहा है और अशुद्ध कर्मों से हट कर अपने अन्तरंग में प्रवेश करके संवर और निर्जरा कर रहा है।

ज्ञानी की बाह्यचेष्टा की नकल में सिद्धि के अभाव का उदाहरण — जैसे एक कोई व्यापारी है। वह गया चावल निकालने के बड़े मिल पर, वहाँ बहुत धान के ढेर रखे हुए थे, सो उस व्यापारी ने धान खरीद लिया। उस के पीछे एक गरीब मूर्ख लग गया। उसने सोचा कि यह कैसे धनी बन गया है, देखें तो सही यह क्या काम करता है? जो काम यह करेगा वही काम हम करेंगे तो हम भी धनी बनेंगे। देखा उसने कि सेठ साहब कुछ मटमैले रंग की ऐसे आकार प्रकार की कोई चीज खरीद लाये हैं। ठीक है, वह व्यापारी तो चला गया। भाव भी उस व्यापारी से उस गरीब ने पूछ लिया था। मानो उसने 10) मन भाव बताया। तो दो तीन दिन बाद वह भी उसी चीज को खरीदने के लिए उसी मिल पर गया। तो

चावलों का जो छिलका होता है ना, वहीं वहाँ ढेरों पड़ा हुआ था। पूछा भैया ! यह क्या भाव है? कहा 2) रूपये मन। वह बड़ा खुश हुआ। मैं तो सेठ साहब से भी अधिक धनी बन जाऊँगा। वह तो ले गया था 10) रूपये मन, हमें तो दो रूपये मन मिल रहे हैं। सो कहा कि अच्छा भर दो जितने हों । खरीदकर वह बाजार ले गया। बाजार में वही भाव बिके जो भाव वह ले गया था, बल्कि उस से भी कुछ कम भाव पर बिके। सोचा कि क्या बात है? वैसी ही चीज, वैसा ही रंग, फिर भी हमें घाटा हो गया और सेठ मालोमाल हो रहा है।

ज्ञानी की बाह्यचेष्टा की नकल में सिद्धि का अभाव — इसी तरह भावलिङ्गी मोक्षमार्ग का सफल व्यापारी इन 28 मुलगुणों का पालन कर रहा है। एक मुढ़ ने सोचा कि इन की इज्जत भी बहुत बड़ी है। हर एक कोई इन के हाथ जोड़ता है, पैर पकड़कर खिलाते हैं, इन का तो शासन सा चल रहा है। सो ऐसा करें ना कि यह लिङ्ग अपन धारण कर लें तो दुनिया का मजा भी मिलेगा, खाने को मिलेगा, सभी लोग हाथ जोड़ेंगे और साथ ही कर्म कट जायेंगे क्योंकि इन के कर्म कट रहे हैं। धर्म भी हो जायेगा। सो द्रव्यलिङ्ग धारण कर लिया। धारण करने के बाद भावलिङ्गी तो मोक्ष में बढ़ गया और द्रव्यलिङ्गी बढ़ना तो दूर रहा, जैसे कि आजकल बतलाते हैं कि कई करोड़ साधु इस पंचम काल में दुर्गति में जायेंगे, तो ऐसी ही स्थिति उस द्रव्यलिङ्गी की हो गयी। इस गरीब व्यापारी को यह पता न था कि छिलकों के भीतर जो सफेद-सफेद चावल है, उसकी सारी कीमत है, इस ऊपरी छिलके की कीमत नहीं है। इसी तरह द्रव्यलिङ्गी साधु को यह पता नहीं है कि अन्तर में आत्मस्वभाव की रुचि ज्ञान और उस ज्ञानरूप बर्तते रहना इस रत्नत्रय की कीमत है। इस शरीर की अथवा इसके बाह्य खटपटों की कीमत नहीं है। जैसे चावल के पीछे धान का छिलका भी बड़े व्यापारियों के हाथ में शोभा देता है इसी तरह इस अंतरंग रत्नत्रय के साथ में इस शरीर की पूज्यता लगी हुई है। यह बात उस द्रव्यलिङ्गी को पता नहीं है। इस कारण वे द्रव्यलिङ्ग को ही ग्रहण करके यह ही मोक्ष का मार्ग है इसी प्रकार कितने ही लोग द्रव्यलिङ्ग को ही अज्ञान से मोक्षमार्ग मान रहे हैं। और इसी कारण से मोह से द्रव्यलिङ्ग को ही ग्रहण करते हैं।

आत्मसाधना का उद्यम — भैया !जि से आत्मसाधना चाहिए उसे अपने बारे में दुनिया मुझे कुछ जान जाय, ऐसा भाव तो करना ही न चाहिए। अन्तरंग में ऐसी कल्पना न जगनी चाहिए और ज्ञान के अभ्यास की, ज्ञान भावना की वृत्ति बनाए रखनी चाहिए, गृहस्थ हो अथवा साधु हो। जैसे जन्म मरण सब का एकसा होता है इसी तरह संसार और मोक्ष की पद्धति भी सब जीवों में एक किस्म से होती है। वहाँ ऐसा भेद नहीं है कि गृहस्थ तो भगवान की पूजा करके, द्रव्य चढ़ाकर मोक्ष चला जायेगा और साधु महाराज इस -इस तरह से चर्या करके मोक्ष चले जायेंगे। मोक्ष का मार्ग केवल एक ही प्रकार का है— यह शुद्ध ज्ञायक स्वभाव अपनी दृष्टि में आये और इस ही रूप अपना अनुभवन करे, विकल्पों का परिहार हो, निर्विकल्प ज्ञानानुभूति जगे, ऐसी वृत्ति ही मोक्ष का मार्ग है। गृहस्थों के कभी-कभी होती है इसलिए ही परम्परया मोक्षमार्ग है और साधुपने में यह वृत्ति निरन्तर हो सकती है। इसलिए वह भव्य प्राणी साक्षात् मोक्षमार्गी है।

द्रव्यलिङ्ग के ममत्व के त्याग की अनिवार्यता — देखो जितने भी भगवान अरहंत बने हैं वे शुद्ध ज्ञानमय ही तो हैं। उन्होंने द्रव्यलिङ्ग का आश्रयभूत जो शरीर है उस शरीर के ममत्व का त्याग किया था

तब उन्हें मोक्ष मिला है। तो द्रव्यलिङ्गी के आधारभूत शरीर की ममता से मोक्ष है या ममता के त्याग से? इसी प्रकार इस द्रव्यलिङ्ग की ममता से मोक्ष है या द्रव्यलिङ्ग की ममता के त्याग से? त्याग से ही मोक्ष है, जब उन अरहंत भगवंतों ने शरीर का आश्रयभूत द्रव्यलिङ्ग का त्याग करके दर्शन ज्ञान चारित्र मात्र आत्मतत्त्व को ही मोक्षमार्ग के रूप में अपनाया, उपासा तब उन को मोक्ष मिला।

मोक्तव्य और मुक्तिस्वरूप के परिज्ञान की आवश्यकता — सो भैया ! यह अबाधित सिद्ध है कि जिसे मुक्ति दिलाना है, उसकी पहचान करनी है और जैसी स्थिति दिलानी है उसकी पहिचान करनी है। इन दो परिचयों के बाद मोक्षमार्ग मिलता है। जिसे मुक्त कराना है, उसका ही सही पता नहीं तो बेपते के लिफाफे की तरह यहाँ से वहाँ भटकना बना रहता है। किसी लिफाफे को बिना पता लिखे लेटर बॉक्स में डाल दो तो डाकिया उसे कहाँ ले जाये, वह लिफाफा तो इधर उधर ही भटकेगा। इसी तरह अपने आप का पता नहीं है और डाल दिया निर्ग्रन्थ लिङ्ग के लेटर बॉक्स में तो उस लिफाफा जैसी उसकी स्थिति है। अब वह कहाँ जाये बतावो? कभी किसी के संघ में घुसा, कभी किसी के संघ में घुस,कभी कहीं मन बहलाया। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि जिन्हें आत्महित करना हो वे अपने आत्मतत्त्व का यथार्थ परिचय करें और इस विविक्त ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व की अंतरंग से रुचि करें तो इससे कल्याण के पात्र हो सकते हैं।

देहपरिणति के ममत्व की मुक्तिबाधकता—साधुलिङ्ग और गृहस्थलिङ्ग इन्हें ग्रहण करके मूढ़ पुरुष 'यह ही मोक्षमार्ग है' ऐसा माना करते हैं, पर उन्हें यह खबर नहीं है कि इस देह का ममत्व त्यागने पर ही मोक्ष का मार्ग मिलता है। देह के आश्रित जो लिङ्ग चिन्ह बनता है उसमें ममता का भाव होना सो देह की ममता कहलाती है, इसही बात को अब अगली गाथा में सिद्ध करते हैं।

गाथा 410

णावि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहमयाणि लिंगाणि।
दंसण णाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति।।410।।

द्रव्यलिङ्ग के मोक्षमार्गत्व का निषेध — पाखंडी लिङ्ग और गृहस्थलिङ्ग ये मोक्ष के मार्ग नहीं हैं। पाखंडी लिङ्ग कहते हैं 28 मूल गुणों का धारण करना। पा मायने पाप, खंडी मायने नष्ट करने वाला अर्थात् जो पापों को नष्ट कर दे उसका नाम है पाखंडी। तो इन कर्मफल पापों का नष्ट करने वाला है साधु, इसलिए वास्तव में साधु का नाम पाखंडी है। और उस पाखंडी का जो चिन्ह है 28 मूल गुणों का पालन करना सो यह बाह्यरूप रहता है, इसलिए द्रव्यलिङ्गी साधु के जो देहाश्रित क्रिया में ममता रहती है। उसका अर्थ ही यह होता है कि उसका देह में ममत्व है । इसी प्रकार गृहस्थजनों के जो लिङ्ग हैं, क्रियाकाण्ड हैं उन क्रियाकाण्डों में ममता यदि रहे तो उसका भी अर्थ यही है कि उसे पर्याय में देह में ममत्व है।

परद्रव्यरूपता के कारण द्रव्यलिङ्ग के मोक्षमार्गत्व का अभाव — ये लिङ्ग देह के आश्रित हैं, परद्रव्य रूप है। ये मोक्ष के मार्ग नहीं हो सकते। मोक्ष का मार्ग तो स्वद्रव्यरूप है, परद्रव्यरूप नहीं है। दर्शन,

ज्ञान, चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है क्योंकि यह रत्नत्रय भाव आत्मा के आश्रित है, इस कारण स्वद्रव्यरूप है। आत्मा के मोक्ष का मार्ग स्वद्रव्यरूप हो सकता है परद्रव्यरूप नहीं हो सकता। परद्रव्य का बंधन, आश्रय, दृष्टि तो संसार को बढ़ाने वाली होती है। जहाँ निर्विकल्प समाधिभाव नहीं है अर्थात् भावलिङ्ग नहीं है ऐसी स्थिति में चाहे साधुलिङ्ग हो, चाहे गृहस्थलिङ्ग हो अर्थात् चाहे नग्न अवस्था हो और चाहे लंगोटी चद्दर आदि की अवस्था हो, ये सब मोक्षमार्ग नहीं हो सकते हैं क्योंकि जिनेन्द्रदेवने तो एक शुद्ध बुद्ध आत्मस्वभाव के आलम्बन को ही मोक्ष का मार्ग कहा है। वह है परमात्मतत्त्व के श्रद्धान् ज्ञान और अनुभवन रूप निज कारणसमयसार का आलम्बन। वह किस रूप होता है? वह परमात्मतत्त्व के श्रद्धान ज्ञान और अनुभवनरूप होता है। इसी को कहते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र।

मुक्तियत्न की जिज्ञासा — जिनेन्द्र देव ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता को मोक्ष का मार्ग कहा है। जब ऐसी बात है कि देहाश्रित लिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु आत्माश्रित भाव ही मोक्ष का कारण है। तब मोक्ष की प्राप्ति के लिए भव्यपुरुषों को कौनसा यत्न करना चाहिए, ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्यदेव समाधान करते हैं।

गाथा 411

तम्हा दु हित्त लिंगे सागारणगार एहिं वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे।।411।।

स्वरूपदृष्टि में संकटमोचनता का स्वभाव — जब की देहाश्रित लिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है, द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है, इस कारण समस्त द्रव्य लिङ्गों का त्याग करना अर्थात् द्रव्यलिङ्ग की ममता का त्याग करना चाहिये व दर्शन ज्ञानचारित्र में ही अपने आत्मा को लगाना चाहिए, क्योंकि छुटकारे का मार्ग यही है। अभी लौकिक बातों में भी देख लो यदि आप किसी प्रकार की चिंता में बैठे हों, धनहानि हो गयी हो या अन्य अनिष्ट आपत्ति आयी हो, चिन्तातुर बैठे हों तो जिस काल इस देह के और देह के सम्बन्ध में हुए परद्रव्यों की बात भूलकर आत्मा के सहजस्वभाव को जब निरखने लगे तो उस काल में आप को कुछ संकटों से मोक्ष हो जाएगा। यह मोक्ष है सर्वथा संकटों से छूट पाना। और सम्यग्ज्ञान होने पर जब तक छद्मस्थ अवस्था है तब तक। जब जब यह ज्ञानस्वभाव का उपयोग करता है तब यह संकटों से छूट जाता है। फिर उपयोग बदल गया, बाह्य में लग गया तो फिर संकट आ गये, आयेंगे। संकटों से मुक्त होने का उपाय दर्शन ज्ञान चारित्र में अपने आप को लगाना है।

समीचीनता — दर्शन क्या है? परद्रव्य से भिन्न, परभाव से भिन्न एक सहज ज्ञायकस्वभावरूप अपने आप 'यही मैं हूँ' ऐसी प्रतीति करना और इसकी ही रुचि करना यह है आत्मदर्शन। सम्यग्दर्शन वस्तुत: ज्ञान की स्वच्छता को कहते हैं। ज्ञान में मल पड़ा हुआ है तो वह है मोह का, मिथ्या भाव का। विपरीत आश्रय न रहे ऐसी स्थिति में जो स्वच्छता प्रकट होती है उसी का नाम सम्यक्त्व है अर्थात् परमार्थ का झक्काटा है। सम्यग्दर्शन ज्ञान की ऐसी स्वच्छ स्थिति का नाम है और सम्यग्ज्ञान ऐसे स्वच्छ वर्त रहे ज्ञानका, जानन का नाम है और सम्यक्चारित्र ऐसे स्वच्छ बर्त रहे ज्ञान की वर्तना का नाम है। हे आत्मन् !

धुनि बनावो अपने आत्मदर्शन, आत्मज्ञान और आत्मरमण की। इस धुनि के रहते हुए जो इतने ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोशिशें होंगी उनमें यह सागार लिङ्ग और अनागार लिङ्ग ये अवश्य आयेंगे, पर उन लिङ्गों में ममता न करना।

पर्यायबुद्धि का अंधेरा — भैया ! बड़ी कठोर साधना करने पर भी 11 अंग नौ पूर्व का पुष्कल परिपूर्ण पुष्ट ज्ञान होने पर भी अन्तरङ्ग में मिथ्या भाव रह सकता है, ऐसी पर्यायबुद्धि की सूक्ष्मता है कि उसको पकड़कर नहीं बताया जा सकता है और न उन ज्ञानी पुरुषों की ही पकड़ में आ पाता है। जो 11 अंग 9 पूर्व का विशद ज्ञान कर रहे हैं। अब कौनसा भाव रह गया है? यदि इसकी परख युक्ति से करनी है तो यह जान लो कि जो मोटा भाव अपनी समझ में मिथ्यात्वविषयक आ रहा है कि इसका नाम है मिथ्यात्व, तो उस ही जाति का संक्षिप्त कोई भाव रहता है, जिस का नाम है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व की एक ही पद्धति है। फिर शाखाएँ अनेक फूट जाती हैं। मिथ्यात्व की पद्धति है अपनी पर्याय में 'यह मैं हूँ'ऐसी प्रतीति करना। अब इस ही परिभाषा को आप सर्वत्र घटाते जायें।

पर्यायबुद्धि का सूक्ष्म भेष – जो व्यक्ति तीव्रमोही है उसमें भी यही परिभाषा घटेगी और 11 अंक 9 पूर्व के पाठी द्रव्यलिङ्ग जो साधु है उनमें भी यही परिभाषा घटेगी—पर्याय में आत्मबुद्धि करना। यह व्यक्त मिथ्यादृष्टि देह में ममता करता है। धन वैभव को सकारते हैं, समेटते हैं, उसमें प्राणबुद्धि बनाया है और यह आगमपाठी, अपनी अन्तर भावना के अनुसार सच्चाई के साथ साधुव्रत पालने वाला, 28 मूलगुणों में कोई दोष और अतिचार नहीं हो पाते, ऐसे बड़े विशुद्ध चारित्र से बाह्य चारित्र से अपना जो साधन बनाये हुए हैं ऐसे द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि में भी पर्याय में आपा मानने की बात बड़ी हुई है। यद्यपि वहाँ इतनी मोटी बात नहीं नजर आती कि देह को वह कहता हो कि यह मैं हूँ, बल्कि शत्रु के द्वारा कोल्हू में भी पेल दिया जाये तो उस समय भी वह साधु यह भाव नहीं लाता कि यह मेरा दुश्मन है, उस के प्रति वह अनिष्टपने का ख्याल नहीं करता है। इतना तक उस साधु पुरुष का विशुद्ध अभिप्राय रहता है। इतने पर भी कैसी पर्यायबुद्धि सूक्ष्मता से पड़ी हुई है कि उनके गुणस्थान मिथ्यात्व ही रहता है। कोल्हू में पिलता हुआ यदि यह प्रतीति रखे है कि मैं साधु हूँ, मुनि हूँ, मुनि को रागद्वेष न करना चाहिए। मुनि को तो मित्र और शत्रु सब एक समान हैं—ऐसा परिणाम, ऐसी प्रतीति अन्तर में साधु की हुई है और चिदानन्दस्वरूप निजतत्त्वों का भान भी नहीं है तो वही तो मिथ्यात्व है क्योंकि जो वर्तमान परिणमन है, साधु अवस्था है उस साधु पयार्य में आपापने की बुद्धि हो गई है कि मैं साधु हूँ।

द्रव्यलिङ्गी की पर्यायबुद्धता- जैसे कोई कहता है कि मैं गृहस्थ हूँ, अमुक मुन्ना का बाप हूँ, अमुक का रिश्तेदार हूँ, अमुक गांव का वासी हूँ, अमुक अधिकारी हूँ, ऐसे ही उस द्रव्यलिङ्गी साधु ने भी ऐसा समझा है अपने बारे में कि मैं साधु हूँ। उसे यह खबर नहीं है कि मैं साधु नहीं हूँ, मैं गृहस्थ भी नहीं हूँ, और तो बात जाने दो, मैं मनुष्य तक भी नहीं हूँ, तो साधु तो कहलायेगा कौन? मैं एक ज्ञायकस्वभावी चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हूँ। यह प्रतीति नहीं आ पाती और बाह्य व्रत तप आचरण की बड़ी संभाल भी की जाती है, पर द्रव्यलिङ्ग में उसे ममता है, इस कारण उस के मोक्षमार्ग नहीं बन पाता। जब कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा जिनेन्द्रदेव निरूपण करते हैं।

आत्महितार्थी का कर्तव्य – भैया ! तब क्या करना? हे भव्य पुरुषों ! निर्विकार स्वसम्वेदनरूप भावलिङ्ग से रहित जो ये बहिरङ्ग द्रव्यलिङ्ग है, गृहस्थों के द्वारा धारण किए गए अथवा साधुवों के द्वारा धारण किए गए इन लिंङ्गों को छोड़कर याने इन पर्यायों में ममता को न करके अपने आत्मा को मोक्ष के मार्ग में लगावो। वह मोक्ष मार्ग क्या है? असीम ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्तिस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्व के यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप अभेद रत्नत्रय में, मोक्ष के मार्ग में इस अपने आत्मा को युक्त करना। देखो जिस संग में हो जिस समागम में हो, वे परिकर आप को हितरूप नहीं हैं, आप को शरण भूत नहीं हैं। आप स्वयं एक सत् हैं, कुछ समय से इस पर्याय में रह रहे हैं। कुछ ही समय बाद इस पर्याय को त्याग देंगे, आगे की यात्रा में बढ़ जायेंगे। फिर यहाँ क्या रहा? यहाँ का यह सब कुछ यहाँ भी कुछ नहीं है, पहिले तो क्या था और आगे क्या होगा? इस इन्द्रजाल से ममता को हटा लेने में ही कुशलता है। इस आत्मा की कुशलता निर्मोह होने में है। मोह करके, राग करके कुछ यहाँ के परिग्रहों में कुछ व्यवस्था या वृद्धि करके अपने को चतुर मानना, यह एक बड़ा धोखा है, अकुशलता की बात है। गृहस्थ को यह भी करना पड़ता है, पर उसका परमार्थ कर्तव्य तो रत्नत्रय की उपासना ही है।

साधु का आंतरिक जागरण — भैया ! आगम में बताया गया है कि साधुवों को नींद अन्तर्मुहूर्त तक आती है क्योंकि निद्रा एक प्रमाद है और प्रमत्त अवस्था साधु के अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं चलती। अन्तर अन्तर्मुहूर्त में प्रमत्त अवस्था और अप्रमत्त अवस्था बदलती रहती है, यदि अन्तर्मुहूर्त से अधिक निद्रा में मग्न हो गया तो उस साधु के गुणस्थान भंग हो जाते हैं। उस के बाद या तो उसे अप्रमत्त गुणस्थान में पहुंचना चाहिए या फिर नीचे के गुणस्थान में गिरना चाहिए। प्रमत्त गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता। तो जहाँ इस साधु का इतनी सावधानी का परिणाम है, अन्तर्मुहूर्त बाद फिर अप्रमत्त अवस्था में पहुंचता है। शुद्धोपयोग का प्रेक्टिकल रूप से पदवी के अनुसार अन्तर्मुहूर्त में स्पर्श किया करता है। उस साधु की महिमा को कौन कह सकता है? वह ही तो परमेष्ठी में शुमार किया गया है। अपने आत्मतत्त्व का श्रद्धान् ज्ञान, आचरणरूप अभेदरत्नत्रय में पहुंचने की स्थिति साधु के क्षण क्षण में हुआ करती है।

साधु के दीर्घनिद्रा न आने का कारण — साधु महाराज को लम्बी नींद क्यों नहीं आती? वैसे तो प्रमत्त गुणस्थान का जो काल अन्तर्मुहूर्त है वह तो सैकण्डों का ही है। मान लो लौकिक व्यवहार की दृष्टि से बहुत अधिक सोते भी तो लोकव्यवहार का अन्तर्मुहूर्त मान लो। पौन घंटे तक सो लिया, इसके बाद तो नींद रह नहीं सकती। तो कम क्यों सोते हैं, इसका कारण है कि उन को एक तो भय लगा है और एक आनन्द मिला है। इन दो कारणों से ज्ञानी संतों को, साधुजनों को निद्रा अधिक देर तक नहीं आती।

साधु के दीर्घनिद्रा न आने का प्रथम कारण — जैसे यहाँ पर किसी गृहस्थ को भय लग जाय डाकु का या किसी पशु का तो उसे नींद नहीं आती। तो साधु को एक महान् भय लगा है कि विषयकषाय ना आ जायें, कर्मबंध न हो, जन्म मरण का दुःख लगा है उसका उसे ख्याल है, उसे वह आपत्ति मानता है, तो संसार में रूलने का उसे भय लगा है। अपने स्वरूप से चिगकर बाह्य पदार्थों में जहाँ ही इसने रागद्वेष किया वहाँ महान् संकट हो जाते हैं ऐसा उसे पूरा ध्यान है। परमार्थ संकट से उसे भय लगा है। निर्भय तो यह मोही बने हुए हैं जिन्हें रंच भय नहीं है और कोई कोई कह भी देता है कि कल नरक जाना है सो आज चले जायें, क्या परवाह है? अरे जो निर्भय है वह ही तो पैर पसारकर अच्छी तरह

सोवेगा। साधु जनों को तो बड़ा भय है संसार के विषयकषायों का, कर्मबंधों का। इस कारण से साधु को लम्बी नींद नहीं आती है।

साधु को दीर्घनिद्रा न आने का द्वितीय कारण - साधु को दीर्घनिद्रा न आने का दूसरा कारण है आनन्द का। उन को स्वाधीन आत्मानुभव का ऐसा अनुपम आनन्द मिला है कि उस आनन्द की धुनि में वे जल्दी जल्दी जागते रहते हैं। जैसे बड़ी तेज खुशी हो तो आप को नींद नहीं आती है, शरीर थक जाता है, बहुत समय हो जाता है, पलक झपकती है, फिर जल्दी नींद खुल जाती है क्योंकि किसी बात की बड़ी तेज खुशी है। तो साधुजनों के आत्मीय आनन्द की प्राप्ति की इतनी बड़ी प्रसन्नता है कि उस प्रसन्नता से वह क्षण भर भी ओझल नहीं हो सकता। ऐसे बड़े सावधान साधुसंत निर्विकल्प समाधि के रुचिया भावलिङ्ग में प्रवृत्त होते हैं।

परभाव का परिहार और स्वभाव का आश्रय —आचार्यदेव यहाँ उपदेश कर रहे हैं कि तू देह में, देह के आश्रित लिङ्ग में, देह के क्रियाकाण्डों में ममता मत करो। आखिर वही करना पड़ेगा। यद्यपि साधु भोजन को जायेगा, चलना पड़ेगा, फिर भी इतनी ज्ञानसाधना तो होती ही है कि प्रवृत्ति तो उसकी भी कदाचित् वही होगी किन्तु प्रवृत्ति करते हुए भी उसमें ममता न करेगा। तो द्रव्यलिङ्ग ही मोक्षमार्ग है, ऐसी दृष्टि मत दो। जैसे गृहस्थों को उपदेश है कि घर का काम करते हुए भी उस काम में ममता न करो, इसी तरह साधुवों को उपदेश है कि तुम व्रत, तप, समिति का पालन करके भी व्रत, तप समिति के आचरण में ममता न करो और अपने सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की प्रतीति और उसकी ही ज्ञप्ति और उसकी ही अनुभूति में रहो। इस प्रकार इस प्रसंग में आत्मा का दर्शन ज्ञान चारित्रादिक आत्मा को ही कहा गया है और वही मोक्षमार्ग है।

परद्रव्यरूपता के मोक्षमार्गत्व का निषेध —हे मुमुक्ष जीवो ! मोक्षमार्ग तुम्हारा यह स्वयं आत्मा ही है। तुम इस मोक्षमार्ग की सेवा करो। इसको छोड़कर अन्य भाव, अन्य द्रव्य, अन्य प्रसंग ये मोक्ष के मार्ग नहीं हैं। इन की उपासना में मत रहो। ऐसा यहाँ आचार्यदेव आत्मा में ही आत्मस्वरूप से परिणमने वाले आत्मा के एकत्व की अनुभूति में पहुंचाने के लिये कितना निर्भय होकर स्पष्ट बात कह रहे हैं। उस ही लिङ्ग के सम्बन्ध में कितना निर्भय होकर बोलते हैं कि यह चिन्ह क्रियाकाण्ड ये सब आचरण ये मोक्षमार्ग नहीं है। इनसे ममत्व हटाकर अन्तर में अपने उपयोग को ले जाकर शुद्ध ज्ञायक स्वरूप का अनुभव करो। इस आत्मा के स्वभाव के एकत्व में परिणम जाना यह ही वस्तुत: मोक्ष का मार्ग है। संकटों से छूटने का उपाय परद्रव्यरूप न होगा किन्तु वह स्वद्रव्यरूप ही होगा, पर की संभाल करके झगड़ा न मिटेगा, खुद की संभाल में ही झगड़ा मिटेगा। अब इस ही उपदेश को और विशेष रूप से कहा जायेगा।

गाथा 412

मोक्खपहे अप्पाणं हवेहि तं चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ।।412।।

आचार्यदेव का मूल उपदेश — हे भव्य पुरूषों ! आत्मा का तत्त्वदर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय ही आत्मा है। इस कारण मोक्षमार्ग के प्रयोग के लिये एक इस मोक्षमार्गस्वरूप आत्मा की सदा सेवा करनी चाहिये। यह आत्मा अनादिकाल से रागद्वेषादिक परद्रव्यों में, परभावों में अपनी ही प्रज्ञा के दोष से ठहराते हुआ चला आ रहा है,फिर भी संकटों से दूर होना है तो अपनी ही प्रज्ञा के गुण से उन रागद्वेषादिक भावों से अपने को हटाकर दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप में अपने इस आत्मा को अतिनिश्चलरूप से अवस्थित करो ।

मुक्ति के उपाय में एकमात्र निर्णय — यह जीव संसार में रुलता है तो अपनी प्रज्ञा के दोष से और संसार के समस्त संकटों से छूटता है तो अपने ही प्रज्ञा के गुणों से। सो प्रज्ञा के दोष से अब तक रुलता आया। अब प्रज्ञा में ऐसा गुण प्रकट करें, ऐसा उत्कर्ष हो कि इन सर्वविषयक बाधावों से निवृत्त होकर अपने आप में अपने को लगा सकें। यह केवल अन्तर में भावात्मक प्रज्ञा की बात है। इसमें किसी परद्रव्य की अपेक्षा न चाहिए। मेरे पास इतना धन हो तो मैं इस धर्म को कर सकूँ, ऐसी धर्म करने में धन की अपेक्षा नहीं है, मेरे कुटुम्ब परिजन के लिए इतना हो तो धर्म कर सकूँ, ऐसी आत्मा को कुटुम्ब परिवार की अपेक्षा नहीं है। धर्म तो इस ज्ञानस्वभाव के दर्शन के आश्रय से अपने आप में ज्ञानात्मक होता है। इस कारण एक ही निर्णय रखो, अपने इस आत्मतत्त्व को अपने आप में अति निश्चलरूप से ठहरावो और समस्त अन्य चिन्तावों का निरोध करके एक उपयोगमय इस आत्मा में ही एकाग्रचित्त होकर इस दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप आत्मा को ही ध्यावो।

परमार्थ शरण- हे भव्य ! तेरे आनन्द के लिए, तेरे कल्याण के लिए तुझे संकटों से बचने के लिए मात्र एक तेरे सहज अंतस्तत्त्व का आलम्बन शरण है। इस शरण को छोड़कर जगत में कहीं भी भटक कर देख लो, खोज लो, परमाणु मात्र भी अन्य पदार्थ कुछ भी शरण नहीं हो सकते। कैसे शरण हों? प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप रूप रहते हैं। इस कारण तेरा इस लोक में अन्य कोई आत्मा शरण नहीं है। देखो इस ज्ञानामृत का पान करते रहोगे तो तुझे कोई संकट न होगा। और इस ज्ञानामृत को छोड़कर अज्ञान कल्पना विष का पान करोगे तो खुद ही बरबाद होओगे, संसार में रुलोगे। जो बन सकता हो सो करो और जो न बन सकता हो तो करने की प्रतीति तो दृढ़ रखो कि मेरा आत्मा ही मेरे को शरण है, इस आत्मा की सहजवृत्तिरूप से हमें परिणति करना है। मुझसे सर्व परिजन मित्रजन उतने ही जुदे हैं जितने जुदे संसार के अन्य समस्त जीव हैं। न अन्य जीवों से मुझे कुछ मिलेगा और न इन परिजनों से मुझे कुछ मिलेगा। बल्कि अन्य जनों से बिगाड़ तो न होगा, परिजनों के राग से एक बिगाड़ ही हाथ रह जायेगा, लाभ कुछ न होगा।

ज्ञानसंचेतन का उद्यमन - भैया ! अन्य सर्वचिन्तावों को छोड़ो और समस्त चिंतावों का निरोध करके, अपने आत्मा में एकाग्र होकर एक दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक आत्मा को ही ध्यावो और चेतो तो इस रत्नत्रय स्वरूप आत्मा को ही। एक इस ज्ञानचेतना के अतिरिक्त अन्य सर्व चेतना दो भागों में विभक्त है- कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। इसका वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक किया गया है। अज्ञान को छोड़ कर अन्य भावों में अन्य पदार्थों में मैं इसे करता हूँ, इस प्रकार की भावना का नाम कर्मचेतना है। ज्ञान के

अतिरिक्त अन्य भावों में, अन्य द्रव्यों में मैं इसे भोगता हूँ ऐसी चेतना का नाम कर्मफलचेतना है। इन दोनों चेतनावों का संन्यास करके शुद्धज्ञान चेतनामय होकर इस रत्नत्रयस्वरूप आत्मा को ही चेतो।

कर्तव्य की जीवन में करणीयता- जब कभी परिजनों की ओर से, मित्र जनों से धोखा होता है तो हैरान होकर उन से अलग होकर रूसे से बैठ जाते हैं। यदि ज्ञानबल से पहिले ही समस्त पदार्थों को भिन्न अहित असार जानकर उन की उपेक्षा करके अपने में विश्राम कर लें तो इसका कुछ सुफल भी है। जैसे लोग मरते समय सब कुछ छोड़ जाते हैं, उन्हें छोड़ना ही पड़ता है। यदि जीवन में कुछ संन्यास करें तो इसे कुछ सुफल भी मिले अथवा जैसे मरते समय हजारों लाखों का दान किया जाता है, यदि जीवन में ही थोड़ा ही थोड़ा दान करने की प्रकृति बनाए तो उसे कुछ विशिष्ट सुफल भी मिलता है। मरते समय तो यह सब कुछ नजर आ रहा है कि छूट तो रहा ही है, इस द्रव्य को ऐसी जगह लगा दें जिस से हमारा नाम चले। जान रहे हैं कि छूट तो रहा ही है, जरा कुछ भले भी बन जायें लोगों के। यह तो रिपट परे की हर गंगा जैसा हुआ। विवेक पूर्वक प्रज्ञा के गुणों से अपने जीवन में वे सब बातें की जाती रहें जो धर्म बुद्धि वाले पुरुष मरते समय सोचते हैं तो उन्हें कुछ मार्ग भी मिलता है।

चिद्ब्रह्मविहार का संदेश- अज्ञानी जीव कहां-कहां भटक रहा है, किन-किन क्षेत्रों में विहारकर, मरकर, जीकर किन-किन समयों में इसने अपना रंग बदला, किन-किन भावों में यह विहार करता रहा, रुलता रहा, घूमता रहा? अरे उन सब घटनावों को त्यागकर उन की ओर दृष्टि न कर इसको दर्शनज्ञानचारित्रमयरूप आत्मतत्त्व में विहार करा। देख, द्रव्य के स्वभाववश से यह दर्शनज्ञानचारित्रमय गुण बढ़ते रहते हैं। इस आत्मा का नाम ब्रह्म है, अर्थात् जिस के गुणों के बढ़ने का स्वभाव हो उसे ब्रह्म कहते हैं। जैसे कोई किवाड़ ऐसे होते हैं कि लगे ही रहते हैं, खोलने के लिए श्रम करना पड़ता है। उसमें ऐसा ही एक स्प्रिंग वाला पेंच लगा होता है कि वह अपने आप लगने के लिए तैयार बना रहता है। यों ही आत्मा का यह ब्रह्मगुण चैतन्यस्वभाव अपने उत्कृष्ट विकास से बढ़ने का ही स्वभाव रखता है। ये विषय कषाय, ये कर्मों के उदय निमित्तरूप से, साक्षात् रूप से आक्रामक किए हुए हैं, दबाये हुए हैं। इस कारण ये दबे पड़े हैं। जरासा आक्रामक हटे तो, इसके बढ़ने का ही स्वभाव है और यह बढ़ता ही है। इसी कारण इस चैतन्य को चित्ब्रह्म कहते हैं।

परद्रव्यों में विहार का निषेध — आत्मद्रव्य के स्वभाव के वश से आत्मा के तो गुणों का प्रतिक्षण बढ़ते रहने की शीलता है, अत: आत्महितार्थी दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक परिणामी होकर दर्शन ज्ञान चारित्र में ही विहार करता है। हे भव्य पुरुषों, बहुत जगह भटके, बहुत जगह रुले, अनेक विभावों में अनेक क्षेत्रों में, अनेक प्रसंगों में अपने को भटकाया है, अब उन सब घटनावों को त्यागकर एक निज ज्ञायक स्वरूप में ही विहार करो। अर्थात् अपने उपयोग को इस ज्ञायकस्वरूप के दर्शन में ही लगाओ। देखो अब किसी भी परद्रव्य में तू जरा भी मत विहार कर। मनाक् भी विहार मत कर। हिन्दी में बोलते हैं ना, तनक मनक। वह मनक शब्द अत्यन्त रंच बात को बताने वाला है। तू परद्रव्यों में मनाक् भी विहार मत कर। किन किन परद्रव्यों में? ये बाहर पड़े हुये खम्भा, चौकी, मकान इन में विहार के मना करने की, बात नहीं कही जा रही है, वे तो अत्यन्त पृथक् ही हैं, किन्तु स्वक्षेत्र रूप से उपाधि बन बनकर चारों ओर से सर्व

आत्मप्रदेशों में दौड़कर जो परद्रव्य आ रहे हैं अर्थात् जो ज्ञेयाकार बन रहे हैं उन परद्रव्यों में अपने आप में मौजूद हुए परद्रव्यों में तू विहार मत कर।

आत्मा द्वारा बाह्य पदार्थों में विहार की अशक्यता — इन बाह्य पदार्थों में तो कोई जीव विहार कर ही नहीं सकता। अपना आत्मा किसी परद्रव्य के स्वरूप में प्रवेश कर जाय, विहार करने लगे ऐसा हो ही नहीं सकता, किन्तु ज्ञेयाकार रूप से सर्व ओर दौड़ रहे इन परद्रव्यों में तू विहार मत कर। इस आत्मा के उपयोग में जो ये सर्व पदार्थ आ जाते हैं कोई बता सकता है कि इस ज्ञान में सामने से आता है कि पीछे से आता है कि ऊपर से आता है कि नीचे से आता है। कैमरे के फोटो में कुछ ऐसा मालूम होता है कि फोटो तो इस द्वार से आया है। ज्ञान में यह ज्ञेयाकार उस फोटो के मानिन्द है, वह किस ओर से आया करता है? भले ही हम आँखों से देखते हैं और इन पदार्थों का ज्ञान करते हैं किन्तु ये पदार्थ ये ज्ञेय आँख के द्वार से नहीं धंसते हैं किन्तु ये समस्त ज्ञेय सर्व ओर से प्रवेश करते हैं। तो चारों ओर से धावा बोलने वाले इन समस्त परद्रव्यों में तू रंच भी विहार मत कर। अवश हो कर बड़ी ही जल्दी दौड़कर कोई घुस जाय तो उसे धावा बोलना कहते हैं।

विभावों में विहार का निषेध — द्रूतगति से दौड़कर आने में संस्कृत में धाव धातु का प्रयोग होता है, सर्वत: एव प्रधावत्सु। आत्मा में सर्व ओर से धावा बोलने वाले परद्रव्यविषयक ज्ञेयाकारों में तू विहार न कर, किन्तु इन ज्ञेयाकारों का आश्रयभूत जो एक स्वच्छ ज्ञान स्वभाव है तू ऊपर के जल से हटकर, इस भीतर के गंभीर जल में डुबकी लगाकर भीतर में अपने स्वच्छ ज्ञानस्वभाव के रस में मग्न हो। यहाँ बाहर बिहार मत करो, बाहर से मतलब शरीर से बाहर की बात नहीं कही जा रही है किन्तु अपने ही ज्ञानसिन्धु में ऊपर से तैरने वाले ज्ञेयाकारों को बाहर बताया जा रहा है और उन बाहर तैरने वाले ज्ञेयाकारों के स्वरूप से विविक्त, इसके आधारभूत, जिस पर ये तरंगें उठी हैं ऐसा भीतर में पड़ा हुआ निस्तरंग जो स्वच्छ ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभाव में विहार कर। उसका उपाय क्या है कि उसको ज्ञानरूप से ही अचलितपने के ढ़ंग से अवलम्बित करो।

आत्महित के अर्थ सकलसंन्यास — जैसा देखेगा तैसा ही पावेगा। अपने आप के सहज स्वभाव का अवलम्बन दृढ़ता से करके अब तू ज्ञेय उपाधि के रूप से ज्ञेयरूप से चारों ओर से धायकर आये हुए इन परद्रव्यों में तू रंच भी विहार मत कर। एक दर्शनज्ञानचारित्रात्मक ही मोक्ष का पथ है। भला बतावो जो ज्ञान में आया हो परद्रव्यविषयक विकल्प तरंग, उनमें जब विहार करने का मना किया जा रहा है वहाँ तन, मन, वचन की चेष्टा रूप जो असहज प्रवृत्तियां है, बाह्य व्रत हो, बाह्य तप हो, बाह्य संयम हो, उनमें विहार करने का, रमने का तो विवेकी इच्छा नहीं करेगा। इस भव्य पुरुष ने सर्वोत्कृष्ट अनुपम आनन्द का लाभ लिया है, किसी कीमत पर यह इसको छोड़ना ही नहीं चाहता। हजारों लाखों मनुष्य चरणों में गिर रहे हैं, पूजा कर रहे हैं, स्तुति गान गा रहे हैं, भक्ति कर रहे हैं, लेकिन यह भव्य ज्ञानी संत सर्वोत्कृष्ट सारभूत इस चिदानन्दमय स्वरूप की दृष्टि का परित्याग नहीं करना चाहता और लोगों की प्रशंसा में हाँ में हाँ मिलाकर अपने को मस्त नहीं बनाना चाहता। उन सबसे यह विविक्त ही रहता है। पाया है कोई ऐसा अमूल्य निधान जिस के कारण यह जीव अपने में प्रसाद पाये हैं। किसी घटना में यह आकुल व्याकुल नहीं होता। हो गया ऐसा ठीक है। वह उस ही पदार्थ में हो गया।

परपरिणति से आत्महानि का अभाव – भैया ! यह बाह्य पदार्थ छिद जावो पर क्या यह निज आत्मतत्त्व उनके छिदने से छिद जाता है? नहीं। ये बाह्य पदार्थ छिद जायें, भिद जायें, टुकड़े- टुकड़े हो जायें तो क्या यह आत्मतत्त्व भी खण्ड-खण्ड हो जाता है? कोई इन बाह्य परिग्रहों को कहीं भी ले जावो, क्या उनके कहीं खोये जाने से यह आत्मा भी खोया जाता है? और खोये जाते तो परपदार्थ भी नहीं है, आप के पास कोई पदार्थ नहीं रहा तो उसे आप कहते हैं कि यह पदार्थ खो गया। अरे कहाँ खो गया? क्या उसकी सत्ता मिट गयी? क्या उसका कोई जाननहार नहीं रहा? अरे वो तो जहाँ होगा वहीं परिपूर्ण है। कहाँ खोया? ये बाह्य पदार्थ कहीं चले जावो, कोई ले जावो, तिस पर भी कोई परिग्रह मेरा कुछ नहीं है। मैं तो परिपूर्ण अनादि अनन्त चिदानन्दस्वरूप यह ज्यों का त्यों हूँ। ऐसे अपने ज्ञानानन्द दर्शन, ज्ञान चारित्रात्मक आत्मतत्त्व में ही उपयोग करो।

आत्मवर्तना — शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले अर्थात् रागद्वेषादिक की जहाँ तरंग नहीं है ऐसा जानन और देखन का ही जिस का स्वभाव है ऐसे ज्ञानदर्शनस्वभावी निज आत्मतत्त्व को सहज स्वभाव के रूप में अपनाना, उसका ही ज्ञान करना तथा उसमें ही रमण करना यह है अभेदरत्नत्रय स्वरूप आत्मवृत्ति मोक्ष का मार्ग है। उस ही मोक्षपथ का अनुभव करो निर्विकल्प स्वरूप में ठहर करके अपने इस रत्नत्रयस्वरूप आत्मतत्त्व की भावना करो, उस ही में अपनी बर्तना बनावो। देखो अन्य विकल्पों में चाहे शुभ हो अथवा अशुभ हो, चाहे वे देखे सुने अनुभवे हों, भोगों की इच्छा रूप निदान बंध हो, अन्य किसी भी प्रकार के रागादिक भाव हों उनमें मत जावो अर्थात् उनमें परिणति मत करो। ऐसी हिम्मत तो बनाओ जो कि परिणमन इस समय हो रहा है वह भी मेरा स्वरूप नहीं है।

आत्मतत्त्व की परिपूर्णता — देखो वह प्रभु पूर्ण है, यह मैं आत्मतत्त्व भी पूर्ण हूँ और इस मुझ पूर्ण से प्रतिसमय पूर्ण ही पूर्ण व्यक्त होता है। मेरी जो कुछ भी परिणति है वह अधूरी नहीं होती है। प्रतिसमय जो परिणमन है वह पूरा ही परिणमन है। आधा काम कुछ नहीं कहलाता है। जैसे एक द्रव्य आधा नहीं होता, एक प्रदेश भी आधा नहीं होता, एक समय भी आधा नहीं होता, इस ही प्रकार कोई भी एक परिणमन आधा नहीं होता। जो होता, है वह पूरा ही होता है। इस मुझ पूर्ण से पूर्ण ही प्रकट होता है। नया पूर्ण प्रकट होते ही पुराना पूर्ण का पूर्ण ही पूर्णरूप से विलीन हो जाता है और देखो इस मुझ आत्मतत्त्व से ये पूर्ण-पूर्ण सब निकल भागते है। तिस पर भी मैं सदा पूर्ण का पूर्ण ही रहता हूँ। ऐसे परिपूर्ण चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व में ही तू विहार कराये चारों ओर से दौड़कर इस ज्ञान में जो ज्ञेयाकार बन जाते हैं उन ज्ञेयाकारों में विहार मत कर। देख तू ज्ञानस्वभावमात्र है, तू ज्ञेयाकार नहीं है। होता है तुझ में यह चित्रण, पर तेरा स्वरूप नहीं है, इस ज्ञान में ज्ञेयाकार आया, आश्रव हुआ। इस ज्ञान में ज्ञेयाकर न आने दो किन्तु ज्ञानाकार ही रहने दो। आया है ज्ञेयाकार तो झड़ने दो, और तू ज्ञान संचेतन रूप से ही रह जा। यह आध्यात्मिक तत्त्व की व्यवस्था है। तू किन्हीं भी परद्रव्यों में विहार मत कर।

आत्मसेवा में ही आत्मानुभवन — विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावी आत्मतत्त्व का श्रद्धान ज्ञान और आचरण होना ही मोक्ष का मार्ग है, यह बात पूर्णतया नियत है। मुक्ति का उपाय अन्य कुछ नहीं है। जो पुरुष उस ही मोक्षमार्ग में स्थिति करता है उसका ही सदैव ध्यान करता है उसको ही चेतता है और इस ही आत्मविलास में विहार करता है, ऐसे परम अनुराग के साथ किसी भी द्रव्यांतर को, किसी भी भावंतर को

न छूता हुआ अपने में रमाता है वह नियम से अपने आत्मा का जो निज सहज स्वरूप है उसका अनुभवन कर लेता है।

ब्रह्म की विकासपरता — जैसे एक कथानक कहा था ना कि मुनि और धोबी दोनों लड़ पड़े और धोबी का तहमद भी खुल गया था उस समय मुनि कहता है कि अरे कोई देवता नहीं है क्या, कोई देवता जानता नहीं है क्या कि यहाँ मुनि पर उपद्रव हो रहा है? तो देवतावों का उत्तर आया कि हम तो पहिले से तैयार खड़े हैं सहायता के लिए, पर हम नहीं समझ पा रहे हैं कि इन में मुनि कौन है और धोबी कौन है? इसी प्रकार अपने आप में बसा हुआ यह समयसार मानो कह रहा है कि हम तो आनन्द को लिए ही तैयार खड़े हैं, तुम को आनन्द देने वाले हम ही हैं, पर तू उल्टा चल रहा है सो तू इस आनन्द को प्राप्त नहीं कर पा रहा है। यदि तू मेरी ओर अपना मुख कर ले तब फिर तुझे आनन्द देने के लिए मेरा वश चलेगा। तू मेरी और मुख नहीं करता सो मेरा वश भी तुझे आनन्द देने के लिए नहीं चल पाता। देख तू मेरी ओर मुख कर, तब तो तेरा विलास और विकास होगा ही। तू सदा के लिए आनन्दमग्न होगा।

ममता के अभिशाप – भैया ! कुछ समय को चर्चा चलती है, पर ढाक के तीन पात हो जाते हैं। कोई कितना ही प्रस्ताव करे, मगर ढाक के पेड़ में एक छोटी डाली में जब पत्ते होंगे तीन ही होंगे। ऐसी ही प्रकृति इन मोहियों में पड़ गयी है कि तिकड़म में ही सदा रहेगा। जो अपने इस आत्मतत्त्व का सेवन करता है उसको ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। अपने इस स्वयं के स्वरूप रूप मोक्षमार्ग को छोड़कर व्यवहारमार्ग में अपने आत्मा को स्वच्छंदतया छोड़कर इस द्रव्यलिङ्ग में इस निर्ग्रन्थ भेष में जो अपनी ममता को ढोते हैं वे तत्त्वज्ञान से शून्य हुए इस जगत में रुलते रहते हैं। अब तक भी वे अपने आप में ब से हुए समय के सार को नहीं देखते हैं ।

ज्ञाननेत्रपर ममता की फुली--- भैया! जगत के जीव बाह्य पदार्थ का करते कुछ नहीं हैं किन्तु ममता को ही ढोते रहते हैं। किसी बाह्य चीज का इसमें बोझ नहीं आता है और न किसी बाह्य बातों को ढोते हैं, किन्तु एक ममत्व को ही ढोते हैं। ऐसे पर्यायव्यामोही अज्ञानीजन समयसार को कुछ भी नहीं देख सकते हैं जो कि हमारी सर्वसिद्धि के लिए पर्याप्त है। स्वभाव की किरणों से जिस का वैभव सुशोभित है, नित्य उदित है, उद्योत रूप है। इसका कोई बाधक नहीं है। ऐसा जो अपने आप में स्वभाव है उस अखण्ड परिणामिक भाव को यह तत्त्वबोध से रहित पुरुष देख नहीं सकता है कि इस आत्मा की कैसी भी निम्न अवस्था हो जाय, फिर भी आत्मा के स्वभाव को कोई ठेस नहीं पहुंचा सकता है। यह जब भी है तब भी अपने स्वभाव में उसही समान है जैसा कि परमात्मा। उस स्वभाव के तत्त्वमर्म से अपरिचित पुरुष कितना भी बाह्य में क्रियाकाण्ड और बाह्य व्रत तप करे किन्तु अन्तर की गुत्थी नहीं सुलझती है। वह अन्तर में कारण परमात्मतत्त्व के दर्शन तो नहीं कर सकता।

त्याग का महत्त्व — जो बाहरी बातों का त्याग करता है उनमें ममत्व नहीं रखता है उस के अन्तर में कोई अपूर्व निधि प्रकट होती है। जैसे घर के 5-7 बालकों में से जो बालक सीधा है, न ऊधम करे, न चीज मांगे, न पैसा मांगे और बड़ी अच्छी प्रकार से रहे, खाने पीने की चीज भी कोई दे तो उसमें राग न करे, मना करे उसको माता पिता अधिक से अधिक क्या दे दूं ऐसा परिणाम रखते हैं और जो लड़-लड़

करके चीज मांगे उस से तो माता पिता चीज छुपाते हैं कि देख न ले। त्याग की महिमा सब जगह है चाहे बालक हो, चाहे कोई हो। यों ही सब कुछ धर्माचरण करके व्यवहार के विभावों को जो मना करता है, न प्रशंसा चाहिए, न प्रतिष्ठा चाहिए, न यश नाम चाहिए, सब को जो मना करता है उस के अन्तर में जो अपूर्व निधि प्रकट होती है और बाहरी चीज मांग ले तो उसको अन्दर की चीज नहीं मिलती है। 11 अंग 9 पूर्व का साधन हो जाने पर, सिद्धि हो जाने पर जब विद्यानुवाद नामक दशम पूर्व की साधना में आता है और अनेक विधाएँ सामने आती हैं और वे प्रार्थना करती हैं कि हम आप के सेविका है, आप आज्ञा करो नाथ! जो हुक्म दोगे उसको पूर्ण करेंगी। तब ये नवाब सब हर्ष के मारे फूले नहीं समाते, बस वहीं से पतन हो जाता है।

माया और परमार्थ का परस्पर विरुद्धत्व — जो संसार के मायामय तत्त्वों में रुचि करता है उसे परमार्थ कहाँ से प्राप्त हो? मा और या तो विरोधी हैं। जो इन्द्रजाल नहीं है वह या है। ऐसा यह अपने आप के तत्त्व का रुचिया इस अखण्ड नित्य उद्योतरूप अपने स्वभाव की प्रज्ञा से प्रागभाररूप इस समयसार को प्राप्त करता है और तत्त्वविमुख पुरुष द्रव्यलिङ्ग में, निर्ग्रन्थ भेष में अथवा गृहस्थभेष में एक ममता को ढोता रहता है। इस ही बात को कुन्दकुन्दाचार्यदेव अगली गाथा में स्पष्ट बताते हैं।

गाथा 413

पाखंडीलिंगेसु ब गिहिलिंगेसु वि वहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममतिं तेहिं ण णायं समयसार।।413।।

द्रव्यलिङ्गव्यामोहियों की अज्ञातसमयसारता- -- जो जीव पाखण्डी भेष में और बहुत प्रकार के गृहस्थ के भेष में ममता को करते हैं वे समयसार को नहीं जानते हैं। उन्होंने समयसार जाना ही नहीं है। पाखण्डी नाम है साधु महाराज का, पर जैसे किसी कंजूस आदमी को कुबेर जी, कुबेर जी कहने लगें तो कुबेर शब्द भी गाली बन जाता है। इसी तरह मोही को पाखण्डी पाखण्डी कहो तो पाखण्डी शब्द भी गाली बन जाता है। वहाँ पाखण्डी शब्द का ऊँचा अर्थ है, साधु परमेष्ठी को पाखण्डी कहते हैं। जो पापों के टुकड़े टुकड़े कर दे उसे पाखण्डी कहते हैं, और गृहस्थ के लिङ्ग हैं नाना प्रकार के। इन चिन्हों में, इन भेषों में जो ममत्व करते हैं उन्होंने समयसार को जाना नहीं।

परमार्थ की अनुपलब्धि से द्रव्यलिङ्ग में ममकारता — मैं श्रवण हूँ, मैं साधु हूँ, मैं श्रमण का उपासक हूँ, इस प्रकार द्रव्यलिङ्ग ही में ममता कर करके, मिथ्या अहंकार कर करके यह मुग्ध प्राणी अपने को बरबाद कर डालता है। कई जगह तो इसी बात पर झगड़ हो जाता है कि देखने आया, मुझे नमस्कार करके नहीं गया। अरे तुम नमस्कार के योग्य ही कहाँ हो जो तुम्हारे यह परिणाम आया कि मैं साधु हूँ। जिस के यह बुद्धि लगी है कि मैं साधु हूँ उसने अपने समयसार स्वरूप को निगाह में ही नहीं लिया, फिर वह साधु कैसे? मैं श्रमण हूँ इस प्रकार का मिथ्या अहंकार अध्यवसायी को तत्त्वज्ञान से दूर रखता है। मैं पूजने के पद वाला हूँ और ये सब पूजने के पद वाले हैं, ऐसा जहाँ परिणम होता हैं वह तो अत्यन्त मलिन परिणाम है। मेरा तो इन्हें सम्मान करना चाहिए। ठीक है, पर यह भी तो बतावो कि जिस

से सम्मान चाहते हो कुछ आप से उस के आत्मा की भी सेवा बनती है या नहीं? नहीं बनती है। ज्ञानी संत की तो शान्तिमुद्रा के दर्शन से भी सिद्धि होती है।

परमार्थदर्शन बिना मुक्तिमार्ग की अप्राप्ति — मैं मुनि हूँ, मैं श्रमण हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं क्षुल्लक हूँ ये सब विश्वास अज्ञान के विश्वास हैं। हां ये सब धर्ममार्ग में बढ़ते हुए इस जीव को एक गुजारे का साधन हैं आत्मसेवा के गुजारे का साधन और शरीरसेवा के गुजारे का साधन। उसमें यह अलंकार करना कि मैं त्यागी हूँ, मैं साधु हूँ, मैं क्षुल्लक हूँ, यह मिथ्या अलंकार है और ऐसा जिस का विश्वास बना है कि मैं आत्मा तो मुनि हूँ उसको जैन आगम में मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसने पर्याय बुद्धता अपनायी है, उसे रंच भी कभी यह अनुभव नहीं हुआ है कि मैं तो सर्वजीवों के सहजस्वरूप के समान शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूँ। इस कारण परमात्मतत्त्व के अनुभव बिना इस जीव को मोक्षमार्ग नहीं हो सकता है।

पर्यायव्यामुग्धगेही व अनगारों में समानता — वह जीव जो अपनी वर्तमान पर्याय में ममता रखता है उस के सम्बन्ध में बताया है कि अपनी पिछी को भी सजाकर रखना साधुपने का दोष है, अपने कमण्डल को भी चिकना चुपड़ा चमकीला रखना और उसे बार-बार देखना ये सब साधुपने के दोष हैं। अपने शरीर को निरखकर यह मैं साधु हूँ सो थोड़ी ऐसी छाती उठ गयी जैसे धन के लाभ वाले धनिक पुरुष की अभिमान से कभी छाती ऊँची उठ जाती है। फिर उनमें और इसमें फर्क ही क्या रहा? इस द्रव्यलिंगी का कहीं वीतराग परिणम नहीं हो गया है, जो कोई पूजा स्तुति बड़ी ऊँची करता हो और उस के एवज में कभी भी ऐसी बात न आती हो, चेष्टा न होती हो, रहने दो भाई, बहुत हो गया और इतना ही नहीं किन्तु अन्तर में उसकी पूजा कराने का उपाय बने जो किसी पंडित से कुछ कह दिया कि तू मेरी पूजा बना देना या कोई मेरे नाम का ग्रन्थ लिख देना आदि बातें ये तो द्रव्यलिङ्गियों से निकली बातें हैं।

अज्ञात विष का भी प्रभाव — भैया ! ये सब तिकड़म क्यों होते हैं? मैं चिदानन्द स्वरूप हूँ ऐसा भान नहीं है। मैं व्यक्ति संसार की घोर आपत्तियों में फंसा हूँ ऐसा उसे ज्ञान नहीं है अन्तर में, इस कारण बाह्य में ऐसी चेष्टा हो जाती है कि जिस के बारे में छहढाला में दौलतराम जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—जो ख्याति लाभ पूजादि चाह। धरि करन विविध विधि देहदाह ।। आत्म अनात्म के ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन, ते सब मिथ्याचारित्र। तो दूर रहो, संयमरूप आचरण करते हुए भी, शत्रु पर रागद्वेष न करते हुए भी, उपसर्ग करने वालों पर द्वेष न करते हुए भी यदि यह परिणाम उठता है कि मैं तो साधु हूँ, मुझे द्वेष न करना चाहिए और अन्तर में रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का भान नहीं है तो वहाँ पर भी मोह और मिथ्यात्व बताया गया है।

अनादिरूढव्यवहारमूढता — ऐसे पुरुष जो कि अपने को समाज और श्रमोणोपासक मानकर द्रव्यलिङ्ग की ममता से मिथ्या अहंकार किया करते हैं वे अनादि काल से प्रसिद्ध चले आए हुए व्यवहार में मूढ़ होकर अपने वैभव को खोकर निश्चय से विमुख होकर इस भगवान परमार्थ सत् समयसार को नहीं चेतते उनके ममता का ढ़ंग ही बदला, किन्तु उन्होंने ममता त्यागी नहीं है। पशु अपनी ममता का ढंग और रखते हैं, पक्षी और ममता का ढ़ंग रखते हैं, गृहस्थ लोग अपनी ममता का और ढ़ंग रखते हैं और साधुजन जो निश्चयतत्त्व से अनभिज्ञ हैं वे अपनी ममता का और ढ़ंग रखते हैं। मात्र ममता के ढंग में परिर्वतन है इस द्रव्यलिङ्गी साधु का, पर गृहस्थ में और साधु में भेद कुछ नहीं रहा। न संवर निर्जरा का

पात्र अज्ञानी गृहस्थ है और न संवर निर्जरा का पात्र यह अज्ञानी साधु है। जो चला आया है अनादि काल से उस ही व्यवहार में यह मूढ़ हो गया है। सो इस परमार्थसत् परमब्रह्मस्वरूप कारणसमयसार जो एक है इतना भी नहीं कह सकते हैं, किन्तु है, ऐसा अनुभव के द्वारा ही गम्य है। एक अनेक के विकल्प से रहित केवल परमार्थ ब्रह्म ही जहाँ ज्ञानगोचर है ऐसी स्थिति वह प्राप्त नहीं कर सकता है।

कारणसमयसार के अपरिचितों का भ्रम, श्रम, और क्रम – भैया ! बड़े दुर्धर तप करते हुए भी जिस के आत्मसिद्धि नहीं, वहाँ हुआ क्या कि भाव लिङ्ग नहीं मिला, वीतराग शुद्ध ज्ञायक जो स्वभाव है, स्वरूप है, उसका परिज्ञान नहीं हुआ। सो निर्ग्रन्थ भेषरूप जो पाखण्डी द्रव्यलिङ्ग है, साधु का द्रव्यलिङ्ग है, अथवा लंगोट चिन्ह आदिरूप जो गृहस्थ का द्रव्यलिङ्ग है उसमें ममता ही की है, और में क्षुल्लक हूँ, मुझे इस तरह पहिनना ओढ़ना चाहिए, मैं ब्रह्मचारी हूँ मुझे इस तरहधोती चद्दर ओढ़नी चाहिए, ये कर्तव्य माने जाने लगे। अरे ज्ञानी पुरुष को तो इस ओर विकल्प भी नहीं होता है। ऐसे द्रव्यलिङ्गों में जो ममता करते हैं उन्होंने इस निश्चय कारणसमयसार को जाना ही नहीं है।

कारणसमयसार व कार्यसमयसार — कारणसमयसार कार्यसमयसार को उत्पन्न करने वाला है, जिस कार्यसमयसार में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति की व्यक्ति है, जो कारणसमयसार पूर्ण कलश की तरह भरा हुआ है, जैसे कलश में पानी भरा हो तो अन्तर में कहीं पानी न हो ऐसा नहीं होता है। पानी जहाँ तक भरा है, वह ठसाठस भरा है, अन्तर नहीं आता है। जैसे कलश में लड्डू भर दें तो उनके बीच सांस रहती है, पानी में कहीं सांस न मिलेगी। इसी तरह यह ज्ञान स्वभाव ज्ञान से लबालब भरा है, किसी जगह अन्तर नहीं पड़ता।

समता व ज्ञातृत्व का परस्पर सहयोग — यह ज्ञानस्वभाव परम समता भाव के परिणाम के द्वारा ही आश्रित किया जाता है। जहाँ चिदानन्द एक स्वभाव शुद्ध आत्मतत्त्व का भली प्रकार श्रद्धान् है, ज्ञान है, अनुभवन है, ऐसी निर्विकल्प समाधि से जो अनुपम आनन्द प्रकट होता है उस आनन्द में जो एक साम्य अवस्था बनती है उसके द्वारा ही यह कारणसमयसार परिचय में आता है। जिस में किसी भी प्रकार का संकल्पविकल्प नहीं है कषायों से दूर है, ऐसा शुद्ध ज्ञायक स्वरूप ज्ञाता को ज्ञात ही होता है।

व्यवहारव्यामोह में परमार्थ का अग्रहण – जिन जीवों की दृष्टि व्यवहार में मुग्ध हो गयी है वे अज्ञानीजन परमार्थ को ग्रहण कर नहीं सकते । जैसे कि छिलकों में ही जिन की बुद्धि मुग्ध हो गयी है वे पुरुष छिलके को ही ग्रहण करेंगे, चावल को ग्रहण नहीं कर सकते । यह देह मायामय है, परमार्थभूत नहीं है। यह आत्मा से भिन्न है, अचेतन है। खैर, अचेतन में ही देखो तो यह शुद्ध अचेतन द्रव्य नहीं है किन्तु अनन्त पुद्गल अचेतन द्रव्य का पिण्ड बना है, आना और बिखरना सदा बना रहता है फिर काष्ठ पाषाणों की तरह ठोस हो ऐसा भी नहीं है, किन्तु अन्दर में बाहर में, मिनट-मिनट में अपना रंग बदलने वाला है। ऐसी अचेतन देह से प्रकट हुआ जो द्रव्यलिङ्ग है उसमें ही जिसकी बुद्धि मुग्ध हो गयी है वे परमार्थ सत्य को नहीं जानते हैं।

देहाश्रित दृष्टि में स्वत्व की असिद्धि — कितने ही तो सोचते हैं कि बहुत भवों में मनुष्य भव मिला, अनन्त काल में बड़ी दुर्लभता से मनुष्यभव प्राप्त हुआ, इस भव में मुनि तो बन ही लो, ऐसी वासना में भी उन की दृष्टि केवल देह पर है। ऐसा बन लो ऐसा बनना बताया है कि यह ऐसा साधु जितने बार हुआ

है एक एक भव का एक एक कमण्डल रखा जाय तो बताते हैं कविजनों का, लेखकजनों का, ऋषीजनों का, संतजनों का मेरुपर्वत के बराबर ढेर बन जाता है। इस बात पर जोर दिया है कि अरे निर्ग्रन्थ पुरुषों ! तुम द्रव्यलिङ्ग में ही मुग्ध मत होओ। यह तो ठीक है उत्कृष्ट साधना में द्रव्यलिङ्ग तो होता ही है, जब ममता नहीं रही बाह्यपदार्थों में तो चरम साधना के समय द्रव्यलिङ्ग तो हुआ ही करता है। कहीं परिग्रह के संचय के वातावरण में निर्विकल्प समाधि की पात्रता नहीं होती किन्तु द्रव्यलिङ्ग में ही मुग्ध हो जायेंगे तो परमार्थ की प्राप्ति न हो सकेगी।

ज्ञानी का लक्ष्य — जैसे जानकार व्यापारी धान को खरीदता हो तो उसकी छिलकों पर दृष्टि मुग्ध नहीं होती किन्तु भीतर में जो चावल रहता है उस चावल का लक्ष्य रहता है, इसही प्रकार जो ज्ञानी साधु हैं उनके इस नग्न और जो निर्ग्रन्थ भेष है उसमें उन की बुद्धि मुग्ध नहीं होती, किन्तु अन्तर में जो शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है इस स्वभाव का स्वरूप का जो कि अनादि मुक्त है ऐसे शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का वहाँ लक्ष्य रहता है। जिसकी आँखे द्रव्यलिङ्ग की ममता में ही मीच गयी है, द्रव्यलिङ्ग ममता की नींद में ही सो गई हैं ऐसे पुरुष के द्वारा यह समयसार दृष्ट ही नहीं होता है।

द्रव्यलिङ्ग व भावलिङ्ग के उपादानों की भिन्नता — अरे ! यह द्रव्यलिङ्ग तो अन्य पदार्थों से हुआ है और मोक्ष का मार्गभूत जो ज्ञानतत्त्व है, वह ज्ञानतत्त्व स्वयं यह आत्मा ही है, द्रव्यलिङ्ग उपादान क्या? एक शरीर उसही की अवस्था है और निर्विकल्प समाधिरूप ज्ञानरूप जो भावलिङ्ग है उस लिङ्ग का उपादान यह आत्मा है। तब द्रव्यलिङ्ग में ममत्व न रखना। द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व को आत्मरूप अनुभव करना सो ही छुटकारे का मार्ग है। इस ही बात को इस प्रकरण में अंतिम गाथा द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है।

गाथा 414

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्ख पहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।414।।

मोक्षमार्ग का व्यवहार वचन — व्यवहार में गृहस्थलिंग और पाखण्डी लिंग दोनों को मोक्षमार्ग कहते हैं। श्रमण लिंग और श्रमणोपासक लिंग ये दोनों मोक्षमार्ग है। ऐसा जो कहने का प्रकार है वह एक व्यवहारनय की बात है, परमार्थ नहीं है क्योंकि ये दोनों प्रकार के देहलिंग अशुद्ध द्रव्य के अनुभवन रूप हैं। बतावो किसी एक द्रव्य में यह भेष है। एक परमाणु में होता, यह द्रव्यलिङ्ग तो भी बड़ा अच्छा था। एक द्रव्य के अनुभवनरूप तो हुआ अथवा आत्मा में होता है तो भी एक द्रव्य के अनुभवन रूप हुआ। किन्तु यह तो अनेक परमाणुस्कंधों के पिण्डरूप देह में हुआ है ना, सो ये सब गृहस्थ साधु के भेष अशुद्ध द्रव्य के अनुभवन रूप है, इसलिए परमार्थपना इन चिन्हों में नहीं है।

मुक्तिसाधक परमार्थभूत लिङ्ग – भैया ! तब फिर परमार्थरूप लिंग क्या है, मोक्षमार्ग क्या है? श्रमण और श्रमणोपासक इन दोनों प्रकार के विकल्पों से परे दर्शन, ज्ञान, आचरण मात्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप यह एक है ऐसा बेलाग संचेतन करना सो परमार्थ है। अपने आप के अंतस्तत्त्व को बेलाग और बेदाग

अनुभवन करना सो ही मोक्ष का मार्ग है। बेलाग तो यों कि इसमें शरीर के लगाव का कुछ भी ध्यान न हो और बेदाग यों कि रागद्वेषादिक जो अन्तर मल है उन दागों का अभाव हो, ऐसे ज्ञानमात्र तत्त्वों का निष्तुष संचेतन करना सो ही परमार्थ है। जैसे कोई चतुर व्यापारी धान के भीतर ही यद्यपि चावल अवस्थित है किन्तु अपने ज्ञान बल से उस चावल को वह निष्तुष संचेतन करता है। छिलके से ढका हुआ होकर भी छिलके से रंच सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार से चावल को अन्तर से निरख लेता है। ऐसे ही द्रव्यलिङ्ग में अवस्थित होकर भी साधुजन अपने आप को द्रव्यलिङ्ग से अत्यंत दूर केवल शुद्ध ज्ञानस्वभाव मात्र निरखते हैं। यही मोक्षमार्ग है। व्यवहारनय दोनों लिंगों को मोक्षपद मानता है, परन्तु निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में रंच भी इष्ट नहीं करता है।

द्रव्यलिङ्ग की व्यवहार से मोक्षमार्गता का कारण — भैया ! ये दोनों साधुधर्म और गृहस्थधर्म व्यवहारिक चिन्ह व्यवहार से मोक्षमार्ग क्यों माने जाते हैं? कुछ तो बात होगी। उसमें इतना तथ्य है कि निर्विकार स्वसम्वेदनरूप मात्र लिंग के लिए यह द्रव्यलिंग बहिरंग सहकारी कारण है अर्थात् निरारम्भ निष्परिग्रह की स्थिति में निर्विकल्प समाधि का अवसर मिलता है। द्रव्यलिङ्ग का अर्थ क्या है, कोई आरम्भ कोई परिग्रह न रखना। जो ऐसा आरम्भ करता हो, जो गृहस्थों द्वारा किया जाता हो तो वह द्रव्यलिङ्ग भी नहीं है और परिग्रह का संचय रखना गिनना छूना आदिक परिग्रह में भी जिन की चेष्टा चलती हो उन को द्रव्यलिङ्ग ही नहीं कहा गया है। इस परिस्थिति में तो निर्विकल्प समाधि का अवकाश ही नहीं है। हाँ जो द्रव्यलिङ्गी साधु आगमोक्त अत्यन्त निरारम्भ और अत्यन्त निष्परिग्रह के रूप में हो तो उसको द्रव्यलिङ्ग के वातावरण में निर्विकल्प समाधि का लाभ हो सकता है। इस ही कारण इन लिङ्गों को व्यवहारनय से मोक्षमार्ग बताया है किन्तु निश्चयनय से तो इन को मोक्षमार्ग नहीं माना।

द्रव्यलिङ्ग की अपरमार्थता के दो हेतु — द्रव्यलिङ्ग के सम्बन्ध में दो बातें ज्ञातव्य है। एक तो देह में ऐसा हो जाना कि नग्न हैं अथवा कोपीन आदिक चिन्ह हैं तो यह सब पुद्गलों की अवस्था है। वह मोक्षमार्ग क्या कहलायेगा और इन चिन्हों में यह मैं निर्ग्रंथलिङ्गी हूँ, यह मैं लंगोटी का धारक हूँ, मैं साधु हूँ, मैं क्षुल्लक हूँ, मैं अन्य ब्रह्मचारी आदिक हूँ, इस प्रकार का मन में द्रव्यलिङ्ग का विकल्प करना अथवा मैं गृहस्थ हूँ, मैं गृहस्थ धर्म का पालनहार हूँ, इस प्रकार का विकल्प अपनाना है। कहने की बात अलग है लेकिन मन में श्रद्धा की बात अलग है तो जिस के मन में इस देह के वेषभूषा में ही अपने कल्याण की और स्वरूप की श्रद्धा बनती है उनके यह परमार्थ सत्य भगवान कारणसमयसार आत्मदेव अत्यंत दूर है। ज्ञानीजन जैसे रागादिक विकल्पों को नहीं चाहते हैं क्योंकि वह ज्ञानी संत स्वयमेव निर्विकल्प समाधि के स्वभाव वाले हैं। उन्हें एक निर्विकल्प समाधि ही सुहाती है। बाहर में क्या होता है? कहने वाले दसों प्रकार के लोग हैं, उनका उनमें ही परिणमन है, उनका कुछ भी प्रवेश इस ज्ञान स्वभाव के रुचिया संत में नहीं होता। वे निर्विकल्प समाधि के ही यत्न में अपनी वृत्ति रखते हैं।

भावलिङ्गरहित द्रव्यलिङ्ग का प्रतिषेध — भैया ! यहाँ ऐसा न जानना कि द्रव्यलिङ्ग का निषेध ही किया गया हो। साधु भेष न करना चाहिए, ऐसा मना नहीं किया जा रहा है किन्तु जो निश्चयतत्त्व से अनभिज्ञ हैं, निर्विकल्प समाधिरूप भावलिङ्ग जिस के नहीं है, जिन्हें अपने ठौर ठिकाने का पता नहीं है, ऐसे साधुजनों को सम्बोधन किया गया है कि हे तपस्वीजनों! द्रव्यलिङ्ग मात्र से संतोष मत करो, किन्तु

द्रव्यलिङ्ग के आधार से एक निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप परमार्थ सत् ज्ञान की भावना करो। या यों स्पष्ट समझलो कि जो भावलिङ्गरहित द्रव्यलिङ्ग का निषेध किया है यह कार्यकारी नहीं है। भावलिंग सहित व समस्त व्यवहार धर्म निषेध नहीं गया अथवा यों समझ लीजिए कि साधु के शरीर के आश्रय जो निर्ग्रन्थ लिंग हुआ है, उसमें ममता का निषेध किया गया है यह मेरी चीज है। यह मैं हूँ, इस प्रकार उसमें अहं बुद्धि और मम बुद्धि का त्याग कराया गया है।

विडम्बनाओं का कारण परमार्थ की अनभिज्ञता – बहुत से धर्मस्थलों में जो विवाद और क्रोधादिक वातावरण हो जाते हैं वे साधुजनों के आश्रय है। उसका मूल कारण भी यही अज्ञान दशा है कि अपने आप में ऐसी श्रद्धा बना ली है कि मैं साधु हूँ, मैं अमुक हूँ और इसका भान ही नहीं है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ और इसका भान ही नहीं है कि मैं सब में समाया हुआ हूँ जिस स्वरूप की दृष्टि से सर्वजीव एक समान हैं, ऐसी अपने आप की समता की दृष्टि ही नहीं जगती। और जैसा चाहा तैसी मनमानी क्रिया का प्रसार करना, ये सब बातें इस अज्ञानदशा पर हो जाती हैं और इसमें केवल साधुजनों की अज्ञानदशा कारण नहीं है किन्तु जाननहार श्रावकजनों के भी अज्ञानदशा बनती है।

साधुवों का गृहस्थों का कैसा अनमेल — भला बतलावो कि जो साधुवृत्ति एकत्व की मुद्रा का संकेत करने वाली होनी चाहिए। एक शुद्ध शांत निरारम्भ निष्परिग्रह उपदेश जहाँ होना चाहिये, वहाँ निवृत्तिमय क्रिया हो ऐसी वृत्ति का पद लिया हो और धर्ममार्ग में कहो अथवा मन बहलावा में कहो बहुत आरंभ रखे हों जितना कि गृहस्थजन नहीं कर पाते हैं तब इसका और क्या कारण कहा जा सकता है? सिवाय एक अपने आप के पयार्य की ममता और अहंबुद्धि के। पूजा पाठ कितनी शुद्धता और निवृत्ति के साथ होना चाहिए, इसके लिये तो गृहस्थों की रीति ठीक है। प्रभु की भक्ति बाह्य आडम्बरों से की जाय, फूलों की माला बनाकर की जाय, इस प्रकार के अनेक प्रकार के शिथिलाचारों से दूर रहना चाहिए। और कोई साधु भेष रखकर एक इसका ही उपदेश अपने जीवन में करता फिरे और जीवन में यह ही लक्ष्य रखे तो यह श्रावकों का और साधुवों का कितना बेमेल काम है? लेकिन जहाँ निर्विकल्प समाधि उसका कर्तव्य है ऐसी जब भावना नहीं रहती है तो अनेक उलझने आ पड़ती हैं अब श्रावक जन कहाँ सीखे, क्या सीखे, कि से आदर्श देखें, ऐसी स्थिति अब इस कलियुग में हो रही है।

आचार्यदेव का व्यावहारिक अन्तिम संदेश — यह पंचमकाल का ही लिखा ग्रन्थ है। कुन्दकुन्दाचार्य स्वामी समयसार की समाप्ति के समय अंतिम गाथा में इस समस्या को स्पष्ट कह रहे हैं। यह समयसार की अंतिमगाथा है। इसके बाद समयसार ग्रन्थ के सम्बन्ध में अंतिम आशय बताने वाली गाथा आयेगी। तो यह द्विचरम गाथा है अंतिम से पहिले की, मगर समयसार के विषय को बताने की यह अंतिम गाथा है। साधुलिंग गृहस्थलिंग इन दोनों को मोक्षमार्ग बताने वाला केवल व्यवहारनय है। निश्चयनय इन सर्व लिंगों की मोक्षमार्ग में रंच भी इच्छा नहीं करता।

पदार्थ का यथार्थ निर्णय बिना मोक्षमार्ग की अप्राप्ति — भैया ! मैं क्या हूँ, इसका निर्णय किए बिना मोक्ष का मार्ग ध्यान में नहीं आ सकता। मैं केवल ज्ञानमात्र स्वतंत्र सत् हूँ, जिस का किसी भी परद्रव्य से परमाणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। यह प्रभु अपने आप के प्रदेश में ही विराजमान् हुआ अशुद्धभावों की लीला कर के इन समस्त भवसृष्टियों का कारण बन रहा है। यह किसी भी परद्रव्य में जा जाकर सृष्टियां

नहीं करता। यदि ऐसा करे तो उसमें प्रभुता ही क्या रही अथवा वस्तुस्वरूप ही ऐसा नहीं है कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य में प्रवेश कर के अपनी बात लोपे। यह अपने आप में ही विराजमान् रहता हुआ अशुद्धभाव करके अपनी अशुद्ध सृष्टियां करता जा रहा है और इस चाल में इसको अपने आप की चेतना नहीं रही, किन्तु बाह्य पदार्थों में ही सुख व ज्ञान की कल्पना हो गयी।

अचेतन से ज्ञान का अप्रादुर्भाव — ब्रह्मी बूटी आती है उसे रगड़ कर पियो तो ज्ञान बढ़ जायेगा ऐसी बुद्धि अज्ञान में बनती है। अरे उस ब्रह्मी बूटी में कहीं ज्ञानतत्त्व भरा है क्या, भले ही यह बात बन जाय कि शरीर के जो अवयव हैं मस्तक आदिक इन साधनों का कुछ दृढ़ीकरण का कारण बन जाय। अभी भोजन न खायें तो यह शरीर मुरझा जाता है और आत्मा को ज्ञानमार्ग में बढ़ने से रुकावट हो जाती है, परन्तु ब्रह्मी में से ज्ञान निकले और फिर ब्रह्मी पास करा दे, ऐसी बात तो नहीं है। यह तो ब्रह्मी की बात कही है। आचार्यदेव ने तो शास्त्र की बात लिखी है। ज्ञान शास्त्र से नहीं निकलता। शास्त्र से ज्ञान प्रकट नहीं होता है, ब्रह्मी तो बहुत दूर की बात है। शास्त्र श्रुत, अक्षर आदिक जो साधन हैं ये अचेतन ही हैं। तो अपने आप का जब तक सही परिचय नहीं होता तब तक मोक्ष का मार्ग क्या है? यह निर्णय नहीं किया जा सकता है।

निजस्वरूप के ज्ञान बिना बीभत्स भ्रमण — मैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र स्वतंत्र सर्व से विविक्त परिपूर्ण एक चैतन्यतत्त्व हूँ, जब इसकी आराधना नहीं रहती है तब यह जीव गरीब होकर, दीन बनकर बाह्यपदार्थों का आश्रय किया करता है। इस जगत में जो कुछ मिला है इससे भी करोड़ो गुना अनेक भवों में मिला होगा। जब वह भी नहीं रहा तो वर्तमान में जो मिला हुआ है वह क्या रहेगा? क्यों इतनी ममता की जा रही है और अपने आप के स्वरूप का आवरण किया जा रहा है। अरे उस ओर किसी क्षण विकल्प तक भी न रहना चाहिए। ऐसी आत्मतत्त्वरता के साथ जिस के ज्ञानभावना चल रही है उस के क्षण सफल है। इस अंधेरनगरी मे स्वयं भी अंधे बनकर बाह्य विषयों में अपने आप को लगा बैठें और ज्ञानमात्र निज तत्त्व की सुध भूल जायें तो यह तो संसार में रुलते रहने का साधन ही किया जा रहा है।

मनुष्यभव का लाभ — भैया ! मिला है मनुष्यभव और मिला है यह जैन दर्शन, यदि इससे लाभ न लूटा जाय और असार, भिन्न, अहित, पौद्गलिक, मायारूप परद्रव्यों के खातिर अपने आप का घात किया जाय तो यों ही कहना चाहिए कि मनुष्य हुए न हुए एक समान बात है। ये विषयों की बातें क्या पशु पक्षी बनकर न की जा सकती थी, अनेक विकलत्रय, स्थावर इन भावों में जितना जो कुछ साधन मिला है, क्या विषय साधन की बात न की जा सकती थी? फिर इस मनुष्य भव का कुछ सदुपयोग ही क्या रहा, जो पूर्ववत् विषयों की ही धुनि में रहे। सर्व प्रयत्न कर के इन बाह्य विकल्पों से, वासनावों से ममतावों से हटकर अंत: प्रकाशमान् इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप का ही अनुभव करो।

व्यवहार को परमार्थरूप अनुभवने में अलाभ- जो प्राणी व्यवहार को ही परमार्थ की बुद्धि से अनुभवते हैं वे समयसार का अनुभवन नहीं कर सकते। जैसे जो धान के छिलकों को ही यही उपादेयभूत सार की चीज है, ऐसा समझते हैं वे चावल के फल को प्राप्त नहीं कर सकते। जो वर्तमान मनुष्यादिक पर्यायों को ही आत्मरूप से अनुभव करते हैं वे आत्मतत्त्व के दर्शन नहीं कर सकते हैं। जो इस शरीर के भेष को ही 'यह मोक्षमार्ग है' ऐसा अनुभवन करते हैं वे मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं कर सकते हैं। जो जीव परमार्थ को

ही परमार्थभूत से अनुभवते हैं वे ही समयसार का संचेतन करते हैं। इस मायामयी दुनिया में इन मायामय लोगों में, मायामय प्रशंसा की मायामय चाह करने वाले परमार्थ से मोक्ष मार्ग से, आत्महित से अत्यन्त दूर हैं। संसार और मोक्ष इन में से कोई एक का उपाय बना लो। संसार का उपाय करते हुए मोक्षमार्ग के स्वप्न देखना यह एक स्वप्न ही है। चलें तो संसारमार्ग में और मोक्ष की बात मन में जानें तो वह धोखा ही है।

मुक्तस्वरूप आत्मतत्त्व की प्रतीति की प्राथमिकता — मुक्त होना कि से है, पहिले उसे ही तो समझलो। और यह मुक्त हो भी सकता है या नहीं इसे भी जान लो तब ही मोक्षमार्ग की बात निभ सकेगी। कि से मुक्त होना है और मुक्त यों हुआ जा सकता है, यह मर्म को न देखा और अपनी कल्पना के अनुसार बाह्य घटनावों में कुछ कल्पना बना ले तो उससे मोक्षमार्ग नहीं मिलता है। मुक्त होना है इस मुक्त आत्मा को, इस मनुष्य को नहीं। क्यों इस मुझ आत्मा को मुक्त होना है? जो यह आत्मा अपने स्वरूप से अपने स्वभाव मात्र है। यह क्या मुक्त हो सकता है? हां हो सकता है क्योंकि इसका मुक्त स्वरूप ही है।

भावकर्म में द्रव्यकर्म की अनुसारिता — यह आत्मा परद्रव्यों से अत्यन्त भिन्न है, इसमें किसी भी परद्रव्य का प्रवेश नहीं है। रागादिक भाव इसमें उदित हो जाते हैं, सो वे भी निमित्त के साथ ऐसे जुड़े होते हैं जैसे कि दर्पण के सामने हाथ करो तो प्रतिबिम्ब हो गया, हाथ हिलावो तो प्रतिबिम्ब हिल गया जैसी क्रिया तैसा ही दर्पण में प्रतिबिम्ब हुआ तो जैसे वह प्रतिबिम्ब इस निमित्तभूत परपदार्थ का बड़ा आज्ञाकारी है और उसमें ही गठा बंधासा है इसी तरह ये रागादिक विभाव इस निमित्तभूत पदार्थ से ऐसा गठा बंधासा है, वह मेरा कुछ नहीं है। मुझ में परभावों का भी प्रवेश नहीं है, स्थिरता से रह सके विभाव तो उसकी कुछ कला समझो, पर उदयानुसार आता है क्षणमात्र को और निकल जाता है। निकलने का ही नाम उदय है। द्रव्यकर्म निकलते हैं तो ये भावकर्म भी निकलते हैं। द्रव्यकर्म ठहरते हैं उदय की अवस्था में भावकर्म ठहरते हैं अभ्युदय की अवस्था में इस कारण ये विभाव भी मेरे कुछ नहीं हैं। मैं तो स्वरसमय टंकोत्कीर्णवत् एक ज्ञायक स्वभावमात्र हूँ।

परमार्थ को परमार्थरूप से संचेतने का प्रभाव — यह मैं मुक्त हो सकता हूँ क्योंकि मेरे स्वरूप में ही मुक्तस्वभाव पाया जा रहा है। हम अपने उपयोग को परद्रव्यों से अपने में बांधे हुए हैं और उनका निमित्त पाकर ये द्रव्यकर्म भी एकक्षेत्रावगाह बंधन को प्राप्त हुए हैं, इतने पर भी यह मैं आत्मा मुक्तस्वभाव ही हूँ। किसी से बिगड़ता नहीं। अपने स्वभावरूप में ही बना रहूं तो मुक्त हो सकता हूँ। मुझ में ऐसा स्वभाव पड़ा है, इतनी श्रद्धा हुए बिना मोक्षमार्ग कहाँ विराजेगा ! जो जीव परमार्थ को ही परमार्थ बुद्धि से अनुभवते हैं वे ही इस समयसार को अनुभवा करते हैं। शरीर के सम्बन्ध में वे शरीर के भेष के सम्बन्ध में पहले कुछ कहा गया है। पर से विविक्त इस अध्यात्म के निरूपण करने वाले वर्णन में यह सब मार्गदर्शक वर्णन है।

ग्रन्थ में सुयुक्त वर्ण — भैया ! इस ग्रन्थ में 414 गाथावों में बड़ी प्रामाणिकता से अन्तस्तत्त्व का विषय आया है, नयचक्र जो अत्यन्त दुस्तर है, गंभीर है अथवा यह नयों का वन जो जीव को जरा भी असावधानी हो तो भुलाने और भटकाने वाला है ऐसे भी नयों के द्वारा इस सम्बन्ध का विशद स्वरूप

कहा है। निश्चयन के बिना व्यवहारनय भी प्रतिष्ठित नहीं है व्यवहारनय के बिना निश्चयनय भी प्रतिष्ठित नहीं है, फिर भी निश्चय की मुख्यता में वस्तुगत स्वरूप दिखता है और व्यवहार की मुख्यता में अगल बगल ऊपर का सर्व वातावरण नजर आता है। दोनों नयों के प्रयोग से यथा समय सारी बातें समझने वाला सावधान होकर यह मुमुक्षु मोह सेना को परास्त कर देता है, उसही समयसार का इतने वर्णन के बाद इतना स्वरूप जानने के बाद अब और ज्यादा कहना व्यर्थसा हो जाता है।

वर्णन का अमली जामा — तत्त्व के सम्बन्ध में पर्याप्त हो चुका है। वर्णन अब ज्यादा क्या कहा जाय? बहुत विकल्पों के करने से क्या फायदा है? अब तो परमार्थभूत एक इस समयसार का ही संचेतन करो। जब भोजन बनाते हैं ना तो बाल बच्चे सब मिलकर खुश होते जाते हैं। अच्छा बना अब यह काम करो, अमुक चीज लावो, पानी लावो, ठीक बन रहा है, बड़ा अच्छा बन रहा है, खुश हो रहे हैं। बन भी गया भोजन, सामने आ गया फिर भी कहते हैं कि बड़ा अच्छा बना, तुम्हारी हिम्मत थी, बड़ा काम किया, इसने बड़ा काम किया। भारी बातें करते हैं। कोई चतुर कहता है कि अब बातें करना छोड़ दो, अब तो खाने का मजा लो। हो चुका सब कुछ। समयसार का वर्णन शुरू से खूब चल रहा है। बहुत चर्चा हुई। नयों की प्रमुखता का वर्णन चला। उस ही गोष्ठी के लोग आपस में कहते हैं कि खूब वर्णन हुआ, अब विकल्पों से क्या फायदा है? एक परमार्थभूत इस समयसार का अब तो अनुभवन करो, अन्य विकल्प करना भूल जावो। अपने पास जो बैठे हैं, जो तुम्हारी इस धर्म चर्चा में भी सहायक करने वाले अध्ययन ज्ञापन सब में जो सहयोगी हुआ है ठीक है। अब क्षणमात्र को तो सबको भूलकर सब विकल्प त्याग कर एक परमार्थभूत आत्मा का संचेतन करो।

अलभ्य लब्ध से लभ्य लाभ — भैया ! भोजन बनाने में तो बडी खटपटें करी और खाने के समय लड़ाई हुई तो भोजन को कूड़े में डालकर अपने अपने घर चले गए, ऐसा कोई करे तो उसे कोई बुद्धिमान् नहीं कहेगा। इस प्रकार चर्चावों द्वारा, अध्ययनों द्वारा ये सब व्यवस्थायें बनायी, तत्त्व मर्म समझा, अब समझे हुए मर्म का पुरातन वासनावों के संस्कारवश यों ही विस्मरण के कूड़े में फैंक दे तो इसे कौन बुद्धिमान कहेगा? बहुत मुश्किल से चीज हाथ आये और उसे यों ही फैंक दे। जैसे कहीं बड़ा कीमती रत्न मिले और उसे समुद्र के कूड़े में फेंक दे तो उसे कौन बुद्धिमान् कहेगा? एक इस समयसार का संचेतन करो।

स्वकीय परमार्थ शरण — यह समयसार अपने ज्ञानरस करि भरा हुआ अपने ज्ञानानन्दघन स्वरूप को लिये हुए जो एक अन्तर का स्फुरण है वह ही तो एक समयसार है। उस समयसार से उत्कृष्ट इस लोक में अन्य कुछ तत्त्व नहीं है। जावो तुम कहाँ जाते हो, किस की शरण गहते हो? घर अच्छा बना लिया, कब तक रहेगा घर में । छोड़ना ही तो पड़ेगा। पुत्रों के पास रह लो, कब तक रहोगे, कहाँ शरण में जाते हो, कब तक रहेंगे वे? और जब तक हैं भी तब तक भी उनके कारण कोई बाधा न आए, इसका भी कुछ जुम्मा नहीं है। जब स्वयं में कषाय भरी हुई है तो दूसरों का उठना बैठना ही देखकर कल्पना में यह अर्थ लगा सकते हैं कि इसको मेरा कुछ ख्याल नहीं। यह अपमान भरी चाल से चलता है। जब स्वयं का उपादान अयोग्य है तो बाहर के पदार्थों में कुछ भी कल्पना कर के अपने आप को दु:खी किया जा सकता है। जावो कहाँ जावोगे शरण? जैसे घर के बिगड़े हुए बच्चों को बाप कहता है, कि तू छोड़कर

जाता है चला जा, जहाँ जाता हो। अब बालक को कहाँ शरण है? सो यहाँ वहाँ घुम घामकर फिर अपने ही घर आता है। इस उपयोग को कहाँ शरण है बाहर? ढूंढ़ लो, कहीं कोई शरण हो तो बतलावो। अरे यह देह भी तो शरण नहीं है। यह भी तो अचानक धोखा दे जाने वाला है। किस की शरण पकड़ते हो और देखो एक अन्तर में नित्य प्रकाशमान ज्ञानस्वभाव में उपयोग बना रहे तो इस स्थिति में इस द्रव्य और पर्याय की ऐसी एकरसता हो जायेगी व परमार्थ और व्यवहार में ऐसा संगम हो जायेगा कि प्रेक्टिकल सर्व सिद्धि और आनन्द इसके प्रकट होगा। इस समयसार से उत्कृष्ट इस लोक में अन्य कुछ नहीं है।

ज्ञानभावना में द्रव्यलिङ्ग का मूल्य — इस प्रकरण में ज्ञानभावना का उपदेश किया जा रहा है, जिस ज्ञानभावना के बिना बड़ा व्रत, तप, संयम, साधुपद, निर्ग्रन्थलिङ्ग, उपसर्ग, कष्ट ये सब सार्थक नहीं होते हैं। भावलिङ्गरहित द्रव्यलिङ्ग का ऋषि संतों ने निषेध किया है अर्थात् ये मोक्ष के मार्ग नहीं है। भावलिङ्ग सहित द्रव्यलिङ्ग के निषेध की बात नहीं जानना। भावलिङ्ग सहित द्रव्यलिङ्ग होने का अर्थ ही यह है कि उसकी श्रद्धा में यह बैठा है कि यह द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं है यह निर्विकल्पसमाधिरूप भावलिङ्ग मोक्षमार्ग है। ऐसे भावलिङ्ग सहित द्रव्यलिङ्ग तो उपयुक्त है। यहाँ तो द्रव्यलिङ्ग के आधारभूत जो देह है उसकी ममता का निषेध है। देह के आधारभूत जो देह की परिस्थिति है, भेष है उसमें मोक्षमार्ग मानने का अर्थात् ममता करने का निषेध किया है। देखो पहिले भी जिनने दीक्षा ली थी, उन्होंने सर्वसंग का परित्याग किया। प्रमत्त गुणस्थान में होने वाला प्रमाद प्रशंसा की बात नहीं है, किन्तु दोष की बात है और प्रमत्त अवस्था में होने वाली व्यवहारचर्या निर्दोष ढ़ंग से चलना व्रत, तप, आदि की साधना करना, इन में विकल्प करना, इन की चेष्टा करना, यह प्रमाद में शामिल किया गया है। विषय कषायों की बात करना यह प्रमत्त गुणस्थान का प्रमाद नहीं है। यह तो अविरत पुरुषों का प्रमाद है। जहाँ इस निर्दोष व्यवहारधर्म के पालनरूप प्रमाद से भी निवृत्त होने की भावना रखी जाती है वहाँ किसी प्रवृत्ति को मोक्षमार्ग जानना, यह बात ज्ञानी के कहाँ विराजेगी ?

विरागता में आत्महित — ज्ञानी संत ने दीक्षा काल में सर्व संगों का परित्याग ही कर दिया। देह भी तो परिग्रह है, उसका त्याग नहीं कर पाया। अन्तर की भावना में उसका भी त्याग है। कहाँ जाय देह, किन्तु यह देह भिन्न है, मैं आत्मा भिन्न हूँ, मेरा काम मेरी आत्मा से होगा, मेरी आत्मा में होगा। देह में रहता हुआ भी यह आत्मा स्वरूप में परिपूर्ण स्वतंत्र सत् है, ऐसी दृष्टि हुई तो देह भी परिग्रह नहीं रहा, पर वह स्थिति ऐसी है कि देह को कहाँ छोड़ दो। सो देह का त्याग नहीं हो सका। कहते हैं कि कर दें वे त्याग। कैसे कर दें? फांसी लगा लें, तो ये कोई साधना की बात नहीं है, वहाँ तो और संक्लेश है, आत्महत्या है, संसार में रुलना है, कहाँ छोड़ा जायेगा यह देह और फिर इस प्रकार इस देह को त्याग देने से मर जाने से देह छूटेगा नहीं। अगले भव में फिर देह मिलेगा। उसे तो देह इस ढंग से छोड़ना है कि फिर यह देह कभी न मिले। इस ढंग से छोड़ने का उपाय क्या है? वह उपाय यही है कि देह है तो रहने दो, ज्ञाताद्रष्टा रहो और समय समय पर इस देह को खिला दो, भोजन करा दो जिस से जिन्दा बना रहे और अपने ध्यान ज्ञान का पूरा काम करो।

विकल्पपरिहार के परमार्थतः त्यागपना — यह देह अन्य परिग्रहों की भांति जुदा नहीं किया जा सकता, लेकिन देहसम्बन्धी ममता, यह मेरा देह है, यह मैं साधु हूँ, यह मेरा भेष है ऐसा विकल्प तो व्यवहार से भी न करना चाहिए अर्थात् निश्चय में तो ज्ञायकस्वरूप आत्मा की निगाह रखना ही है और कोशिश जितनी करो, यत्न जितना करो वह ज्ञायकस्वरूप के अनुकूल मेरा उपयोग बना रहे, ऐसी कोशिश करो। यही हुआ व्यवहार। तो देह नहीं छूटता है पर ''मैं देह हूँ'' इस प्रकार की भावना प्रतीति विकल्प मत रखो। अभी यही आप देख लो, शरीर पर कितने ही कपड़े पहिने हो और उन कपड़ों के भीतर जेब होगी, उन जेबों में कुछ रखे भी होंगे और फिर एक यह देह ही बड़ा आवरण है फिर भी जब आप की दृष्टि अपने आप के अंतस्तत्त्व की और मुड़ेगी तब इन कपड़ों का भी परिहार कर के रखी हुई चीजों का भी परिहार करके, चमड़ी, हड्डी, खून, मांस इन सब का भी परिहार कर के यह उपयोग अपने ध्येयभूत इस निज ज्ञायक स्वभावमात्र में मिल जाती है। भले ही कुछ क्षण ही क्षण रह पाती है, पर सबको छोड़कर आखिर स्पर्श तो कर लेती है ना कोई। देह का परिहार कर के आत्मतत्त्व में स्पर्श बनाये रहना, यह साधुजन के बहुत काल तक चलता है। थोड़ा बीच में छूटता है तुरन्त आ जाता है।

प्रमत्त व अप्रमत्त गुणस्थान में साधु का विहार — प्रमत्त गुणस्थान और अप्रमत्त गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त है। साधु की ऐसी स्थिति होती है कि कुछ सेकण्ड बाद उसे आत्मा की ओर चले जाना चाहिए। उस आत्मा से फिर यह विलग होता है उपयोग द्वारा तो कुछ सेकिण्डों ही विलग रहना चाहिए, फिर आत्मा में चले जाना चाहिए। इस अंतर्मुहूर्त का काल मिनट दो मिनट भी नहीं हो पाता, शीघ्र ही अपने आप में स्पर्श करे, इस तरह की परिणति चलती हो तो वहाँ साधुता विराजती है। कदाचित् आध पौन घंटा लगातार साधु को चलना भी पड़े वहाँ भी वह कुछ सेकिण्डों बाद अपने आत्मा का स्पर्श कर रहा है। और किसी कारण से किसी शिष्य पर थोड़ा उनके रोष भी आ जाय तो कुछ क्षणों बाद रोष शांत हो जाता है और वह अपने आप का स्पर्श करने लगता है, ऐसी विशुद्धि परिणति है तब उनका नाम साधु परमेष्ठी है।

अष्टप्रवचनमातृ का – इस अंत:संयम की रक्षा के लिए पंचसमितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। बताया गया है कि अष्टप्रवचनमातृका का भी जिन्हें सुबोध है, सुबोध के मायने युधिष्ठिर की तरह पाठ याद होना, जिन्हें अष्टप्रवचनमातृका का सुपरिज्ञान है उनके इस अष्टप्रवचनमातृका के परिज्ञानरूप चिन्गारी के बल से अनगिनते भवों के संचित कर्मों का क्षय हो जाता है। अष्टप्रवचनमातृ का ये हैं—(1) ईर्यासमिति, (2) भाषासमिति, (3) एषणासमिति, (4) आदाननिक्षेपण समिति (5) प्रतिष्ठापनासमिति (6) मनोगुप्ति, (7) वचनगुप्ति, (8) कायगुप्ति। इन में प्रथम पांच समिति हैं व अंतिम तीन गुप्ति हैं।

ईर्यासमिति — शुद्ध भावों से चार हाथ आगे जमीन निरखते हुए चलना इसका नाम है ईर्यासमिति। चार हाथ आगे जमीन भी देखे और किसी से लड़ने के इरादे से जाय तो वह ईर्यासमिति नहीं है। चार हाथ आगे जमीन देख कर भी चले और मंदिर के लिए भी जाय, पर परस्पर में रागद्वेष की बातें करता हुआ जाय अथवा अपने भावों में कलुषता रखता हुआ जाय तो वह ईर्यासमिति नहीं है। ईर्यासमिति में

चार बातें होना आवश्यक हैं—अच्छे काम के लिए, अच्छे भावों सहित जाय, दिन में जाय और चार हाथ आगे जमीन निरखता हुआ जाय, यह है इर्यासमिति।

भाषा, एषणा व आदाननिक्षेपण समिति – भाषा समिति क्या है? हित मित प्रिय वचन बोलना सो भाषासमिति है। जो दूसरों का हित करे, दूसरों के प्यारे लगे, ऐसे वचन साधुजनों को बोलना चाहिए। परिमित वचन बोले अधिक न बोले। हितकारी वचन बोले व प्रियवचन बोले यही है भाषा समिति। एषणा समिति शुद्ध निर्दोष अंतरायरहित विधिपूर्वक जो मिला आहार उसमें ही संतुष्ट हो और वह आहार भी धर्मसाधन में चूंकि क्षुधाशांति की भी आवश्यकता है सो क्षुधा शांति के प्रयोजन के अर्थ जैसे गड्ढा भरा ऐसे ही प्रयोजन के अर्थ शुद्ध आहार कर लेना इसका नाम एषाणासमिति है। चीज के धरने उठाने में किसी जीव को बाधा न हो इसको आदाननिक्षेपण समिति कहते हैं। किन का धरना, उठाना – पिछी कमण्डल, पुस्तक आदिका, न कि गृहस्थों की नाई ईंट, पत्थर, चूना, वगैरह का। अपने संयम की साधना में उपयोग में आने वाली चीजों का ठीक प्रकार से धरना, उठाना, जिस से किसी जीव को बाधा न हो सो आदाननिक्षेपण समिति है।

प्रतिष्ठापना समिति — भैया ! कोई अष्टप्रवचनमातृका का निर्दोष अभ्यासी है निर्दोष आचरण वाला हो, किन्तु वह जानता अधिक न हो, फिर भी वह श्रुतकेवली बनकर और केवलज्ञानी बनकर अंत में निर्वाण को भी प्राप्त कर लेता है। प्रतिष्ठापना समिति शुद्ध निर्जनत जमीन देखकर वहाँ मल मूत्र थूक आदि करना सो प्रतिष्ठापना समिति है। कोई बहुत बढ़िया जगह देखकर मान लो यह पूजा की छत है, बड़ा अच्छा मैदान है, जहाँ मनुष्य बैठते हैं, गोष्ठी करते हैं और अपने आप को धर्मात्मा मानकर कि इससे निर्दोष और बढ़िया जगह क्या होगी, एक चींटी भी नहीं है, वहाँ मल मूत्र कर दे तो प्रतिष्ठापना समिति नहीं है। केवल रूढ़िवश कोई अन्तरतत्त्व न जानकर धर्मात्मापने का आचरण करे तो वह खुदगर्जी में शामिल है, धर्मपालन में शामिल नहीं है। इन सब बातों का शास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णन है।

गुप्तियां-- अब तीन गुप्ति क्या है? मन को वश करना, वचन को वश करना, और काय को वश करना। किसी भी प्रसंग में कुछ मन बिगड़ता हो तुरन्त मन को बिगाड़ से रोक लेना और अपने शुद्ध तत्त्व में लेना, सो मनोगुप्ति है। ऐसे ही कैसी घटनावों में वचनों को अयोग्य व्यवहार में न लेना, वश कर लेना, वचनगुप्ति है। उपद्रव होने पर भी शरीर का दुष्प्रयोग न करना, शरीर भी वश कर लेना, सो कायगुप्ति है।

विशुद्ध अष्टप्रवचनमातृका का प्रभाव — ऐसे अष्टप्रवचनमातृका का पालन साधुजन करते हैं और उस निर्दोष व्यवहार से उनमें इतनी विशुद्धि बनती है, धर्मध्यान बने, शुक्ल ध्यान बने, श्रुतकेवली बन जाय, केवली बन जाय, निर्वाण को भी प्राप्त हो जाय, वहाँ पर भी भावलिङ्ग पड़ा है तो भावलिङ्ग सहित द्रव्यलिङ्ग तो मोक्षमार्ग मुक्ति है पर ज्ञानभावना को छोड़कर कोई भी लिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है।

साधुकृत कर्म – भैया ! प्रथम तो यह निर्णय करना चाहिए कि साधु ने द्रव्यलिङ्ग धारण किया या अन्दर में कोई भावना ज्ञान की बढ़ गयी जिस से की द्रव्यलिङ्ग की स्थिति बढ़ायी। परमार्थ बात यह है कि इस चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्मा ने अपने आप के सहजस्वरूप का भान कर के इस ही स्वरूप में ऐसी लगन लगायी जिस के फलस्वरूप सारा आरम्भ और परिग्रह छूट गया, ऐसा जानकर उपभोग सहित ज्ञानी प्रवृत्त होता है तो अन्तरज्ञान की उपासना में प्रवृत्त होता है और ऐसे इस ज्ञानी संत को

जब व्यवहारक्रिया करनी होती है तो वह इस सावधानी से हुआ करती है। देखो तभी अरहंत देव ने दर्शन ज्ञान चारित्र की सेवा की और द्रव्यलिङ्ग में ममता का परिहार किया।

बहिस्तुषत्यागपूर्वक अन्तस्तुषत्याग – बात यद्यपि ऐसी है कि जैसे बाहर छिलका रहने पर अन्दर के चावल की स्वच्छता नहीं प्रकट होती है और जिस के अंतरङ्ग की मलिनता दूर हुई है, भीतर के चावल की ललाई दूर हुई है तो वहाँ यह तो समझा ही जाता है कि यहाँ बहिरंग छिलकों का त्याग नियम से हुआ है, इस नीति से समस्त परिग्रहों का त्यागरूप बहिरङ्ग द्रव्यलिङ्ग होने पर भी भावलिङ्ग हो अथवा न हो वहाँ कोई नियम नहीं है। किन्तु जिस के भावलिङ्ग होता है, ज्ञान की ऐसी प्रबल स्थिति और अनुभूति होती है उस के सर्वपरित्याग रूप द्रव्यलिङ्ग होता ही है।

अन्तर्नैर्ग्रन्थ्य — कदाचित् कोई स्थिति ऐसी हो, कोई तपस्वी ध्यानारूढ़ बैठा हुआ है, उस पर किसी दुष्ट पुरुष ने वस्त्रादिक डाल दिया या अन्य किसी आभूषण आदिक का श्रृंगार बना दिया तो भी यह साधु तो निर्ग्रन्थ ही है। सकल पदार्थों में ममता न होना और सबसे विविक्त ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनुरक्तता होना, यह सर्वोत्कृष्ट आलौकिक वैभव है। इसके स्वाद और आनन्द की उपमा तीन लोक के किन्हीं भी वैभवों के प्रसंग से नहीं दी जा सकती है। इन साधुजनों को जानकर ऐसा उपसर्ग किया, वस्त्रादिक डाल दिया, आवरण आदिक पहिना दिया फिर भी वे निर्ग्रन्थ ही हैं और उसही स्थिति में वे मोक्ष भी गए हैं।

विपत्ति का वरदान – पाण्डवों का दृष्टांत बहुत प्रसिद्ध है कि उनके दुश्मनों ने अकेला असहाय पाकर कि ये नि:शस्त्र हैं, निष्परिग्रह हैं, निरारम्भ हैं, ये कुछ करने को तो हैं नहीं, पाषाण की तरह खड़े रहने का ही इन का संकल्प हुआ है, ऐसे अवसर को देखकर शत्रुवों ने उन को गरम लोहे के आभूषण पहिनाए, किन्तु वह निज आनन्द में ही मग्न रहे। कभी कभी यह विपत्ति वरदान बन जाती है। राग की नींद में सोये हुए को जगाने वाली कोई समर्थ घटना है तो वह विपत्ति की घटना है। जहाँ विपत्ति नहीं आती है, जिस भव में विपत्ति का समागम नहीं होता है उस भव के जीव तुच्छ रहते हैं।

भोगवासियों की स्थिति — भोगभूमियां के स्त्री पुरुषों की क्या जिंदगी? भले ही कमाना धमाना नहीं पड़ता, माना कि तीव्र कषायों का प्रसंग नहीं आ रहा है, पर उन्हें मंदकषाय कहा जाय अथवा तीव्र कषाय कहा जाय, कैसी ही दृष्टि बना लो पर ऊपर की तीव्र कषाय न होने में वे अधिक दुर्गति में नहीं जाते और अन्तर में तीव्र कषाय रहने से विषयों की वाञ्छा आकांक्षा अनुरक्ति के कारण वे विशेष ऊपर भी नहीं जाते। उनका उत्पाद देवगति में अधिक से अधिक दूसरे स्वर्ग तक माना गया है। स्वर्गों के देवों की बात देखो – वे से तो यह नियम ही है कि उन्हें नीचे आकर जन्म लेना पड़ता है क्षेत्र की अपेक्षा अथवा लोक दृष्टि की अपेक्षा। देव पुन: देव नहीं बन सकते। यह सब क्या है, एक विपत्ति और सम्पत्ति का नाटक है। राग की नींद में सोये हुए पुरुषों को जगाने में समर्थ एक विपत्ति ही है। देखो गजकुमार, सुकौशल, पाण्डव आदि अनेक महापुरुष इन विपत्तियों से ही बहुत जल्द ही शिवपुर पहुंच गए या उत्कृष्ट बैकुण्ठ में पहुंच गए। बैकुण्ठ मायने है कल्पातीत देवों के स्थान। तो ऐसा अनुरूप और वस्त्राभरण अलंकार आदिक कोई डाल दिया जाय तो भी वह साधु अन्तर में निर्ग्रन्थ ही रहता है।

भावलिङ्ग में द्रव्यलिङ्ग का सहयोग – कहीं कहीं ग्रंथों में ऐसा भी लिखा मिलता है कि जैसे भरत जी ने अंतर्मुहूर्त में ही मोक्ष पाया और किसी कारण कोई-कोई लोग तो यह भी नहीं जानते कि भरत जी ने

भी निर्ग्रन्थ धर्म ग्रहण किया। उस स्थिति में अन्तर में आत्मस्वरूप की उपासना की तब मुक्त हुए क्योंकि थोड़े ही काल में उनके निर्वाण हुआ है। भावलिङ्ग रहित पुरुष को द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं हैं, यह बात सत्य है, और यह भी सत्य है कि भावलिङ्ग सहित पुरुष को यह द्रव्यलिङ्ग सहकारी कारण होता है। क्या कोई ऐसा भी सुना गया है कि ज्ञान -ज्ञान की उपासना से ही गृहस्थी में रहते हुए आभरण वस्त्रों के बीच भी मुक्त हो गए हों, किन्तु यह बात सही है कि द्रव्यलिङ्ग भी धारण करे, परन्तु जिसकी बुद्धि द्रव्यलिङ्ग में अटक गयी है, मैं साधु हूँ, मेरे को यों चलना चाहिए, यों बैठना चाहिए, लोगों में यों रहना चाहिए और मेरा लोग इस तरह सम्मान करें, ऐसी ही उन की स्थिति है और मैं इस तरह माना जाऊँ, यह मेरा पद है ऐसी जिन को द्रव्यलिङ्ग में ममता जगी है उनके लिए कहा जा रहा है कि यह द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं है। वस्तुस्वरूप के विरुद्ध जो पुरुष हठ बनाए हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं किन्तु मिथ्या वासना से रंगे हुए हैं।

मुक्तिमार्ग में शुद्ध तत्त्व के आश्रय की मुख्यता पर एक जिज्ञासा — भैया ! इन सब विवरणों का सार यह है कि जीव शुद्ध आत्मतत्त्व का आश्रय करे तो मुक्त होता है। अशुद्ध तत्त्व का, परद्रव्य का, परभाव का, आश्रय करे तो वहाँ मुक्ति नहीं होती है। यहाँ शंका यह हो सकती है कि छद्मस्थ जीव ही तो मोक्षमार्ग में लगा करते हैं और छद्मस्थ हैं अशुद्ध, तो वह शुद्धतत्त्व कहाँ से ले आएँ जिसकी वे उपासना करें? परमात्मा परद्रव्य है इस कारण इन के लिए अशुद्ध तत्त्व है। परद्रव्यरूप अशुद्ध तत्त्व की उपासना से मुक्ति नहीं बतायी है। हाँ, वस्तु की शुद्धि के अनुरूप अथवा अपने स्वभाव की स्मृति के लिए आदर्शरूप भगवंत है, अत: स्तवन तो युक्त है, किन्तु परद्रव्य और परभाव इस मुमुक्ष के लिए अशुद्ध तत्त्व है। शुद्ध तत्त्व तो इस मुमुक्ष के अपने अन्तर में बसा हुआ है। उसका ध्यान न लेकर जिज्ञासु शंका करता है कि छद्मस्थ जीव ही तो मोक्ष के मार्ग में लगता है और छद्मस्थ है वर्तमान में अशुद्ध, शुद्धपर्याय तो उस के नहीं है, राग है, द्वेष है, कषाय है, सभी तो चल रहे हैं, फिर उन को अवकाश कैसे मिले कि वे मुक्ति को पा सकें।

मुक्तिमार्ग में शुद्धतत्त्व के आश्रय की मुख्यता का समर्थन — उक्त जिज्ञासा का समाधान तीन प्रकार से किया जा सकता है। पहिला तो यह कि छद्मस्थ जीव कथञ्चित् शुद्ध है, कथञ्चित् अशुद्ध है। यह छद्मस्थ जीव यद्यपि केवल ज्ञानादिक शुद्धि के चरम विकास की अपेक्षा शुद्ध नहीं है तो भी मिथ्या मोह विपरीत आशय इन के दूर होने से और सम्यक्चारित्र की वृत्ति बनाने से यह शुद्ध है—एक बात।

शुद्ध तत्त्व के आश्रय की द्वितीय दृष्टि — दूसरी बात यह है कि छद्मस्थों का भी जो भेदविज्ञान है, आत्मज्ञान है, वह अभेदनय से आत्मस्वरूप ही तो है। इस कारण एक देश प्रकट हुए आत्माज्ञान के बल से इसकी सकल देश व्यक्त होने वाले केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। छोटी ही आग की चिनगारी से तो बड़े बड़े ढेर जल जाया करते हैं। कोई यों कहे कि अरे यह तो बहुत बड़ा ढेर है, इतने बड़े ढेर के बराबर के ढेर में आग मिले तो यह जले, तो अब ढूंढ़ो उतने ढेर की आग। अरे आग की छोटी चिंगारी ही इतने बड़े ढेर को आगरूप बनाने में समर्थ है, क्योंकि जो चीज बनायी जाती हैं उसकी ही जाति की यह चिनगारी है। इसी प्रकार जो केवलज्ञान बनता है, केवल शुद्ध निर्दोष ज्ञान, उसकी ही जाति का यह

शुद्ध सहजज्ञान यहाँ दृष्टि में आया है और यह ही आत्मस्वरूप उस सकल विमल केवलज्ञान को प्रकट करने में समर्थ है।

शुद्ध तत्त्व के आश्रय की तृतीय दृष्टि — तीसरी बात यहाँ यह जानिए कि जो यह उपदेश दिया गया है कि शुद्ध तत्त्व का आश्रय करने में मुक्ति होती है, वह शुद्ध तत्त्व न तो परद्रव्यरूप है, न परभावरूप है, किन्तु अपने आप का जो सहजस्वभाव है चैतन्यभाव, वह है शुद्ध तत्त्व। अशुद्ध अवस्था होने पर भी यह शुद्धतत्त्व स्वभावत: सहज ही आत्मा में प्रकाशमान् है, उसका आश्रय करने से उस शुद्धपर्याय की उत्पत्ति होती है। यदि यह ही एक हठ किया जाय कि क्षायोपशमिक ज्ञान तो आवरण सहित है, वह शुद्ध नहीं है तब फिर कदाचित् मुक्ति हो भी नहीं सकती।

मुक्तिसाधक भाव – देखिए जीव के 5 भावों में से औदयिक भाव तो मोक्ष का कारण है ही नहीं, क्योंकि वह तो कर्मविपाक का परिणाम है, वह तो संसारस्वरूप ही है। परिणामिक भाव भी मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि परिणामिक भाव समस्त जीवों में शाश्वत् विराजमान् है, फिर क्यों नहीं यह शुरू से मुक्त रह गया, अब तक क्यों यह संसार में पड़ा हुआ है? अब रहे तीन भाव, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव। यह भाव चूंकि सम्यग्दर्शन सहित है और उस पारिणामिक भाव की दृष्टि को लिए हुए है। इस कारण इन तीन भावों से मोक्ष होता है अर्थात् ये तीन भाव मोक्ष के कारण हैं शेष दो भावों में औदयिक भाव बंध का कारण है और पारिणामिक भाव निष्क्रिय है, वह किसी भी बात का कारण नहीं है।

भावश्रुत की महिमा — यद्यपि वहाँ भी यह तथ्य है कि ये औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिकभाव एक पारिणामिक भाव शुद्ध चेतनस्वभाव का आलंबन करने के कारण मोक्ष के कारण हैं, फिर भी पारिणामिक भाव तो स्वयं कारणकार्य के विकल्पों से दूर है। वह तो अनादि अनन्त अहेतुक सर्वथा अत:प्रकाशमान् है। इससे यह ही जान लेना कि क्षायोपशमिक होने पर भी यह श्रुतज्ञान मोक्ष का कारण होता है। यह भावश्रुत ही मोक्ष का मार्ग है। भावश्रुत ज्ञान निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व का परिज्ञान करता है, परिच्छेदन करता है। ज्ञान ही का नाम परिच्छेदन है, परन्तु परिच्छेदन में यह मर्म पड़ा हुआ है कि अन्य हेय तत्वों को जुदा कर के उपादेय तत्त्व में लेने की कला वाला यह परिज्ञान है। और वीतराग सम्यक्चारित्र के साथ रहने वाला शुद्ध आत्मतत्त्वरूप जो भाव श्रुत ज्ञान है, वह मोक्ष का कारण है। पारिणामिक भाव तो ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं है। इस कारण वह कार्यकारण भेद से रहित है।

तत्त्वसार — भैया ! बहुत विकल्पों के करने से क्या लाभ है? अब तो एक ही पारिणामिक भावस्वरूप चित्स्वभाव मात्र आत्मतत्त्व का परिज्ञान करो। इस आत्मतत्त्व को छोड़कर जगत में और कुछ उत्कृष्ट नहीं है। किस की शरण में जावोगे, जगत में सब धोखा मिलेगा। अमृतचंद्र जी सूरि इस समयसार की समाप्ति के बाद अंत में एक गाथा और कहेंगे। वह है अंतिम भाव की सूचना देने वाली गाथा। समयसार ग्रंथ तो यहाँ ही पूर्ण हो रहा है। इस समय अमृतचंद्रसूरि एक श्लोक में समाप्ति के समय कुछ प्रशंसा और कुछ विशाद को प्रकट करने वाला आशय दिखा रहे हैं। अच्छी चीज जब समाप्त होने को होती है तो मन में विशाद होता है। लो अच्छी बात अब समाप्त हो गयी। ऐसी मानो विशाद की सूचना दे रहे हों और इस ही के मर्म में इसकी महत्ता को भी बता देने वाली हो, ऐसी शिक्षा रूप बात इस श्लोक में कह रहे हैं।

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयात्।।

लोकनेत्रसमयसार- अब विज्ञानघन आनन्दमय स्वरूप को प्रत्यक्ष प्रकट कराते हुए यह जगत् की आंख जो कि अक्षय है अब पूर्णता को प्राप्त होती है। यह समयसार ग्रन्थ भव्य लोगों के लिए आंख की तरह है। जैसे आंख वाला पुरुष देखकर अपनी योग्य प्रवृत्ति कर के कार्य को सिद्ध कर लेता है, इसही प्रकार इस समयसार के वाच्य को उपयोग में उतारने वाले पारमार्थिक आंखों वाला पुरुष अपने अन्तर में ज्ञानवृत्तियों को प्रकट करता हुआ आनन्दमय सर्व सिद्धि प्राप्त कर लेता है। आज यह पूर्ण हो रहा है, इसका अर्थ यह है कि अब आचार्यदेव इस ग्रन्थ पर लिखने का विराम कर रहे हैं, अब यह ग्रंथ पूर्ण कर रहे हैं।

अभीष्टसमापनपर विषाद — शायद थाली में जब अच्छे रसगुल्ले परो से जा रहे हों और वे तीन चार हैं मानो, जब वह चौथा भी खाने लगते हैं तो समाप्त ही तो हो रहा है। शायद थोड़ा विषाद करने लगते हों कि अब खाने को नहीं बचा। जि से जो चीज अच्छी लगती है वह समाप्त हो जाय तो मन में कुछ खेद तो आता होगा । आचार्यदेव को खेद आया हो अथवा न आया हो, यह मैं नहीं जानता हूँ, किन्तु मुझे तो ऐसा मौका आया। करीब 22 वर्ष पहिले की बात है जब शुरू शुरू में समयसार ग्रन्थ को पढ़ने का मौका आया तो इस ग्रन्थ की समाप्ति में दो आंसू निकल ही आए, क्योंकि इस ग्रन्थ को पढ़ने से रात दिन प्रसन्नता रहा करे। अब यह ग्रन्थ पूर्ण हो रहा है। भले ही पूर्ण होने के बाद इसी ग्रन्थ को फिर शुरू किया जा सकता है। पर जो रुचि पहिले पढ़ने में होती है उतनी रुचि, उतना उस प्रकार का रस दुबारा पढ़ने में नहीं रहता। जैसे गरम तवे को एक बार चूल्हे से उठा कर नीचे रख देते हैं तो वह तवा फिर दूबारा चूल्हे में रखें तो तुरंत ही उसमें ताव नहीं आता।

समयसार की लोकनेत्रता व भव्यप्रयोजकता — यह जगत की आंख जो कि अक्षय है यह यों ही पूर्णता को नहीं प्राप्त हो रही है, किन्तु विज्ञानघन आनन्दस्वरूप अपने आत्मतत्त्व को यों प्रकट दिखाते हुए पूर्णता को प्राप्त होती है। यह समयसार कैसे तो जगत की आंख है और कैसे यह ज्ञानघन आनन्दमय निजतत्त्व को प्रत्यक्ष प्रकट करता हुआ अपना नीरद रखता है, इस मर्म को भी बताने के लिए और इस समयसार ग्रन्थ का जो मनोयोग पूर्वक अध्ययन करे उसको कैसा फल मिलता है? इस फल को बताने के लिए भी अब आचार्यदेव अंतिम गाथा में प्रशस्तिरूप अपना आशय व्यक्त करते है।

गाथा 415

जो समयपाहुडमिणं पडिऊणं अत्थतच्चदो णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो पावदि उत्तमं सोक्खं ।।415।।

समयसार के परिज्ञान का फल — जो भव्य पुरुष इस समयसार ग्रन्थ को अच्छे भावों से पढ़कर जानकर इसके अर्थ रूप ज्ञान मात्र अंतस्तत्त्व में ठहरेगा उस भव्य आत्मा के उत्तम सुख होगा। यह फलात्मक, आशीर्वादात्मक और भव्यात्मक वर्णन अंतिम प्रशस्ति में किया जा रहा है। यह समससारभूत

भगवान परमात्मा का प्रकाशक है। इस भगवान परमात्मतत्त्व के समस्त मर्म का प्रकाशक होने से यह समयसार ग्रन्थ स्वयं शब्द ब्रह्मस्वरूप है। कारणसमयसार तो अर्थब्रह्म है और यह समयसार ग्रन्थ शब्दब्रह्म है और इसका जाननहार पुरुष ज्ञानब्रह्म है। ऐसे इस शब्द ब्रह्म की तरह आचरण करने वाले इस समयसार ग्रन्थ का अध्ययन कर के समस्त विश्व के प्रकाश ने में समर्थ परमार्थभूत चित् प्रकाशरूप परमात्मा का निश्चय करते हुए अर्थ को और तत्त्व को जानकर इस ही एक अर्थभूत एक विज्ञानघन परमब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा में जो सर्व उपयोग कर के ठहरेगा वह शीघ्र उत्तम सुख को प्राप्त होगा।

तत्त्वबोधकला — वह उत्तम सुख अनाकुलतास्वरूप है। वह अनाकुलता परमानन्दरूप है। आकुलता न होना इतना ही मात्र वहाँ सुख नहीं है किन्तु परमानन्द से भरपूर ऐसा वहाँ उत्तम सुख है। जो जानेगा इस कारणसमयसार को तो उस के ज्ञान में ही ऐसी कला है कि साक्षात् उसी क्षण से वह चैतन्यैकरस बढ़ता हुआ जाता है अर्थात् उपयोग में चैतन्यरस का स्वाद वृद्धिंगत होता जाता है। उस एक चित्स्वभाव करि निर्भर निज स्वभाव की स्थिति निराकुल आत्मारूप होने से वह भगवान आत्मा परमानंद भाव को स्वयमेव स्वयमेव प्राप्त होगा।

समयप्राभृत की अन्वर्थता — इस ग्रन्थ का नाम है समयप्राभृत। अर्थात् समय नामक राजा से भेंट करने के लिए उपहार का काम देने वाला यह ग्रन्थराज है। अथवा उस समय नामक आत्मतत्त्व से भेंट करा देने वाला यह ग्रन्थराज है। समय नाम है सर्वद्रव्यों का। उसमें जो सारभूत है वह है आत्मतत्त्व, उसका नाम समयसार है और उस आत्मा के समस्त वर्णन में व्यापे हुए समय विस्तार में यह जो सारभूत है उसका नाम है समयसार अथवा समय नाम स्वयं आत्मा का है। सम और अय अर्थात् जो एक साथ स्वगुण पर्यायों से एकता के रूप से जाने, परिणमे उसे समय कहते हैं।

आत्मबल का उपयोग — जगत के प्राणियों ने अपने आप के बल का अब तक दुरुपयोग ही किया। यह बल क्या कम बल है? व्यवस्थाएँ बनाना, भोग भोगना, इतने विकल्प मचाना, ऐसे विभाव कर लेना, यह क्या आत्मबल की निशानी नहीं है, पर इसने आत्मबल का दुरुपयोग ही किया। विषयों के भावों से हटकर अपने आप के स्वभावरस में उपयोगी होता तो आत्मबल का भी सदुपयोग कहा जा सकता था। उस दुरुपयोग में अब तक जीव का कोई ठौर ठिकाना नहीं बन सका। यहाँ का भट का वहाँ पहुँचता हैं और भटक-भटक कर कहाँ जन्म लेता है वहाँ ही उस समागम का अनुरागी बनकर अपने आप का विस्मरण कर के हैरान होता है। इसकी हैरानी मिटाने का यदि कोई उपाय है तो वह वही स्वाधीन उपाय है कि स्वयं सुरक्षित, परिपूर्ण, निजतत्त्व का दर्शन करले तो सर्वभय मिट जायेंगे, सर्व संकट टल जायेंगे, पर ऐसा मोह में यह प्राणी कर नहीं पाता।

आत्मधर्म — आचार्यदेव कहते हैं कि इस समयसार को अर्थ से जानकर, पढ़कर और तत्त्व से जानकर समयसार में स्थित करो। केवल पाठ मात्र से वह आत्मज्योति नहीं जगती। हां पाठ करने से केवल श्रद्धा पुष्ट होती है और श्रद्धा के कारण ही पाठ करते हैं। वहाँ पुण्यबंध हो जाता है पर धर्मभाव तो निज सहजस्वभाव का स्पर्श हुए बिना जगता नहीं है। संसार से उद्धार होने का उपाय धर्म का पालन है। यह धर्म प्रथम तो ऐसा स्वरूप रखता है जो केवल आदर्श की चीज अथवा दर्शन का तत्त्व रहता है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं और आत्मा के स्वभाव को आत्मधर्म कहते हैं। वह धर्म है चित्स्वभाव । पर

कर्तृत्व भोक्तृत्व की कल्पना से रहित, बंध की दशावों से रहित अपने ही स्वभावरूप के कारण अपने ही स्वभावरूप यह है समयसार, कारणसमयसार चित्स्वभाव वह धर्म है। ऐसी धर्म की दृष्टि करने का भी नाम धर्म है। निश्चय से धर्म चित्स्वभाव है, और उस चित्स्वभाव की दृष्टि करना व्यवहार धर्म है और उस चित् स्वभाव की दृष्टि का लक्ष्य रखते हुए कमजोर अवस्था में अन्य धार्मिक क्रियाएँ करना यह व्यवहार धर्म का व्यवहार धर्म है। उन धार्मिक क्रियावों के करते हुए में इस चित्स्वभाव धर्म की याद न हो, इसका लक्ष्य न हो, केवल क्रियाकाण्डों पर दृष्टि रखकर उसने धर्म कर लिया, उसे व्यवहारधर्म भी नहीं कहते हैं। ऐसे पथ से यह मुमुक्षु निर्बाध मोक्षमार्ग में चलता है। इसका वर्णन इस समयसार अध्यात्मग्रन्थराज में भली प्रकार वर्णन किया गया है।

आचार्यदेव का परमोपकार — आचार्यदेव का हम सब पर यह कितना बड़ा परोपकार है, जिन्होंने अपना अनुभव कर के ऐसा अमूल्य भाव दिया है, तत्त्व लिखे हैं, जिन का अध्ययन और मनन कर के आज भी अनेक मुमुक्षु अपने उद्धार में लग रहे हैं। अन्य प्रकार उपकार करने वाले तो बहुत से हैं, यहाँ से उठाया वहाँ पटका, वहाँ से उठाया यहाँ पटका इस तरह के उपकार करने वाले तो लोक में भरे हुए हैं, पर ऐसा महोपकार, जो उठाए उठाए ही रहे, पटकने का कहीं नाम नहीं है, जो एक मुक्ति के ही मार्ग में ले जाय, ऐसा महोपकार कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा जो हुआ है हम उसका क्या अनुराग बता सकते हैं और उनका ऋण चुकाने की बात तो दूर ही रहो।

संतप्रवर कुन्दकुन्दाचार्यदेव की सरलता — कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अपनी प्रस्तावना में इतने हित मित प्रिय वचनों से सरलता प्रकट की है कि देखो मैं उस एकत्वविभक्त आत्मा को दिखाऊँगा, किन्तु यदि दिखा दूं तो अपने ही प्रमाण से प्रमाण करना और यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना कि आत्मा फात्मा कुछ नहीं है, कुछ आगे भी प्रयत्न करना। कुन्दकुन्दाचार्य देव समझाने में क्या चूक सकते हैं? यदि समझने वाला योग्य नहीं है तो समझाने में चूक ही जाएंगे। पर इस चूक में समझाने वाले की चूक मानी जाय या समझने वाले की मानी जाय। परंतु बड़े पुरुष अपने मुंह अपनी बड़ी बात नहीं किया करते। अब भी बड़े पुरुष किसी मामले में किसी को कुछ समझा रहे हों और वह न मानता हो, हठ करता हो, वह विरुद्ध बात ही पेश करता हो तो वह समझाने वाला कहता है कि भाई क्या करें? हम आप को बात बताने में असमर्थ हैं, हम समझा नहीं सके आप को और कोई अनुदार पुरुष यों न कहेगा। वह तो यों कहेगा कि तुम्हारी समझ में ही नहीं आता और ज्यादा अनुदार होगा तो यह कहेगा कि हम क्या करें, तुम्हारे दिमाग में भूस भरा है। यहाँ आचार्यदेव ने यह कहा है कि यदि मैं समझाने में चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना। समझाने में शब्द चूक सकते हैं, कुन्दकुन्दाचार्य देव का ज्ञान नहीं चूक सकता है।

परमोपकारी श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव की परमार्थत: भक्ति — कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कैसी पद्धति से बताया है, कैसी अनादिकालीन मोह रोग के रोगी की सुकुमार क्रिया की है, इन सब बातों को देखकर हम उन्हें अपने रक्षक बापू कहें, परमपिता कहें, जिन चाहे शब्दों से कह लें, उनका हम जीवों पर अपार दया भाव था और हम हैं उन की संतान जो ज्ञान के नाम पर, शास्त्र के नाम पर, विद्या के नाम पर अपनी चिढ़ रखते हैं। हम धर्म करने में बढ़ेंगे तो मात्र इतने में कि इतना महल खड़ा कर दे अथवा इतना उछाह बना दे, इतना बड़ा मेला बना दें, बस हमने धर्म कर लिया। कुन्दकुन्दाचार्य देव की हमने कहाँ भक्ति की, जिन

का नाम हम मूर्तियों में खोदा करते हैं, कुन्दकुन्दाचार्य आम्नाये और स्वाध्याय के नाम पर चाहे कोई ग्रन्थ को पढ़े तो वहाँ भी कुन्दकुन्दाचार्य इस रूप से नामस्मरण कर लेते हैं, पर कुन्दकुन्दाचार्यदेव की आम्नाय क्या यह है कि ज्ञान की ओर से आंख मींचे रहना और उनके नाम पर नहीं किन्तु अपने ही नाम के लिए बड़ा श्रम करना। जो प्रभु को नहीं जानता वह प्रभु का भक्त कैसा? जो ज्ञान की परख नहीं करता वह ज्ञान का भक्त कैसा ?

शरण का चुनाव — भैया ! ध्यान में लावो, इस जगत में कोई भी उद्धारक नहीं है। एक निज की सहज दृष्टि हो जाय तो यही उद्धार करने वाली प्रज्ञा भगवती है, एक निर्णय रखो मन में । ये छोटे-छोटे बालक जिन्हें कि स्वयं ज्ञान नहीं है, ये अन्य मोही जन जो विषय कषायों के पीछे मरे जा रहे हैं इन से उद्धार की आशा रखे हुए हैं। जो कुछ तन है, शरीर कर श्रम है वह इन मोहीजनों के लिए है इसका अर्थ क्या है? जितने विचार हैं कभी अधनींद में भी पड़े हैं, कहीं पड़े हैं तो उन परिजनों और बच्चों का ख्याल है, इसका अर्थ क्या है? जितना प्रेम वचन है, नम्रता का वचन है, नम जाना है वह परिजन और बच्चों के लिए ही हो, गम खाना और दो बातें सुन लेना, औरों की बात तो सूई जैसी चुभे, चाहे वह किसी भी हितरूप हो और स्वयं के परिजन चाहे विपत्ति पर विपत्ति ढाये, फिर भी गम खाना, धैर्य रखना, नम्रता करना, प्रेम वचन बोलना, इन सब का अर्थ क्या है? जितना धन कमाया है वह परिजन के लिए ही खर्च हो, उसे मानते हैं कि यह मेरे धन का सदुपयोग है। उसका तो अन्य जीवों के लिए या अन्य धार्मिक उपकार के लिए कुछ भी चित्त नहीं चाहता, इसका अर्थ क्या? बात स्पष्ट है कि मोह के रंग में इतने गहरे रंग हुए हैं कि मोही जीवों को ही शरण माना है। इसने भले मुख से कहते जाते कि मुझे देव, शास्त्र, गुरु, शरण हैं ये सब ऊपरी बातें हैं। भीतर की बात तो वह है और अन्तर में शरण उसे माना है जिस के लिए अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व समर्पण किया जाय।

कुन्दकुन्दप्रभु का आशीर्वाद — कुन्दकुन्दाचार्य देव बड़े राजघराने के पुरुष थे। समस्त समागम ऐश्वर्य से भरपूर थे। किन्तु बचपन से ही इन संगों में प्रेम नहीं जमा। और सुना जाता है कि 11-12 साल की ही आयु में उन्होंने निर्ग्रन्थ दीक्षा ली और बड़ी आत्मसाधना की। वे इस ग्रन्थ की अंतिम प्रशस्ति में कह रहे हैं। जो पुरुष इस समयसार को पढ़कर समय को जानकर इसके अर्थ में ठहरेगा उसको सच्चा सुख होगा, अतिन्द्रिय सुख प्राप्त होगा।

अतिन्द्रिय सुख का दिग्दर्शन — कोई मन में शंका करे कि अतिन्द्रिय सुख भी हुआ करता है क्या, तो इस लोक में ही देख लो-कोई पुरुष चिंता शब्दों से अलग होकर कहीं एकांत में बैठा है। वह न किसी विषय में प्रवृत्ति करता है, न किसी का स्मरण कर रहा है उस के पास जाकर कोई पूछता है कि तुम सुख से तो बैठे हो ना? तो वह यही बोलता है कि हाँ खूब सुख से बैठे हैं। तो यह अतीन्द्रिय सुख है। किसी भी विषय को वह नहीं भोग रहा है फिर भी सुख की झलक होती है। वहाँ इन्द्रियजन्य सांसरिक सुख नहीं है। सांसरिक सुख विषयों के व्यापार के भाव में ही देखा जाता है और पंचेन्द्रिय के व्यापार से रहित सुख को अतीन्द्रिय सुख कहते हैं। उन परमयोगीजनों को अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है और मुक्त आत्मावों का जो अतीन्द्रिय आनन्द है वह अनुमानगम्य है तथा आगमगम्य है। होता है अतीन्द्रिय सुख,

पर स्वयं में अतीन्द्रिय सुख की पद्धति का आनन्द कोई जान सके तो उसे स्पष्ट ज्ञान हो सकता है कि है अतीन्द्रिय सुख।

अतीन्द्रिय आनन्द की निरुपमता — भैया ! अतीन्द्रिय सुख की उपमा भी क्या दी जाय? अधिक से अधिक यह कह सकेंगे कि जितने लोक में उत्तम देव और मनुष्य हैं, जितने पहिले हुए थे, जितने आगे होंगे, इन पंचेन्द्रिय के सुख के भोगने वाले जितने जीव हैं, उन सब का मिलाकर जो सुख हो सकता हो उससे भी अनन्तगुणा सुख वह अतीन्द्रिय स्वभाविक सुख है। यह भी कहना पड़ा है या कह दिया जाता है। जिसकी जाति भी न्यारी है उसे अतीन्द्रिय सुख का गुणा देकर उसकी बात करना कोई युक्त नहीं है, पर यह जताने के लिए कि तीन लोक के पुण्यवंतों का जितना भी सुख है इन्द्रियगम्य और जितना अनन्त काल में हुआ है और भावी अनन्तकाल में जितने होंगे, इन सर्व सुखों को मिला जुलाकर उस आनन्द की सीमा को नहीं पा सकते हैं। ऐसे अतीन्द्रिय सुख का कारणभूत यह समयसार ग्रन्थ का अध्ययन और ज्ञान है।

ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की भावना — भैया ! नयों का वर्णन कर के उस के आधार से इस आत्मतत्त्व को जानकर फिर व्यवहारनय को छोड़कर निश्चयनय का आलम्बन कर के फिर निश्चयनय को भी छोड़कर केवल अर्थानुभवनरूप वृत्ति से यह परमात्मतत्त्व दृष्ट होता है। ज्ञानानुभूति ही सर्वसंकटों से मुक्ति पाने का उपाय है, ऐसा जानकर हम सब इस ग्रन्थराज के अध्ययन में ज्ञान में और मर्म के चिंतन में लगें और उन्हीं क्रियावों के बीच विकल्प तोड़कर निर्विकल्प चिदानंदस्वरूप इस अंतस्तत्व के दर्शन का आनन्द भोगा करें। इस प्रकार यह समयसार ग्रन्थ अब पूर्ण होने को है। उस के अंत में अब अमृतचंद्र जी सूरि इस समयसार में जो कुछ वर्णन किया गया है उसको एक शब्द में कहते हैं। इस प्रकार आत्मा का तत्त्व ज्ञानमात्र अवस्थित हुआ ज्ञानमात्र की पद्धति से दर्शन करो तो आत्मदर्शन होता है। यह ज्ञानमात्र तत्त्व अखण्ड है, एक है, अचल है, और अपने ही ज्ञानभाव द्वारा सम्वेदन में आने वाला है, सर्वप्रकार की बाधावों से रहित है, ऐसे इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की ही निरन्तर सेवा करो।

अहंप्रत्यय — प्रत्येक जीव अपने आप को किसी न किसी रूप में अनुभव कर रहा है। चाहे स्थावर भी हो, हम नहीं बता सकते हैं उनके बारे में कि वे अपने आप को किस रूप अनुभव करते हैं, पर करते हैं क्योंकि अहंप्रत्ययरूप से यदि अनुभव न हो, उनके वचनों से नहीं, किन्तु भावों से तो उन्हें दुःख हो ही नहीं सकता। कीड़े मकौड़े यह भी अपने को किसी न किसी रूप मानने का अनुभव रखते हैं। मनुष्य में तो बात बिल्कुल स्पष्ट है कि मनुष्य अपने को कुछ न कुछ रूप मान रहे हैं। नींद में सोये हुए किन्हीं का नाम लेकर पुकारे तो वे जल्दी बोल देते हैं। दूसरे का नाम लेकर पुकारें तो इतनी जल्दी नहीं जग पाते हैं। कुछ ऐसी प्राकृतिकता है कि यह जीव अपने को किसी न किसी रूप अनुभव किये हुए है। सुख और दुख का फैसला इस ही बुनियाद पर है हम अपने को किस रूप माना करें कि दुःखी होते रहें और किस रूप माना करें कि आनन्द आता रहे? केवल अपने को किसी रूप मानने पर ही यह सुख दुःख आनन्द का निर्णय है।

ज्ञानकला पर सुख, दुःख व आनन्द की निर्भरता — भैया ! आनन्द पाना कितना सस्ता है और दुःख भोगना भी कितना सस्ता है? न बाह्य पदार्थों के अधीन दुःख है और न बाह्य पदार्थों के अधीन आनन्द है।

बैठे ही बैठे बिना कुछ श्रम किये केवल अन्तर में अपने आप को मानने भर का ही काम है कि दु:ख के अनुकूल मानते हो तो तुरन्त वही दु:ख ले लो और आनन्द के अनुरूप मानना हो तो तुरंत वहाँ आनन्द ले लो। धर्म के लिये बड़ी-बड़ी साधनाएँ करनी होती हैं। सारा जीवन साधना में व्यतीत हो जाता है। उस साधना में करना क्या है, इतना ही भर काम है। मैं अपने को किस रूप मानूँ कि आनन्द मिले और उस ही रूप मानते रहें, जानते रहें तो आनन्द प्राप्त हो।

सामान्य तत्त्व की महिमा — लोक में विशेष तत्त्व की बड़ी महिमा है और धर्म में सामान्य तत्त्व की बड़ी महिमा है। लौकिक परिस्थितियों में जो जितना विशिष्ट है वह उतना लोक में काम चलाने वाला होता है। लोग भी विशिष्टता बतलाकर उसकी प्रशंसा किया करते हैं—यह डॉक्टर है, यह दार्शनिक है, यह ज्योतिषी है, यह एम.ए. पास है, यह मिनिस्टर है ऐसी विशेषता जानने से उनके लौकिक कार्य बढ़ते हैं और धर्ममार्ग में जितनी विशेषता की होली कर दी जाय और सामान्य में घुल मिलकर न कुछ जैसा रह जाय, समझो उतनी ही अधिक धर्म में प्रगति है। अपने को किस रूप मानें कि आनन्द हो, इस विषय को कहा जा रहा है।

विशेष और सामान्यरूप अनुभव के परिणाम — कुछ अनुभव से देख लो कि कुटुम्ब वाले वैभव वाले अनेक प्रकार से अपने को मानने पर आनन्द हुआ क्या? यह जीव मानने के सिवाय करता कुछ नहीं है। मानने के बाद फिर जो कुछ होता है वह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध पूर्वक होता है विशेषरूप से अपने को मानने पर अवश्य वहाँ क्षोभ होता है। विशेषरूप से हटकर एक स्वभाव सामान्य पर पहुंचे तो वहाँ आकुलता नहीं रहती।

विशेषरूप अनुभवने में आकुलता की प्राकृतिकता — जैसा यह माना कि मैं गृहस्थ हूँ, इतने बाल बच्चों वाला हूँ तो ऐसी मान्यता में करना क्या पड़ेगा? उन की खुशामद, पालन, आजीविका का व रागद्वेष के अनेक प्रसंग। किसी माना कि मैं तो मनुष्य हूँ, तो मनुष्य मानने पर करना क्या पड़ेगा? मनुष्य जैसा व्यवहार। उसमें भी अनेक उलझने हैं। इसकी खबर लो उसके दु:ख में शामिल हो, इसको समझावो, वहाँ प्रेम करो, झगड़ा शान्त करावो पचासों विडम्बनाएँ करनी पड़ती हैं और कोई माने कि मैं साधु हूँ तो वहाँ भी क्या करना पड़ेगा? पचासों विडम्बनाएँ। ये लोग गृहस्थ हैं, हम साधु हैं, यह पूजने वाले हैं, हम पूजने वाले हैं, यह कमी क्यों रखते हैं? हमारा आर्डर ये क्यों नहीं स्वीकार करते है? लो विकल्पों के मारे पचासों आफतें लें ली। जब तक अपने को किसी न किसी विशेषरूप अनुभव किया जायेगा तब तक आकुलता होना प्राकृतिक बात है।

सामान्यरूप अनुभवने में सहज अनाकुलता — अच्छा लो अन्तर में साधु की मान्यता अपने में नहीं रही कि मैं साधु हूँ, मुझे केवल आत्मसाधना ही करनी है, ठीक है, पर साधुत्व की श्रद्धा है तो वहाँ अन्त:साधना नहीं बनी। वह भी विशेष तत्त्व है अपने को विशेषरूप जब तक अनुभवेगा यह आत्मा, तब तक क्षोभ रहेगा इसको। तब फिर और गहरे चलो। न अपने को गृहस्थ मानना, न अपने को मनुष्य मानना, न अपने को साधु मानना, न अपने को किसी का साधक मानना। जब इससे और गहरे उतरते हैं तो यह अपने को ज्ञानमात्र अनुभवते हैं। मैं केवल जाननस्वरूप हूँ। आत्मा का सहजस्वरूप है, बेलाग—

बेदाग। अपने ही स्वभाव से जो कुछ भी आत्मस्वरूप है उस स्वरूप की दृष्टि रखकर मात्र ज्ञानमात्र चित्स्वभावमय अपने को अनुभवे तो वहाँ कोई आकुलता नहीं रहती है।

किसी रूप की स्वीकारता में अन्य स्वरूप का विस्मरण — बच्चे लोग खेल में घोड़ा बनते फिरते, अच्छा लो बन गये घोड़े। अब एक लड़ का घुटना और पैर जमीन पर रखते हुए बाहर से आ रहा है एक बाहर को जा रहा है। किन्हीं लड़कों ने मान लिया कि मैं घोड़ा हूँ और इतने अधिक आशय में आ गए कि वे भूल गए कि हम लड़ के हैं। पास में आए, मुँह में मुँह मिलाया, हिनहिनाया, टाप मारा या काट खाया और आपस में बड़ी लड़ाई हो गयी। सो भैया ! जब जिस रूप अपने को मानने में लग गये तब फिर ध्यान में नहीं रहता है।

भावस्वीकारता के अनुरूप प्रवृत्ति — ब्रह्मगुलाल ने जब सिंह का रूप धारण किया तब कैसे ही बना हो पर यह भाव तो रखना ही होगा कि मैं सिंह हूँ, उस कल्पना में ब्रह्मगुलाल हूँ ऐसा भूल गया होगा। जब राजपुत्र ने जो थोड़ासा अपशब्द बोला कि एकदम पंजा मारकर गिरा दिया। यहीं देख लो। मान लो कल तक बच्ची की शादी नहीं हुई, रात को ही भांवर पड़ी तो सुबह देखो तो सब लट उसे अपने आप आ गए। घूँघट मारकर चले, सिर नीचा कर के चले, सिमट-सिमट कर चलती, छुप-छुपकर चलती, स्वसुर दिख गया तो किवाड़ में छिप जाय तो उसने अपने को मान लिया कि मैं वधू हूँ। इस मान्यता से ही ये लट के उसे अपने आप आ गए। सो आप भी सोचो कि अपने को कैसा माना जाय कि मैं आनन्दस्वरूप रहूं।

यथार्थ आत्मभावना का प्रसाद — भैया ! यह बताने की तो जरूरत है नहीं कि अपने को कैसा माना जाय कि मैं दु:खी होऊँ। वह तो सब विदित है, मान ही रहा है। अपने को ज्ञानमात्र ही स्मरण रखे तो वहाँ आनन्द प्रकट होगा। इस ज्ञानमात्र की मान्यता में देह का ध्यान न रहेगा, और कोई पंचेन्द्रिय को संयत कर के विश्राम से बैठ जाय तो कुछ काल तो आप को भी यह पता न रहेगा कि यह शरीर भी है क्या? अच्छा जावो आँखे मींच कर न पैर पर पैर छूते हुए की मुद्रा में हो, न हाथ पर हाथ रखे हो, पैर भी छुट्टा हाथ भी छुट्टा और आँख मींचकर बैठे हो तो आपको भी पता न रहेगा कि देह भी है यह और जिसकी अन्तर में आत्मसाधना चलती है उसको तो एक आत्मभावना ही रहती है। केवल एक ज्ञान ज्योति जानन ही जाननमात्र है।

जानन के जानन में एकरसता — उपासक जानन के जानन में ऐसा घुल जाता है जैसा पानी में नमक की डली पड़ जाय तो नमक की डली स्वतंत्र कहीं नहीं रह पाती है। पानी में घुलकर एकरस हो जाती है। यों ही यह डली के माफिक उपयोग जो बाह्य जगहों में रहता है तो डली के माफिक जुदा जुदा बना रहता है। जैसे कि नमक की डली तेल में डाल दे तो नहीं घुलती है, ज्यों की त्यों बनी रहती है, यों ही यह उपयोग बाह्य पदार्थों को जानता है तो वहाँ भी उपयोग घुलता नहीं है, न्यारी डली के माफिक वहीं पड़ा रहता है। जब यह उपयोग जाननस्वरूप जलनिधि में प्रवेश करे तो उस जाननस्वरूप में ऐसा घुल जाता है कि वहाँ ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान की पृथक् स्थिति नहीं रहती है।

विशेषपरिहार और सामान्योपादान — सुख प्राप्त करने के लिए इस जीव ने अनेक यत्न किये, मगर वे सब विपरीत हुए। इन अनन्त जीवों में से दो चार जीवों को छांट लिये कि ये मेरे हैं और तन, मन,

धन, वचन सब कुछ केवल चार जीवों के लिए ही है, ऐसा निर्णय बनाए रखना और ऐसा ही करना, यह क्या आप पर कम विपत्ति है? जो लोग संयोग में हर्ष मानते हैं, फूले नहीं समाते हैं, अपने को पुण्यवान समझते हैं वियोग तो उनका नियम से होगा ही। वियोग होने पर जो 20 वर्ष सुख भोगा है उसकी कसर 5 मिनट में निकल जाती है। क्या समागम मिला? कोई अपूर्व चीज है क्या? मायामय जीव पदार्थ जिस का कुछ सम्बन्ध नहीं, जिस पर कुछ अधिकार नहीं उसमें अपना स्वामित्व माना जा रहा है। फल तो खुद को ही भोगना होगा। सर्व विशेष रूप अनुभव का परित्याग कर के अपने आप को एक ज्ञान सामान्यरूप अनुभव करना है।

मैं क्या हूं? — किसी ने पूछा कि तुम कौन हो, तो उसका उत्तर क्या निकलेगा? क्या निकलना चाहिए? उत्तर देने की भी जरूरत नहीं है। अपने आप में अपने को उत्तर दे देना चाहिए। तुम कौन हो? कोई कहेगा कि मैं अमुक चंद हूँ, कोई कहेगा कि मैं गृहस्थ हूँ, प्रोफेसर हूँ, डाक्टर हूँ, मिनिस्टर हूँ, कोई कहेगा कि मैं धर्मात्मा हूँ। पचासों तरह के उत्तर मिलेंगे पर यह भी उत्तर मिले किसी का तो देख लीजिए। मैं वह हूँ जो सब हैं, मैं हूँ एक चित्स्वभावमात्र चैतन्यपदार्थ। यों अपने आप में सामान्यरूप अनुभव हो तो वहाँ आकुलता का क्या काम है ?

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम। विष्णु बुद्ध हरि जिस के नाम।।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम। आकुलता का फिर क्या काम।।

आत्मा के ये नाम हैं — जिन—जो कर्म शत्रु को जीत ले, शिव—जो स्वभावत: कल्याणमय और आनन्दघन है। ईश्वर—जो अपने सहज ऐश्वर्य का स्वामी है। ब्रह्मा—जो अपनी समस्त सृष्टियां रचने वाला हो। राम—जिस स्वरूप में बड़े योगीजन रमण किया करते हैं। विष्णु—जो लोक और अलोक में सर्वत्र व्यापता है अथवा व्यापने की प्रकृति रखता है। बुद्ध—जो ज्ञान के रस हैं। हरि—जो पापकर्मों को हर लेता है, दूर कर देता है। हर—जो भाव कर्म जैसे अन्तरमल को भी धो डालता है, ऐसे ये जिस आत्मा के नाम हैं, यदि मैं अन्यविषयक राग छोड़कर इस अपने स्थान में तेज में पहुंच जाऊँ, तो फिर वहाँ आकुलता का क्या काम रह सकता है ?

धर्मपालन की शीघ्रता — भैया ! मोह ममता में पूरा कभी न पड़ेगा, अर्थात् अमूल्य दिन रात क्षण ये बिल्कुल व्यर्थ ही गुजर रहे हैं। मरकर छोड़ दिया तो क्या छोड़ा, जीवन में ही उन को छोड़ दे तो सही पूरा पड़े। विपत्ति आने पर धर्म की कसम खायी तो क्या खायी? अरे जब बल है, रोग ने नहीं घेरा है, बुढ़ापा नहीं आया है तब तक धर्म कर लें। जिसने अपनी युवावस्था में धर्मसाधन में चित्त दिया है उसकी वृद्धावस्था भी सुवासित रह सकती है। धर्म वह यही है कि अपने को अन्यरूप न मानकर ज्ञानमात्र अनुभव करना।

आत्मतत्त्व की अखण्डता — कैसा है यह ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्त्व? अखण्ड है, न द्रव्यदृष्टि से इसका खण्डन है, न क्षेत्रदृष्टि से इसका खण्डन है, न कालदृष्टि से और न भावदृष्टि से इसका खण्डन है। यह तो एक निज सहजस्वरूप मात्र है, अखण्ड ज्ञानमात्र है। हम आप जो ज्ञान किया करते है, घर जान लिया, दुकान जान लिया, इतिहास भूगोल ये सब ज्ञान खण्ड ज्ञान हैं, अखण्ड ज्ञान नहीं हैं, और इसी कारण ये विवाद के कारण बन जाते हैं। ज्ञानस्वभाव मात्र अपने को अनुभवना, यहाँ अखण्ड पद्धति से ही अनुभव

किया, वहाँ अखण्ड जो ज्ञानमात्र ज्ञात हुई दशा में यह ज्ञानमात्र हूँ और एक हूँ, मैं नाना नहीं। गिरगिट की तरह रंग नहीं बदलता हूँ। अनादि अनन्त एक चित्स्वभावमात्र हूँ, ऐसा अपने आप को अनुभव करे वहाँ क्लेश काहे का ?

आत्मतत्त्व की अचलता — यह मैं ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व अचल हूँ। पर्यायमुखेन बड़ी चलायमानता है, इतने पर भी पर्याय की सेना के भीतर उस सेना को चीरफाड़ कर वेगपूर्वक अन्तरगृह में प्रवेश करे तो इसे विदित होगा, अहो यह तो मैं अचल हूँ, न कभी इस चित्स्वभाव से चलित हो स का और न हो सकूँगा। द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा है। यदि कोई कभी स्वरूप से चलित हो जाता है तो आज यह दुनिया देखने को न मिलती। इसका लोप हो जाता, शून्य हो जाता। है सब कुछ, यही इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ और अचल हूँ।

अन्तस्तत्त्व की स्वसंवेद्यता — यह मैं ज्ञानमात्र इस ज्ञानमात्र स्व के द्वारा ही ज्ञान में आ सकने वाला हूँ। जानने वाला भी ज्ञान और जानने का साधन भी ज्ञान और जो जाना जाने वाला है वह भी ज्ञान और किसलिए जानना है वह प्रयोजन भी ज्ञान और कहाँ जानना है वह भी ज्ञान, ऐसा जहाँ ज्ञान ही ज्ञान का चारों और उजेला हो, ऐसे ज्ञानमात्र अनुभव की दशा में इस जीव को भी अलौकिक आनन्द प्रकट होता है जो भव-भव के संचित कर्मों को क्षण मात्र में ध्वस्त कर देता है। अपने जीवन का एक निर्णय बनाओ मोह में जिन्दगी नहीं बिताना है। मोह से अब तक रुलते आए, इसमें सार तत्त्व कुछ न निकलेगा। मोहरहित, रागद्वेषरहित सर्वविकल्प चिंताजालों से परे ज्ञानमात्र निज सहज स्वरूपमात्र अपने आप को अनुभवना, यही है सर्वसंकटों से दूर होने का उपाय।

अन्तस्तत्त्व की अबाधितता — यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा स्वसम्वेद्य हूँ और अबाधित हूँ, दिया की ज्योति हवा चलने से बुझ जायेगी बुझ जावे। मैं दिया की ज्योति की तरह लचड़ ज्योति वाला नहीं हूँ, यह मैं ज्ञानभाव अबाधित हूँ। अनन्त कार्माणवर्गणाएँ इसमें धावा बोलें तब भी इस स्वरूप में बाधा नहीं आती। यह जीव यद्यपि बड़े वेग से यत्र तत्र जन्म मरण करता रहता है, इतने पर भी इस आत्मा में वह स्वभाव अबाधित है। इस अबाधित स्वभाव को जो संभाल पाया, वह अब परिणति में भी अबाधित बन जाता है।

'अखण्ड, अचल, स्वसंवेद्य, अबाधित यह मैं ज्ञानज्योतिमात्र हूँ।' ऐसा अनुभव करना, सो धर्म का पालन है। इस धर्म के प्रताप से सर्वसंकटों से मुक्ति मिलेगी, मोक्ष प्राप्त होगा।

♥इति समयसार प्रवचन पन्द्रहवां भाग समाप्त ♥